वैदिक सन्ध्या

मुक्ति प्राप्तिकेलिये

(आत्मा और परमात्माके बीच सन्धि-पत्र)

लेखक—

स्वामी योगानन्द सरस्वती

आर्य संन्यासी ।

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीका
देशके नवयुवकोंके लिये
एक शुभ-संदे

वैदिक सन्ध्या

के रूपमें

(जीवात्मा और परमात्माकेबीच एक सन्धि-पत्र)

इस वैदिक सन्ध्यारूपी सन्धि-पत्रके नियमानुकूल ही जीवात्मा परमानन्द सुख-भोगका आनन्द उठासकताहै।

लेखक—
स्वामी योगानन्द सरस्वती
वैदिक मिशनरी

प्रथमवार १९५९ मूल्य ३)

लेखक—
स्वामी योगानन्द सरस्वती
वैदिक मिशनरी।

प्रकाशक—
पं० हजारीलाल शर्मा,
मुहल्ला वीरबल, अलवर।

याद रखिये—

राष्ट्रोन्नतिकेलिये धर्म और विज्ञान दोनों ही अनिवार्य हैं; परन्तु धर्म और विज्ञानकी सत्पथप्रदर्शिका एकमात्र वैदिक सन्ध्या ही है।

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती
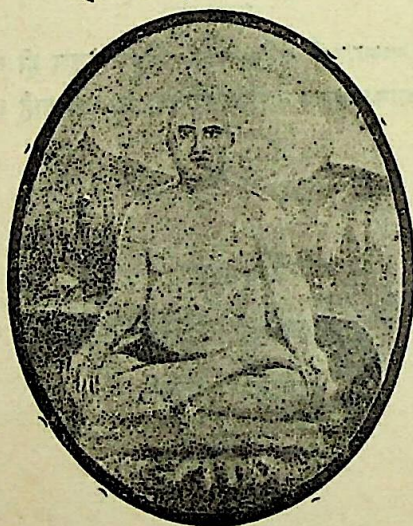
के चरणारविन्दोंमें सादर समर्पित

पुस्तकें मिलनेका पता—
पं० हजारीलाल शर्मा, मुहल्ला वीरबल, अलवर (राजस्थान)
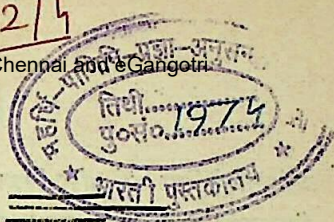
वैदिक सन्ध्याके अन्तर्गत

वर्तमान विश्व-परिस्थितियोंमें

ईश्वर, धर्म और विज्ञानका स्थान

आधुनिक नवीन आविष्कारोंने वैज्ञानिकोंके विचारोंको ईश्वर और धर्मसे किल्कुल वदलडाला है। उनके मस्तिष्कमें यह समागयाहै कि ईश्वर और धर्म दोनों ही सभ्य संसारमें रहने योग्य नहीं। उनके विचारोंमें ईश्वरकी सत्ताको स्वीकारकर अपने हाथों ही अपने पैरोंमें बेड़ियाँ डालना है और धर्मका अपनानातो लडाई दंगोंका मोललेना है; इसलिये यदि ईश्वर कहीं है, तो उसका आधुनिक विश्वसे अस्तित्व उठादेना चाहिये और वर्तमान सभ्य मानव-समाजका यह प्रथम कर्तव्य है कि विश्व-शान्तिकेलिये ईश्वरका गला घोट, ऐसे धर्मको सदैवकेलिये तिलाञ्जलि देदेनी चाहिये। ऐसे वैज्ञानिकोंने कभी यह विचारनेका कष्ट नहीं किया कि विज्ञान और धर्मका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? विज्ञान यदि किसी देशकी आर्थिक स्थिति का सुसार कर सकता है, तो धर्म उस आर्थिक उन्नतिका सदुपयोग करना सिखाताहै। धर्म और विज्ञान एक दूसरे के विरुद्ध नहीं और न एक दूसरेकी उपेक्षा करसकतेहैं, बल्कि एकदूसरेके सहायक हैं। धर्मके अभावमें विज्ञानद्वारा देशकी आर्थिक उन्नतिसे लोगोंमें **'अहंकार, भिष्टाचार, दंभ, स्वार्थ और स्वेच्छाचार'** बल पकड़ जायाकरताहै। धर्मही मनुष्योंमें **'ज्ञान, नियम और परहित चिन्तनकी शिक्षा देकर'** उस आर्थिक उन्नतिका सदुपयोगकरना सिखायाकरताहै। ईश्वरोपासनासे ही मनुष्योंमें धर्मरूपी सद्भावनाकी जाग्रति हुआकरतीहै। जिस देशके मनुष्योंमें ईश्वरकेप्रति अश्रद्धा होजातीहै, उस देशका ब्रह्मतेज नष्ट होजाताहै। ब्रह्म-तेजके नष्ट होतेही उस देशका क्षात्र-तेज दूषित हो आसुरी वृत्तिमें परिवर्तित होजाया करताहै। आसुरी वृत्ति मनुष्यको पशुतुल्य बनादिया करतीहै। किसी

देशोन्नतिकेलिये धर्म और विज्ञान दोनों ही अनिवार्य हैं, परन्तु धर्म और विज्ञानको सीमान्तर्गत तथा मर्यादान्तर्गत रखनेवाली केवल ईश्वर-सत्ता ही है। मावन-जीवनकी सफलताकेलिये **'विज्ञान, धर्म और ईश्वर'** तीनों ही परमावश्यक हैं।

जब किसी सिद्धान्तपर — **'क्यों और किसप्रकार ?'** — के प्रश्न उठखड़ेहोतेहैं, तब किस प्रकारसे ? का उत्तर तो विज्ञान दियाकरताहै और क्योंका धर्म। क्योंका उत्तर विज्ञान नहीं देसकता। इससे स्पष्ट है कि विज्ञान बिना धर्मका सहारालिये और ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार किये अधूरा है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थका गुणतो उस पदार्थका धर्म हुआकरताहै, जो उस पदार्थसे कभी पृथक् नहींहोता और कार्य्य-कारण भावसे उस पदार्थका रचयिता ईश्वरही है, जिसे उसके कार्य्यसे पृथक् नहीं कियाजासकता, क्योंकि कार्य्यसे कारणका और कारणसे कार्य्यका घनिष्ट सम्बन्ध रहताहै।

ईश्वररूप कारणका यह सारा जगत्ही **कार्य्य** है और मनुष्य इस जगत्का एक लघुतम अंग है। वैदिक संस्कृतिमें — **'धृति और निवृत्ति'** दो और हैं। किसी पदार्थका **'गुण'** जहाँ उसका **'धर्म'** है, उस गुणको धारण रखना **'धृत्ति'** है और अन्तमें उस पदार्थका अपने कारणमेंही **'लय'** होजाना — **'निवृत्ति'** है। **'प्रविति, धृति और निवृत्ति'** तीनोंही बातों का प्रत्येक पदार्थकेसाथ सम्बन्ध है। मनुष्य संसारमें क्यों आया ? उसे यहाँ क्या करना है ? और अन्तमें इससे कैसे मुक्त होसकताहै ? यह समस्त **ईश्वरीय ज्ञान और विज्ञान** जिस विधानानुसार है, वही जीवात्मा और परमात्माकेबीच एक **'सन्धि-पत्र'** है। इस सन्धि-पत्रकी पूर्तिकी शैलीका नाम ही — **'सन्ध्या'** —है, जिसे प्रत्येक व्यक्तिको अपने कल्याणार्थ जीवन का अंग बनालेना चाहिये, ताकि उसका लौकिक जीवन ही परलौकिक जीवन का साधन बनजाय।

विनीत—लेखक।

वैदिक सन्ध्या

जीवात्माका अपने सखा परमात्मासे पुनः मिलापकी शैलीका सरलमार्ग वेदविहित नियमोंको अपने दैनिक व्यावहारिक जीवनमें क्रियान्वित करनेमेंही निहित है। इसीका नाम—**'वैदिक सन्ध्या'**—है, जो मनुष्यके लौकिक जीवनकोही परलौकिक जीवनका साधन बना उसे जीवन-मुक्त अवस्थातक पहुँचादिया करतीहै।

याद रहे

मानव-जीवनमें वैदिक सन्ध्याका प्रयोग ही एक सफल-योग है।

सन्ध्या शब्द बना है —**'सन्धि'**—से, जिसका अर्थ होताहै —**'मेल या योग'**—। योग सदैव सजातीय तत्त्वोंमेंही सम्भव हुआकरताहै। जीव-तत्त्व और परमात्मा-तत्त्व दोनोंही सजातीय चेतन-तत्त्व हैं। जीवका प्रकृतिसे योग होजानेकेकारण परमात्मासे वियोग होरहाहै। उस जीवका परमात्मासे पुनः **योग** होना वेदविहित सिद्धान्तोंपर ही आश्रित है, जिन्हें सरलातिसरल रीतिसे महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीने अपने अनुभवके आधारपर विश्वके कल्याणार्थ मानव-जातिके सामने – **'वैदिक सन्ध्या'**— के रूपमें उपस्थित कियेहैं। उस सन्ध्याका जीवनमें व्यावहारिक प्रयोग करना ही जीवात्माको उसके परमसखा परमात्मासे पुनः मिलानेवाला एक सफल-साधन है।

सन्ध्या-विधि

जीवात्मा और परमात्माकेबीच 'सन्धि-पत्र-पूर्ति' के नियम

जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही चेतन-तत्त्व हैं; परन्तु परमात्माकी शक्ति जहाँ असीम है, वहाँ जीवात्माकी शक्ति सीमाबद्ध; इसीलिये जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ । जीवात्माकी अल्पज्ञतासेही मानव-शरीर और उसके अन्तर्गत अन्तःकरणकी उत्पत्ति हुईहै । मानव शरीरान्तर्गत **अन्तःकरण** ही जीवात्मा और परमात्माके **संयोग और वियोगका** कारण है । अन्तःकरणकी अशुद्धि रहनेतक जीमात्माका परमात्मासे कभी संगोग नहीं होता; या यों कहिये कि सदैव वियोग ही रहाकरताहै, परन्तु अन्तःकरणकी शुद्धि होतेही पुनः दोनोंमें संयोग (मेल) होजाया करताहै ।

अन्तःकरणकी शुद्धि हुआकरतीहै मनकेद्वारा संकल्प-विकल्पोंके त्याग करनेपर । मन अपने संकल्प-विकल्पोंका त्याग इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्याहारके पालनकरनेपर कियाकरताहै । प्रत्याहारको बल मिला करताहै स्वार्थभावके त्याग और परमार्थभावके ग्रहणकरनेपर । परमार्थभावकी जाग्रति हुआकरतीहै ईश्वर-भजनसे । ईश्वर-भजनमें प्रवृत्ति हुआकरतीहै ईश्वरको अपने व्यावहारिक जीवनमें — **'सर्वव्यापी, शक्तिशाली और न्यायकारी'** रूपसे माननेपर । फिर इसप्रकारका निरन्तर जीवनही मनुष्यको **'आन्तरिक सदाचारी, परोपकारी और छलकपटसे रहित'** बना उसे जीवन-मुक्त अवस्थातक पहुँचादिया करताहै ।

मनुष्यकी **'जीवन-मुक्त अवस्था'** को ही **'जीवभावसे आत्मभावमें'** परिवर्तितहोना कहाहै और यही जीवात्माका परमात्माकेसाथ एक सच्चा संयोग भी है । ऐसे साधककोही शरीर-त्यागनेपर — **'कैवल्यपद'** — प्राप्ति हुआकरतीहै । यह साधन-शैली ही—**'वैदिक सन्ध्या'** — कहलातीहै, जिसकी सहायतासे जीवात्मा और परमात्मामें पुनः सन्धि होजाया करती है; परन्तु इसके अनुकूल जीवन बनाने न बनानेमें मनुष्य स्वतन्त्र है ।
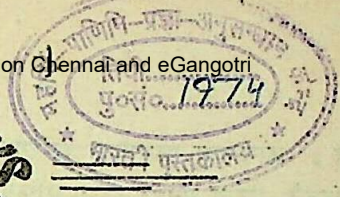
भगवद्भक्तिही सन्ध्याकी आधार-शिला है।

'भक्ति' शब्दके अनेक अर्थ होतेहैं, किन्तु जिनसे भक्ति-भाव व्यक्तहोता है, वे केवल तीन ही हैं:—(१) भिन्नता (२) विभाग (३) श्रद्धा।

भिन्नतासे यह आशय है कि भक्त अपनेको—**'उपासक, प्रेमी और सेवक'**—समझे और अपने इष्टदेवको—**उपास्य, प्रियतम और स्वामी।** भक्त अपने इष्टदेवसे अपनी समीपता इतनी बढाले कि उसे अपने भीतर और बाहर अपना प्रियतमही दीखपड़े अर्थात् यह चरितार्थ होनेलगे कि—**'जिधर देखताहूँ उधर तू ही तू है'**—। मनुष्य जबतक इस भिन्नताका अनुभव नहीं करता, तबतक उसे—**'भगवद्भक्ति'**—प्राप्त होतीही नहीं।

एक भगवद्भक्तकेलिए आवश्यक है कि वह अपने अन्तःकरण और उसके आन्तरिक विभाग—**'इच्छा शक्ति, मेधावी-बुद्धि, तार्किक बुद्धि और सन्देश-वाहक-तन्तु'**—के कार्य्योंको समझे और उन्हें अपनी २ सीमामें रख कर उनसे कामले, ताकि उसमें आत्म-बलकी बढोतरी हो और अपने इष्टदेव केप्रति प्रेममें अगाढता आजाय।

इच्छाशक्ति मस्तिष्ककी वह शक्ति है जो सहस्रारचक्रमें विद्यमान रहती है। अन्तःकरणके प्रत्येक विभागका सदुपयोग करनेसेही इस इच्छा-शक्ति की जाग्रति हुआकरतीहै और तबही भक्त उपासनाके उच्च-क्षेत्रमें पहुँचा करताहै। सहस्रारचक्रके ठीकनीचेही मेधावी-बुद्धिका स्थान है। इसके उचित प्रयोगसे एक भक्तमें अपने उपास्यकेप्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न हुआकरताहै। मेधावी बुद्धिके नीचे तार्किक बुद्धिका स्थान है; जिसे काममें लाकर मनुष्य सत्यासत्यका निर्णयकर सत्यको ग्रहणीय और असत्यको त्याज्य समझने लगताहै। मस्तिष्कका निचला भाग मनसे सम्बन्धित सन्देश-वाहक-तन्तुओंका स्थान है, जिसके उचित प्रयोगसे मनुष्यको ज्ञान-प्राप्ति हुआकरती

है । ज्ञान-तन्तु स्वभावतः शरीरान्तर्गत आत्माकी सत्तामात्रसेही काम करते रहतेहैं; परन्तु उनपर इच्छा-शक्तिद्वारा अधिकार प्राप्तकरनेसे बुद्धिकेद्वारा—**'विचार और ज्ञान'**—; मनकेद्वारा—**'इन्द्रिय-व्यापार'**—; चित्तकेद्वारा—**'भावुकता'**—और प्राणकेद्वारा—**'भोग-अभिलाषा'**—बढजाया करतीहै ।

अन्तःकरणके प्रत्येक विभागमें इच्छा-शक्तिके उचित कार्य्य करतेरहने से—**'आत्म-बल'**—का विकास और वृद्धि हुआकरतीहै; अन्यथा ह्रास । जब प्राण **'इन्द्रिय-व्यापार, भाव और विचारमें'** हस्ताक्षेप करताहै, तव मनुष्यमें विषय-भोग-प्रवृत्ति बढजाया करतीहै । जब चित्त **'इन्द्रिय-व्यापार, और विचारमें'** हस्ताक्षेप करताहै, तव मनुष्यमें भावुकता बढकर मन और बुद्धि दोनोंको नष्ट करदिया करताहै । जव तर्किक बुद्धि मेधावी बुद्धिके कार्यमें हस्ताक्षेप करतीहै, तब मनुष्य श्रद्धाहीन होकर कुतर्की बनजाया करता है । जब विश्वास-वर्धिनी बुद्धि तार्किक बुद्धिके कार्यमें हस्ताक्षेप करतीहै, तब मनुष्य अन्ध-विश्वासी बनजाया करताहै । इसलिए मनुष्य अन्तःकरणके आन्तरिक भागोंके कार्य्योंको समझकर उनसे उचित कार्य्यहीले, ताकि उसके आत्म-बलमें वृद्धि होतीही रहे ।

भक्तिका तीसरा अंग है—**'श्रद्धा'**—जिसका अर्थ होता है—सत्यका ग्रहणकरना । भक्तिके दूसरे अंग —**'विभाग'**— द्वारा सत्यका निर्णयकरके उसे श्रद्धाद्वारा हृदयपटपर अंकितकरलेना चाहिये, ताकि मनुष्य आत्मबल प्राप्तकर भक्ति-प्राप्तिका अधिकारी बन द्वैत से अद्वैतकी ओर अग्रसर होताही चले । इस अधिकार और बलको जप और ध्यानमें लगाकर मनुष्य सर्वश्रेष्ठ भगवद्भक्त बन जायाकरताहै । भगवद्भक्ति ही सन्ध्याकी आधार-शिलाहै ।

भगवद्भक्तिकी नींव स्वार्थ-त्यागपर आश्रित है

स्वार्थ शब्द बनाहै —'स्व+अर्थ'—से, जिसमें 'स्व' के दो अर्थ होतेहैं—१—अपना; २—आत्माका, और अर्थ शब्द शक्तिका पर्य्यायवाची है; इसलिये स्वार्थ शब्दका अर्थ हुआ —'शक्तिका अपनेलिये या आत्माकेलिये प्रयोग; परन्तु इनमें शक्तिका अपनेलिए प्रयोगतो —'निकृष्ट-स्वार्थ'— कहलाताहै और शक्तिका आत्मा या परमात्माकेलिये प्रयोग —'उत्कृष्ट स्वार्थ'; परन्तु हैं ये दोनों प्रकारके स्वार्थ 'आत्म-वृत्तियाँ' जिनमेंसे —'निकृष्ट-स्वार्थ'—को तो—'बहिर्मुखीवृत्ति'—और उत्कृष्ट स्वार्थको —'अन्तर्मुखी-वृत्ति'— कहतेहैं। अन्मर्मुखीवृत्तिही — 'निवृत्तिमार्ग' — होताहै, और वहिर्मुखीवृत्ति —प्रवृत्तिमार्ग'।

वहिर्मुखीवृत्तिमें आत्मातो बुद्धिको; बुद्धि मनको; मन इन्द्रियोंको प्रेरणा करतारहताहै और फिर इन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त होजाया करतीहैं। मनुष्य केलिये दोनोंही मार्गोंकी आवश्यकता है। यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गोंका उचितरूपसे प्रयोग कियागया, तो प्रवृत्तिमार्गही निवृत्तिमार्गका साधन बन जायाकरताहै, अन्यथा प्रवृत्तिमार्ग जन्म-मरणके चक्करका कारण बनजाता है। जन्म-मरणही शरीर और आत्माका 'संयोग-वियोग' है। आत्मा और शरीरका संयोगतो मनुष्यका 'जन्म' है और उनका वियोग उसकी 'मृत्यु'।

जन्म-मरणपर प्रसन्नता और विषाद भी स्वार्थपर आश्रित हैं। वस्तुतः पिता अपने पुत्रकी मृत्युसे इतना दुःखी नहीं होता जितनाकि स्वार्थ नष्टके कारण हुआकरताहै। वह समझताथा कि मेरा बेटा मुझे बुढापेमें सहायता करेगा। वस, यह स्वार्थही उसे दुःखी कियाकरताहै, अन्यथा पुत्रकी मृत्युका होनातो उससे सम्वन्धित उत्तरदायित्वका कमहोजाना है। इस स्वतन्त्रता प्राप्तिपरतो उसे प्रसन्नही होना चाहियेथा; वस्तुतः स्वार्थ ही दुःखका कारण है। यह सारा जगत्ही स्वार्थमय है। स्वार्थ-त्यागमेंही सच्ची शान्ति निहित है और यहींसे भगवद्भक्ति आरम्भ भी होतीहै।

स्वार्थ-त्यागही आत्म-बल-प्राप्तिका साधन है
जो वैदिक सन्ध्याका सर्वोपरि नियम है

आत्म-बलके अभावमें मनुष्य अपने लौकिक तथा पारलौकिक सभी कार्य्योंमें असफल होजायाकरता है; परन्तु आत्म-बलके रहतेहुये मनुष्य कठिनसे कठिन परिस्थितियोंकोभी अपने अनुकूल बनाकर उनपर विजयी होजाताहै।

आत्म-बलकी प्राप्ति स्वार्थ-त्यागसे हुआकरतीहै। स्वार्थ-त्याग होताहै **'ईश्वरपर विश्वास और सदाचारसे'**। ईश्वर-विश्वास तो एक सहारा है और सदाचार उस सहारेकी प्राप्तिका साधन। फिर आत्म-बलका स्वतः ही मनुष्यमें प्रादुर्भाव होनेलगताहै; जो उसके प्रत्येक लौकिक तथा पारलौकिक कार्य्योंमें सफलताकी कुञ्जी है; इसलिये एक आर्य्य पुरुषकेलिये वैदिक सन्ध्या द्वारा प्रमाणित जीवन व्यतीतकरना सर्वोपरि लक्ष्य होनाचाहिये।

एक आर्य्य पुरुषकेलिए
वैदिक सन्ध्याद्वारा प्रमाणित जीवनरूपी प्रासादके
पाँच स्तम्भ

१—उसके अपने जीवनका लक्ष्य कोई शुभ संकल्प हो और उसकी सारी शक्ति उस लक्ष्यकी पूर्तिमें व्ययहो;

२—उसका समय अपने या दूसरोंके सदुपयोगमें व्ययहो और सदैव उसकी कठिनाइयोंसे टक्करें हों;

३—उसका आत्मामें दृढ विश्वासहो और सदैव वह आशावादी बनारहे;

४—देशाटन, सत्संग और स्वाध्यायद्वारा वह अपना अनुभव बढाकर अपने तथा दूसरोंके जीवन-पथपर बिखरीहुई असुविधाओंको सरल करतारहे;

५—नित्य ईश्वर-स्तुति, उपासना और प्रार्थना करताहुआ उसेही अपना एकमात्र सच्चा हितैषी तथा सदैव साथी समझकर उसके आदेशानुसार वह अपनी जीवन-यात्रा पूरी करतारहे।

सन्ध्यान्तर्गत वर्णित कतिपय तत्वोंकी यौगिक व्याख्या

जीव, आत्मा, परमात्मा, प्राण, मन, मुक्ति, और समाधि

जीव

पञ्चभौतिक शरीरके स्वामीको —'जीव'—कहते हैं, इसका दूसरा नाम इसीलिये —**'शरीरी'**—पड़ा है। जीवका परिमाण —**'अणु'**—है। यह एक बालसे भी सूक्ष्म है।

आत्मा

अपनेपनको प्रकटकरनेवाली चेष्टाका नाम —**'आत्मा'**—है। अपनेपन की चेष्टा सदैव —**'सीमाबद्ध'**—हुआकरतीहै। जीवकेसाथ जब अपनेपन की चेष्टा (आत्मा) को जोड़दिया जाताहै, तब वह —**'जीवात्मा'**—कहलाता है। जीवात्माका अर्थ होता है —**'जीवकी सीमाबद्ध चेतनता'**—या यों कहिये कि जीवकी शक्ति हर विषयमें —**'सीमाबद्ध'**—रहती है, अर्थात् पूर्ण नहीं हुआकरती; इसीलिये जीवात्मा हर प्रकारसे अपूर्ण है।

परमात्मा

यदि संसारको एक समष्टि-शरीर समझलियाजाय, तो उसमें एक व्यापक आत्माकी सत्ता प्रतीतहोतीहै, उसेही —**'परमात्मा'**—कहतेहैं; या यों कहिये कि विश्वकी आत्माही —**'परमात्मा'**—है। इस ब्रह्माण्डकी व्यवस्था स्थिर है, अतः उसका व्यवस्थापकभी स्थिरही होनाचाहिए अर्थात् जो नघटे और नबढे; परन्तु ऐसा पूर्णतो वह —**'परब्रह्म'**—ही हैं; अतः इस ब्रह्माण्डके स्वामी उस परब्रह्मको ही —**'परमात्मा'**—कहतेहैं।

प्राण

जो शक्ति विश्वका पोषक है और रक्षकभी, वही —**'प्राण'**— कहलाता है। वाह्यजगत् (अर्थात् संसार) में जो महती शक्ति विश्वका पोषक है, वही इस शरीरमें प्राणरूप होकर सब इन्द्रियोंकी स्थितिका कारण है।

आत्मा और प्राणमें अन्तर

आत्मा और प्राण कार्य्यभेदसे दो प्रतीत होतेहैं, अन्यथा हैं एक ही तत्त्व। वह तत्त्व व्यक्तिगतरूपमें या समष्टिगतरूपमें पोषक और रक्षकका कार्य करताहुआतो —'प्राण'—नामसे पुकाराजाताहै, और वही तत्त्व स्वामी और व्यवस्थापकका कार्य्य करताहुआ व्यक्तिगतरूपमें —'जीवात्मा'— और समष्टिगतरूपमें —'परमात्मा'— कहलाताहै।

वैदिक सिद्धान्तानुसार परमात्मातो जीवात्मासे और जीवात्मा प्रकृतिसे अधिक सूक्ष्म है। प्राण-प्रतिष्ठासे साधकको —'कर्मनिष्ठा'— और आत्म-ज्ञान प्राप्तिसे —'ज्ञाननिष्ठा'— प्राप्त हुआकरतीहै। परमात्माकी प्राप्ति केलिये कर्मनिष्टा और ज्ञाननिष्टा दोनोंकीही आवश्यकता है। मनको आत्मानुकूल बनाना और आत्माको परमात्मानुकुल बनानाही पूर्णयोग है।

आत्माका अस्तित्व

जीवनमें शरीरान्तर्गत कुछ ऐसी चेष्टाएँ होतीरहतीहैं, जिनको जड़ शरीर नहीं करसकता। इन चेष्टाओंसेही जीवात्माके अस्तित्वका परिचय मिलाकरताहै। ये चेष्टाएँ —'लिंग, गुण और अल्पज्ञताके'— प्रतीक हैं।

१—**लिंग अर्थात् चिह्नः**—सुख-दुःखकी अनुभूति, इच्छा, राग-द्वेष, और ज्ञानही दर्शन शास्त्रकी दृष्टिसे आत्माके अस्तित्वको बतलानेवाले चिह्न हैं।

२—**गुण (धर्म):**—'सत् और चित् अर्थात् नित्यता और ज्ञान'—ही आत्मा के गुण हैं। आत्माका धर्म केवल —'ज्ञान'—है, परन्तु वह ज्ञान केवल शक्तिमात्र ही है।

३—**अल्पज्ञताः**—'आत्मा' जीवकेसाथ मिलकर —'जीवात्मा'— कहलाताहै और फिर अपनी शक्तिको देश और कालमें सीमित करलेताहै। सब बातोंमें फिर जीवात्मा सीमाबद्ध होजाताहै।

परमात्माका अस्तित्व

परमात्माके अस्तित्वको प्रकटकरनेवाली युक्तियाँ

(१)

प्रवृत्तिकी युक्ति

जगत्‌की प्रवृत्ति किसी चेतन-तत्त्वसे हुईहै, क्योंकि इसके विकासमें बुद्धिद्योतक नियम काम करतेहैं। वह चेतन-तत्त्वतो परमात्माही है जिससे इस विश्वमें ---'जड़ और चेतन'— दोनोंकी प्रवृत्ति हुईहै; परन्तु वैदिक सिद्धान्तानुकूल प्रवृत्तिकेसाथ —'धृति और निवृत्ति'— की भी आवश्यकता है। दो पदार्थोंका पारस्परिक आकर्षणभी होताहै और विकर्षण भी। यह पारस्परिक अनुकूलताही —'धृति'— की द्योतका है। वेद कहताहै कि —'धृति'— के पीछे —'निवृत्ति'— भी हुआकरतीहै, अर्थात् परमात्मामें ही सबका लयभी हुआकरताहै। इन तीनों भावों —'प्रवृत्ति, धृति और निवृत्ति'— का नियामक वह चेतन-तत्त्व परमात्माही है। यदि ये केवल यान्त्रिक क्रियायें ही होती, तो निवृत्तिसे प्रवृत्ति और प्रवृत्तिसे निवृत्ति कभी नहीं होती। फिर प्रकृतिका स्वभाव या तो निवृत्तिही होता या प्रवृत्तिही। उसे समय-समयपर बदलनेवालातो वह चैतन्य-प्रभु-परमात्माही है।

(२)

सृष्टि-रचना सम्बन्धी वैज्ञानिक युक्ति

विज्ञानही जगत्‌के नियमोंको निश्चित करताहै, जो आपसमें आन्तरिक नियमोंसे बन्धेहुयेहैं, जैसे —'बनस्पति-विज्ञान-शास्त्र'— बनस्पति-जगत्‌के नियमोंकी सिद्धिकरताहै; और—'पशुविज्ञान-शास्त्र'—पशु-जगत्‌के नियमोंकी, फिर बनस्पति-विज्ञान-शास्त्रका पशु-विज्ञान-शास्त्रसे गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि पशु और बनस्पति एक अटूट नियमसे आपसमें आबद्ध हैं। इसप्रकार समस्त

विज्ञानोंपर एक व्यापक विज्ञानभी है, जिसे—'ब्रह्म-विद्या'—कहतेहैं। प्रत्येक विज्ञानके आधारभूत नियमोंका रचियताभी वह परमात्माही है और उस विज्ञानका प्रथमबोधभी परमात्मासेही हुआहै। ज्ञान और विज्ञानसे ही परमात्माके अस्तित्वका परिचय मिलताहै।

(३)

धार्मिक युक्ति

सदाचारका आधारही परमात्माकी सत्तापर विश्वासकरना है। सदाचार परमात्माकीही प्रेरणा है। उसका फल चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक; परन्तु उस फलका प्रेरक सत्य-धर्मा-सविता (परमात्मा) ही है; इसीलिये आत्माकी ध्वनि परमात्माकी प्रथम प्रेरणा है। धर्म-मर्यादा सर्वप्रथम उसी परमात्माकी स्थापित की हुईहै।

(४)

पूर्णकी सम्भावनाकी युक्ति

एक अपूर्णही पूर्णता चाहाकरताहै। जीवनमात्र अपूर्ण हैं। यह पूर्णताका विचार बिना —'पूर्ण सत्'—के नहींहोसकता। जिस आदर्शकी ओर हम दोड़रहेहैं और जिसके अंशमात्रका अपने उत्थानमें अनुभवभी करते हैं, वह आदर्श —'सत्'—ही है और सत्ही परमात्मस्वरूप है।

(५)

योगीद्वारा अन्तः प्रत्यक्षकी युक्ति

योगी उस परमात्माका अपने अन्दर और बाहर दर्शन कियाकरताहै। उसे अनुभव होताहै कि परमात्मा —'सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्त्ता है'—एक योगीकी योग-साधनाही परमात्माके अस्तित्वका प्रतीक है।

परमात्मा साकारहै या निराकार ?

परमात्मा कभी साकार नहीं हुआ, वह तो निराकार ही है। वेदोंमें उसे —'हिरण्यगर्भ'—, कहा है। हिरण्यगर्भ शब्द बनाहै —'हिरण्य+गर्भ'—से। 'हिरण्य' कहतेहैं —'ब्रह्माण्ड' को और 'गर्भ' कहतेहैं-'अन्दर'-को; अतः हिरण्यगर्भका अर्थ हुआ—'वह तत्त्व जिसमें सारा ब्रह्माण्ड समाया हुआहै'— अर्थात् यह सारा ब्रह्माण्डही उस परमात्माका आकारहै और वह परमात्माही बस विश्वका प्राण है। कार्य्य से कारणका पता चलाकरताहै। इस विश्वके नियन्त्रणको देखकर उस परमात्माके अस्तित्वका बोध होताहै। परमात्माके इस आदर्शरूपसे हमें —'आदर्श-मर्यादाओं'—का भास हुआकरता है। जीवनकी निराशाओंको दूर करनेका सुअवसर प्राप्तहोताहैः—

पर्वत कहता शीश उठाकर, तुमभी ऊँचे उठजाओ।
सागर कहता लहराकरके, मनमें गहराई लाओ।
समझरहेहो क्या कहतीहैं, उठ २ गिर २ तरल तरंग।
पृथ्वी कहती धैर्य्य नछोड़ो, सरपर हो कितनाही भार।
नभ कहताहै फैलो इतना, ढकलो तुम सारा संसार॥

परमात्माके निराकाररूपसे —'सदाचार'—की शिक्षा मिलाकरतीहै। वेद परमात्माके रूपकी परिभाषा करताहै—'आपो ज्योतिरसोऽमृतम्'— वह महाप्रभु परमात्मा सर्वव्यापी है; वह ज्योतिस्वरूप है; वह आनन्ददाताहै; उसकी प्राप्तिसे मनुष्य जीवन-मरणसे मुक्त होजाताहै, अर्थात् वह मुक्तिदाता भी है। योगिजन उसे अपने अन्दरही साक्षात्कार कियाकरतेहैं।

आदर्श-मर्यादाओंको अपनाकर मनुष्य 'कर्मनिष्ट' बनाकरताहै और सदाचारको अपनाकर 'ज्ञान-निष्ट'। कर्म और ज्ञानका मिश्रितरूपही मनुष्य के हृदयमें भक्तिकी भावना जाग्रत कियाकरताहै। भगवद्भक्तिसे ही मनुष्य संसार बन्धनसे मुक्त हुआकरताहै। परमात्मा दोषरहित है, उसका निराकार रूपही विकाररहित होसकताहै; इसलिये परमात्मा 'निराकार' ही है।

मन

'मन' आत्म और अनात्म पदार्थोंके बीचमें रहनेवाला एक विलक्षण पदार्थ है। यह स्वयं —**'अनात्म और जड़'**—है; परन्तु बन्धन और मोक्ष इसीके हाथमें हैं। मनोवृत्तियाँ पाँच प्रकारकी होतीहैं — (१) मूढ़ (१) क्षिप्त (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र (५) निरुद्ध। पहिली तीनतो बन्धनमें डालनेवाली हैं और पिछली दो मुक्ति-पथ-प्रदर्शनी अवस्था होतीहैं। इसकापूरा विवरण — **'मनसा-परिक्रमा'**— में दियाजायेगा।

मुक्ति

'मोक्ष और मुक्ति' — इनदोनों शब्दोंका अर्थ होताहै — **'छुटकारा-पाना'**। मनुष्य छुटकारा पाना चाहताहै — **दुःखों**—से; अतः मुक्तिका अर्थ हुआ — **साँसारिक दुःखोंसे छुटकारापाना'** — परन्तु महर्षि पतञ्जलि महाराजने मोक्षकेलिये — **'कैवल्य'** — शब्दका प्रयोग कियाहै। कैवल्यका शब्दार्थ होताहै—**'आत्मा अपने आपमें ही रहे, उसके साथ किसीका सम्बन्ध नहो'**—यद्यपि मोक्ष शब्दके अर्थके साथ जितना साक्षात् सम्बन्ध — **'अपवर्ग'** — काहै, उतना कैवल्यका नहीं, तथापि भावार्थ जैसा कैवल्य शब्दसे व्यक्तहोताहै, वैसा नतो मोक्ष शब्दसे और न अपवर्गसे। मोक्ष और अपवर्ग प्राणीका ध्यान — **'दुःख निवृत्ति'** — की ओर आकर्षित करतेहैं, और कैवल्य दुःख निवृत्तिके अनन्तर जो अवस्था विशेष हुआकरतीहै, उसे प्रकट करताहै।

समाधि

चुपचाप मौन बैठेरहनेका नाम—**'समाधि'**— नहीं है, बल्कि विषय वासनाओंका सम्पूर्णरूपसे त्यागकरनेकी अवस्थाका नामही—**'समाधि'**—है। इसीसे हरप्रकारका आशारूपी ईंधन भस्महुआकरताहै। समाधि एक प्रकार से तत्त्व-ज्ञानरूपी अग्नि है, जिसमें विषय-वासनाएं सबही भस्म होजाया करतीहैं। वह अवस्था उस समय आयाकरतीहै जबकि शुद्ध-बुद्ध-मुक्तहो आत्मानुकुल बनजाया करताहै। इसीका नाम—**'सम्प्रज्ञातसमाधि'**— है।

एक सच्चे ईश्वर-भक्त महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती द्वारा अपने विश्व-प्रेमके उपलक्ष्यमें मानव-जातिको वैदिक सन्ध्यारूपी अमर-देन ।

ईश्वरने मनुष्यको उसके जीवनकी आवश्यकताओं की पूर्तिकेलिये नाना प्रकारके भौतिक पदार्थोंसे सम्पन्न कियाहै, और उन भौतिक पदार्थोंका उचित प्रयोग करनेकेलिये ज्ञानभी दियाहैं; परन्तु समय-समयपर जन-कल्याणकी भावनाओंसे प्रेरितहोकर संसारके महापुरुष, उस ईश्वरीय ज्ञानका विश्लेषण करतेआयेहैं। चाहे इस विश्लिष्ट ज्ञानकी उस कालमें आवश्यकताही क्यों न अनुभव हुईहो; परन्तु समयके साथ २ वह ईश्वरीय ज्ञान भी इतने भागोंमें विभक्त होचुकाहै कि प्रत्येक भाग उस महापुरुषके नामपरही मत-मतान्तर का रूप धारण करबैठाहै। एक मुमुक्षुकेलिये अब यह निर्णयकरना कठिन प्रतीतहोनेलगाहै कि वह किस विश्लिष्टभागका अर्थात् मतका अनुसरणकरे कि उसे जीवनमें सच्ची शान्ति प्राप्तहोसके।

इस बढ़तीहुई अशान्तिको आधुनिककालके एक सच्चे ईश्वर-भक्त महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीने युगकी आँखोंसे देखा और जन-कल्याणकी भावनासे उस ईश्वरीय ज्ञानको और अधिक विश्लिष्ट करनेकी प्रणालीका अनुकरण नकर जनसाधारणका ध्यान उस सुशान्त परमात्माकी आज्ञाओंका पालन करनेकी ओर आकृष्टकिया, अर्थात् उस सच्चे ईश्वर-भक्तने अपने योग बलसे यह अनुभव किया कि उस महा-प्रभुके आदेशही जन-कल्याणका कारण वनसकतेहैं; इसलिये प्रथमतो स्वयंने वेदोंका, जो ईश्वरीय उपदेशोंका संग्रह है, मननकर उनकी इतनी सुन्दर व्याख्याकी कि एक साधारण व्यक्तिभी उनका अनुकरणकर अपने जीवनको मुक्त बनानेमें सफल होसकताहै, परन्तु महर्षिने यह समझकर कि प्रत्येक व्यक्ति नित्यप्रति अपना सारा समय वेदोंके अध्ययनमें ही व्यय करतारहे, कठिनही नहीं, बल्कि असम्भवभी है; इसीलिये उस विश्व-प्रेमीने जनसाधारणकी इस कठिनाईको ध्यानमें रखतेहुये वेदोंमेंसे

कुछ ऐसे उपदेशभी एकत्रितकिये, जो मनुष्यमात्र के लौकिक जीवनकोही पारलौकिक जीवनका साधन बनासकें। उनमेंसे कतिपय संग्रह ये हैं—

१—ईश्वरोपासनाके आठ मन्त्र — (ईश्वर-भक्तिका सरल साधन)

महर्षि ईश्वर-भक्त थे और साथही साथ मन्त्रद्रष्टाभी थे। उन्होंने इन आठ मन्त्रोंको इस क्रमसे संकलन कियाहै कि एक नास्तिक को भी आस्तिक बननेकेलिये विवश करदेतेहैं, क्योंकि उसके सारेही तर्क-वितर्कों का सुन्दर रीतिसे उत्तर दियागयाहै। ईश्वरोपासनाके ये आठ मन्त्र ईश्वर-भक्तिका एक सच्चा पथ-प्रदर्शन करतेहैं।

२—यज्ञहवन-प्रणाली — (धार्मिक दैनिक जीवन-चर्य्या-प्रणाली)

मनुष्यकी जीवन-चर्य्या-शैलीका इतना स्वाभाविक चित्र खींचा है कि कोई व्यक्तिभी बिना वैदिक यज्ञ-प्रणालीका अनुसरणकिये अपने लौकिक जीवनको नतो सफलही बनासकताहै और न इसे परलौकिक जीवनका साधन ही।

३—वैदिक सन्ध्या — (मुक्ति-प्राप्तिका साधन)

महर्षि इस संसारकोही स्वर्ग बनाना चाहतेथे, इसलिये उस कर्मवीर योगिराजने इस सन्ध्यामें यह समझायाहै कि मनुष्य किस प्रकार अपने मनका सम्बन्ध आत्माकेसाथ और आत्माका सम्बन्ध परमात्माकेसाथ करसकताहै, ताकि यह संसारही स्वर्ग बनजाय। यही सच्ची मुक्ति है। महर्षिका यह स्वप्न केवल उसी दशामें पूरा होसकता है, जबकि प्रत्येक आर्य इस सन्ध्याको अपने जीवनका अंग बनाले और उसे व्यावहारिक रूपसे काममें लानेलगे, ताकि उसके सद्-व्यवहारसे दूसरेभी प्रोत्साहित होकर इस अमृतवाणीसे लाभउठासकें।

यह माना इल्म अच्छा, दवा अच्छी, तबीब अच्छा।
पर होगा रोग उसीका दूर, है जिसका नसीब अच्छा।

ओ३म् तत्सत्

विनीत—लेखक

वैदिक सन्ध्याकी आवश्यकता

(मनको विषयोंसे हटाकर आत्माकी ओर लगाना)

मनका सम्बन्ध आत्मा, बुद्धि और शरीर तीनोंसे है; परन्तु मनका झुकाव शरीरकी ओर अधिक है, जिसकी आवश्यकताओंकी पूर्तिकेलिये जब इसे कोई उचित मार्ग नहीं मिलता, तब आत्मासे बुद्धिद्वारा प्राप्त आदेशोंकी अवहेलनाकर अनुचित रीतियोंको काममें लाने लगताहै और फिर ऐसे कर्म करडालताहै कि इस शरीरका स्वामी जीवात्मा जन्म-जन्मान्तरोंतक उनका भुगतान करनेकेलिये दुःखोंका शिकार बनारहताहै। महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित 'वैदिक सन्ध्या' मानव-जातिको यह सन्देश देतीहै कि वेदविहित उपदेशोंद्वारा मनको ऐसा शिक्षित बनाइये कि यह मन बुद्धिद्वारा प्राप्त अपने स्वामी जीवात्माके आदेशोंका निरंतर पालनकर, उसे जीवन-मुक्त बनानेमें अपने उचित कर्तव्यका पालन करतारहे।

सन्ध्या साधन है समाधिका

मनका आत्मासे मेल ही समाधि है

(स्थायी मेल)	(अस्थाई मेल)
मनद्वारा चेतन-समाधि	**प्राणद्वारा जड़-समाधि**
मनका इन्द्रियों सहित सत्संग और सद्ग्रन्थोंके प्रभावसे, विषय वासनाओंसे हटकर, आत्मानुकूल बन, उसकी निरन्तर सेवामें जुटारहना, चेतन-समाधि है।	मन और इन्द्रियोंसे प्राणायाम द्वारा प्राण-शक्तिको हटाकर और उन्हें निस्तेज बनाकर आत्माको उसका जन्मसिद्ध अधिकार आत्म-ज्ञान प्राप्त कराना जड़-समाधि है।

मनका आत्मासे मेल

चेतन समाधि द्वारा

ईश्वर प्रदत्त —'ज्ञान और प्राण'—रूपी महती शक्तियोंको लेकर जीव जब मातृगर्भमें आताहै, तब जीवके प्रारब्ध कर्मोंके भुगतानकेलिये प्रकृति प्राणकी सहायतासे अन्तःकरणकी उत्पत्ति करदियाकरतीहै, जो जीवात्मा और परमात्माके बीचमें एक बड़ी भारी रुकावट खड़ीहो जायाकरतीहैं। जीवके मातृगर्भसे बाहर आतेही इस अन्तःकरणका मुख्य कार्यकर्त्ता मन बहिर्जगत्में आकर और इन्द्रियोंके प्रभावमें पड़कर शरीर-रक्षार्थ बुद्धिद्वारा आत्मासे प्राप्त हुये आदेशोंकी अवहेलना करनेलगताहै और फिर ऐसे कर्म करनेलगताहै कि अपने स्वामी जीवात्काको जन्म-जन्मान्तरोंतक उसके सखा परमात्माके मेलसे वञ्चित रखदेताहै।

मनको शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बनानेकेलिये उसे शिक्षितकरना आवश्यक है और इन्द्रियोंको प्रत्याहार अर्थात् उनके उचित आहारद्वारा साधनाभी अनिवार्य्य है, जिसकेलिये महात्माओंका सत्संग और सद्-ग्रन्थोंका स्वाध्यायकर तदनुकूल आचरण बनाना परमावश्यक है, ताकि मन 'काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकारको' त्यागदे। इसेही मनका शिक्षतहोना और इन्द्रियोंका बलवान, यशस्वी और पवित्रहोना कहतेहैं। इस स्थितिमें पहुँचकरही मन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो अपने स्वामी जीवात्माका सच्चा सेवक बनाकरताहै और फिर बुद्धि-द्वारा प्राप्त आदेशोंकी कभीभी अवहेलना नहीं करता। ऐसी स्थिति आतेही जीवात्मा और परमात्माके बीच उपस्थित अन्तःकरणरूपी भित्तिभी स्वयंही नष्ट होजाया करतीहै। अब जीवात्मा पुनः अपना जन्म-सिद्ध अधिकार —'आत्म-ज्ञान'— भी प्राप्त करलेताहै।

मनुष्य अब यदि नित्य-निरन्तर सत्कर्मों तथा ईश्वर-भक्तिमें जुटारहा तो उसके सबही प्रारब्ध-कर्मोंका इसी जीवनमें भुगतानभी होजाताहै और फिर वह जीवन-मुक्त अवस्थाका आनन्द उठाताहै। शरीरके त्यागनेपर ऐसा जीवन-मुक्तात्मा मुक्ति-लाभ प्राप्त कियाकरता है। यही वैदिक सन्ध्याका सार है।

मनका आत्मासे मेल

जड़-समाधि द्वारा

जीवात्माका परमात्मासे मेल जीवन-मुक्तिपर आश्रित है; परन्तु जीवन-मुक्तिकेलिये आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति अनिवार्य्य है। आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति मनके शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होनेपर निर्भर है। मनकी शुद्धि उसके द्वारा कुचेष्टाओंके त्यागपर आश्रित है। मन अपनी कुचेष्टाओंका त्याग उस समयतक नहीं करता, जबतककि प्राणसे उसे शक्ति मिलतीरहतीहै। प्राण मनको उस समयतक अपनी शक्तिदेना बन्द नहीं करता, जबतककि साधक प्राणायामके द्वारा प्राणशक्तिको कामक्रोधादि मानसिक क्षेत्रोंसे निकालकर आज्ञाचक्रमें जीवात्माके अपर्ण नहीं करदेता।

साधक जिस समय प्राणायामद्वारा अपने प्राणको षट्-चक्र-भेदनकर आज्ञाचक्रस्थ जीवात्माके अर्पणकरदेताहै, उस समय उसका मनतो अपने कामक्रोधादि स्थलोंको त्यागकर और निस्तेज होकर अपने स्वामी जीवात्माकी शरणमें चलाजाताहै और जीवात्मा प्राण-शक्तिको प्राप्तकर अपने जन्म-सिद्ध अधिकार —'आत्म-ज्ञान'—को प्राप्तकरलेताहै। यही 'जड़-समाधि' है।

यदि साधक अबभी प्राणायाम और शाम्भवी मुद्राका अभ्यास करता रहा और साथहीसाथ कूटस्थ-ज्योतिमेंभी अपना लक्ष्य रखा, तो जब वह प्राणकी अन्तिम आहुति ब्रह्मरन्ध्रमें लगानेमें सफल होजाताहै, तब उसका मन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होजाताहै और जीवात्मा जीवनमुक्त अवस्थामें पहुँचजाया करताहै। शरीर त्यागनेपर ऐसा जीवन-मुक्तात्मा मुक्तिलाभ उठायाकरता है। प्राणायामभी मनुष्यकेलिये शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दुःखोंसे मुक्त होनेका एक सुन्दर साधन है; इसीलिए महर्षिने वैदिक सन्ध्यामें प्राणायामको महत्व दियाहै।

सन्ध्या

जीवात्मा और परमात्माके बीचमें

सन्धि-पत्रके नियम

यौगिक दृष्टिसे ईश्वरीय विधानानुसार जीवको अपने कर्मोंका भुगतान करनेकेलिये साँसारिक क्षेत्रमें उत्तरकर प्रकृतिसे संयोग और वियोग करना एक अनिवार्य्य नियम है

परमात्मा जीवात्माका एक सच्चा निरपेक्ष सखा है, परन्तु जीवात्मा अपने पूर्वकृत कर्मोंका भुगतान कियेबिना उसकेपास रहनेका अधिकारी नहीं बनता। जीवात्मा अपने पूर्वकृत कर्मोंसे मुक्त होनेकेलियेभी परमात्माकीहीं सहायतापर आश्रित है। परमात्मा जीवात्माका सखा होनेके नातेसे उसकी सहायतार्थ अपनी दोनों महती शक्तियाँ —**'ज्ञान और प्राण'**— उसे प्रदान करदिया करताहै।

जीवात्मा इन शक्तियोंको लेकर मातृगर्भमें आताहै, जहाँ जीवात्मा तो आज्ञाचक्रस्थ भ्रूमध्यमें अपना आसन जमालिया करताहै, और प्राण[1] इसकी रक्षार्थ इसके चारोंओर फैलजाताहै, परन्तु ज्ञान मस्तिष्कमें सहस्रार-चक्र[2] के समीप ब्रह्मरन्ध्रमें[3] अपना डेरा डाललेता है। मातृगर्भमेंही प्राणकी सहायता

---

[1] प्राण—ईश्वरीय शक्ति जिसके बलपर मन और इन्द्रियाँ काम करतीहैं।

[2] रीढकी हड्डीके अन्तर्गत इड़ा, पिङ्गला और सुषम्नाके मेलसे बनीहुई सात ग्रन्थियाँ हैं; जिन्हें—मूलाधार-चक्र, स्वाधिष्ठान-चक्र, मणिपूर-चक्र, अनाहत-चक्र, विशुद्धि-चक्र, आज्ञा-चक्र और सहस्रार-चक्र—कहतेहैं।

[3] ब्रह्मरन्ध्र मस्तिष्कके सहस्रार-चक्र में शिखाके ठीकनीचे होताहै।

से प्रकृति शरीरान्तर्गत अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी रचनाकर जीवात्मा और परमात्माके बीच अन्तःकरणरूपी एक बड़ी भारी दीवार खड़ी करदिया करतीहै। इस दीवारको गिरादेनाही अन्तःकरणकी शुद्धि कहलातीहै।

जब जीवात्मा मातृगर्भसे बाहर आताहै, तब ज्ञानतो षट्चक्र-भेदन करताहुआ सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्मनाडीके मार्गसे मूलाधार और स्वाधिष्ठानके बीचमें उतरआताहै, जो कामवासनाओंका मर्मस्थल है और तत्फलस्वरूप ज्ञानभी अज्ञानका बाना पहिनलेताहै। अब प्राणभी स्थूलरूप धारणकर आत्म-राज्यसे स्वभावराज्यमें[४] बाहर आजाया करताहै, जहाँपर मन और इन्द्रियोंके स्वाभाविक कर्मोंमें सहायता प्रदानकरने लगताहै। यहाँ प्राणकी सहायतासे मनसहित इन्द्रियाँ साँसारिक विषयोंमें फँसजातीहैं। तत्फलस्वरूप जीवात्माके अपने पूर्वकर्मोंका भुगतान होनेकी अपेक्षा और अधिक नये-नये संस्कार उत्पन्नहो उस जीवात्माकेलिये मुक्ति-प्राप्तकरनेकी अपेक्षा किसी भावी नई योनिकी भूमिका तैय्यार होतीरहती है।

जीवात्माके शुभ संस्कारोंका यदि उदय होआया और उसे महापुरुषों का सत्संग करनेका सुअवसर भी प्राप्त होगया, और फिरभी उनके सदुपदेशों का मनुष्यके मनपर प्रभाव जमगया, तो कहीं, उसका मन अपनी कुचेष्टाओं को त्यागकर बुद्धिकेद्वारा प्राप्तहुये आत्माके आदेशोंका अनुकरणकरना आरम्भ करदेताहै और अब उसके मनमें सद्भावनायें उत्पन्न होनेलगतीहै, अर्थात् उस व्यक्तिकी आत्म-ज्ञान प्राप्तिकेलिये श्रद्धा, स्वभावराज्यसे आत्मा-राज्यमें जानेकेलिये हार्दिक इच्छा, स्थूल प्राणको सूक्ष्मप्राणमें बदलदेनेके लिये अथक परिश्रम और स्वार्थ त्यागकर परमार्थकी जाग्रतिकेलिये उच्च-दृष्टिकोण बना करताहै।

---

[४] शरीरमें दो राज्य हैं—(१) स्वभाव-राज्य जिसका मन्त्री — 'मन'—है, और (२) आत्म-राज्य जिसका प्रबन्ध आत्माकी संकल्प-शक्ति (बुद्धि) के हाथमें है।

फिर यदि प्राणायामकी[५] सहायतासे मनुष्य अपने सूक्ष्म-प्राणको ब्रह्मनाड़ीद्वारा षट्चक्र-भेदन करताहुआ आज्ञाचक्रमें पहुँचादेताहै, तब उसका मन भी प्राणकी सहायता न मिलनेकेकारण कामक्रोधादि केन्द्रोंको त्यागकर अपने स्वामी जीवात्माकेपास आज्ञाचक्रमें चलाजाताहै। उस जीवात्माको प्राण-शक्ति मिलतेही, उसे अपना जन्म-सिद्ध अधिकार —'आत्म-ज्ञान'[६]— पुनः प्राप्त होजायाकरताहै। यही आत्म-ज्ञान साधकके अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण बनाकरताहै। इस अवस्थामेंभी यदि साधक शाम्भवीमुद्रा और प्रणायामका अनासक्तिभावकेसाथ कूटस्थ-ज्योतिमें लक्ष्यरख, लगातार करताही रहा, तो एक दिन उसका चिदाकाशभी निर्मल और स्वच्छ हो जायेगा अर्थात् उस व्यक्तिके सभी पूर्वकृत कर्मोंका भुगतानभी इसी जीवनमें होचुकेगा। इस अवस्थामें पहुँचनेपर ही साधक जीवन-मुक्त हुआ करताहै।

अब उसपर प्रकृतिका कोई बन्धन शेष नहींरहता। जब यह जीवात्मा अपनी लीला समाप्तकरचुकताहै, तब वह महाप्रभुकी शरणमें रहनेका अधिकारी बनताहै। इस प्रकारकी जीवन-शैलीका अनुकरणही —'सन्ध्या'— अर्थात् आत्माकी परमात्माकेसाथ सन्धि (मेल) कहलाता है, जिसे प्रत्येक व्यक्तिको जीवन-मरणसे मुक्त होनेकेलिये अपनाना अनिवार्य है।

ओ३म् तत्सत्।

विनीत—लेखक

---

[५] प्राणकी विशेष क्रिया है, जिसकी सहायतासे सूक्ष्म-प्राण को काम-क्रोधादि मानसिक केन्द्रोंसे निकालकर आज्ञाचक्रस्थ जीवात्माके अर्पण करदिया जाताहै।

[६] आत्म-ज्ञान वह मानसिक अनुभव है जिसकेद्वारा जीवात्मा अपने अस्तित्व को समझ पुनः अपने वचनानुसार परमात्माकी भक्तिमें जुटजाताहै और निरन्तर सत्कर्मोंका निष्कामभावसे सम्पादनकर जीवन-मुक्ति प्राप्त कियाकरताहै।

वैदिक सन्ध्याका सारांश

अन्तःकरणकी शुद्धि

परमात्मा एक महत्तत्व है, जिसमें —'सत्, चित और आनन्द'— तीनोंही विद्यमान हैं। वही इस समस्त विश्वकी आत्मा है, अर्थात् यह सारा विश्व उसीके आधारपर है। जीवात्मा केवल एक तत्त्व है, जिसमें —'सत् और चित्'—दोतो विद्यमान हैं, परन्तु आनन्द नहीं, जिसकेलिये उसे परमात्मासे मेलकरना पड़ताहै।

'मन' एक अनात्म-तत्व है, जो जीवात्माको प्रकृतिकी एक देन है। इसीका शरीरपर प्रभुत्व है। 'बुद्धि' आत्माके आदेशोंको मनतक पहुँचानेवाला एक तत्त्व है। मन उन आदेशोंका पालनकरे या नकरे, यह उसकी स्वयंकी इच्छापर निर्भर है। मन और बुद्धिके अतिरिक्त 'अहंकार और चित्' दो औरभी तत्त्व हैं। इन चारोंके सामूहिक स्वरूप को —'अन्तःकरण'— की संज्ञा दीहै, और यह अन्तःकरणरूपी भित्ति आत्मा और परमात्माके बीचमें खड़ीहुईहै, जो आत्माका परमात्मासे मेल नहीं होनेदेती।

अन्तःकरणमें मन तो सांसारिक पदार्थोंको देखकर उनको क्रियात्मरूप देनेके विषयमें — 'संकल्प-विकल्प'—करतारहताहै। बुद्धि उन्हें निश्चयात्मक रूप देतीरहतीहै। फिर मनकी आज्ञासे इन्द्रियाँ उन्हें क्रियात्मकरूप देनेमें जुटजातीहैं। अब इन सम्पादित कर्मोंको जीवात्मा अहंभावमें लेआताहै, अर्थात् कहताहै कि अमुक काम मैंने ही किया है। यही —'अहंकार'—है। फिर जीवात्माके सभी कर्म चित्पटपर अंकित होकर उसके भोगनेके लिए संस्काररूप धारण करलेतेहैं। इन संस्कारोंके आधारपरही मनुष्यका दूसरा जन्म हुआकरताहै अर्थात् उस जीवात्माको पुनः जन्मलेना पड़ताहै; अतः अन्तःकरण जीवात्माकेलिये एक भारी रोड़ा है।

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती कहतेहैं, कि आत्मा और परमात्माके बीचमें अन्तःकरणरूपी रोड़ा तबतक खड़ाही रहताहै जबतककि मन बुद्धिके अनुकूल कार्य्य सम्पादित नकरनेलगे; परन्तु मनको इसओर लगानेकेलिये महापुरुषोंके सत्संग और उनके सद्-ग्रन्थोंके स्वाध्यायकी आवश्यकता है, ताकि मन शिक्षितहो अपनी स्वेच्छाचारिताकातो त्याग करदे और बुद्धि द्वारा प्राप्त आदेशोंका निरन्तर पालनकरनेलगे। मनका बुद्धिकेसाथ मेल होतेही, अन्तःकरणरूपी भित्ति स्वयंही मस्मार (नष्ट) होजाया करतीहै।

मनके शिक्षित होतेही मनुष्यको परमात्माकी भक्तिकी इच्छा हुआकरती है। विना-ईश्वर-भक्तिके मनपर सत्संगकाभी स्थायी प्रभाव नहीं जमता। विना स्थायी प्रभाव पड़े, मनभी बुद्धिके अनुकूल नहीं बनता। मन और बुद्धिका मेल हुयेबिना अन्तःकरणकी शुद्धिभी नहीं होती। अन्तःकरणकी शुद्धि होतेही मनुष्य ईश्वरीय नियमोंका सद्भावनाकेसाथ पालन करनेलगताहै और अपने भावी संस्कारोंकोभी अपने सत्कर्मोंद्वारा सुधार लियाकरताहै।

अब उसके सबही व्यावहारिक कर्म भगवद्भक्ति सम्पन्न हुआकरतेहैं; या यों कहिये कि अब वह अपने प्रत्येक कार्य्यके सम्पादित करते समय इस बात का ध्यान रखताहै कि ईश्वर सर्वव्यापी है, शक्तिशाली है और न्यायकारी है। इस प्रकार वह आन्तरिक सदाचारी, परोपकारी और छल-कपटसेरहित होजाया करताहै। इस प्रकारका निरन्तर अभ्यास उसके मन और बुद्धिमें मेल टूटने नहींदेता और तत्फलस्वरूप उसका अन्तःकरण पवित्रहो आत्मानुरागी बनजाया करताहै। यही सच्ची ईश्वर-भक्ति है अर्थात् आत्मा और परमात्माका साक्षात् मेल है। वैदिक सन्ध्याका आधार अन्तःकरणकी[1] शुद्धिही है।

---

[1] अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिये—'**सप्तश्लोकी यौगिक गीता**'—का अध्ययन कीजिये। मूल्य १)

वैदिक सन्ध्या

जीवन-लक्ष्य प्राप्तिका सरल साधन

शारीरिक, मानसिक और सामाजिक सुधार सम्बन्धी

विषयानुक्रमणिका

१—प्राचीन कालके महर्षियों और आधुनिक कालके कर्मवीर योगिराज श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीके विचार और शैली में अन्तर—

अ —प्राचीन कालके महर्षियोंने जोकुछ हमें दिया है, वह है उनका अपना अनुभव;

आ—परन्तु श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीने एक जिज्ञासुका ध्यान सच्ची शान्तिकेलिये ईश्वरीय आदेशोंकीओर आकृष्ट कियाहै।

२—आत्माका परमात्मासे मिलापही —'सन्ध्या'— कहलातीहै। अन्तःकरणकी शुद्धि उसका साधन है। अन्तःकरणका मुख्य कार्यकर्त्ता मन है। मनकी चेष्टाएँ ही आत्माको परमात्मासे दूर रखतीहैं।

३—मनकी शान्तिका उपाय—

अ—मनोवाञ्छित फलोंकी प्राप्तिकेलिये मनको सत्संग तथा सद्ग्रन्थों के अध्ययनमें और ईश्वर-भक्तिमें इतना लवलीन करदेना चाहिये कि बुद्धिद्वारा प्राप्त आत्माके आदेशोंके पालन करनेमें वह कभी भी अवहेलना नकरे;

आ—शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिकेलिये मनुष्य धनोपार्जनतो अवश्य करे; परन्तु वह उपार्जन हो, सत्कर्मोंद्वाराही।

४—मनोवाञ्छित फलोंकी पूर्तिकेलिये—

अ —अपने समस्त व्यावहारिक कार्योंमें परमात्माको —'सर्वव्यापी, शक्तिशाली तथा न्यायकारी'—समझताहुआ उन्हें कियाकरे;

आ—और परमात्मासे मेल करनेकेलिए शरीरको साधन बनाकर बुद्धिसे काम लियाकरे।

५—अंग स्पर्श—इन्द्रियोंको बलवान और यशस्वी बनाना—

अ—बल प्राप्तहुआकरताहै अन्दरसे; परन्तु

आ—यश मिला करताहै दूसरोंसे।

६—मार्जन—प्रत्याहारही इन्द्रियोंको पवित्र बनानेका साधन है।

७—प्राणायाम—सद्भावनाकेसाथ कर्तव्य पालनकरनेसेही स्वार्थका नाश और परमार्थकी जाग्रति हुआकरतीहै। यही सामाजिक प्राणायाम है।

८—अघमर्षण मन्त्र—पूर्वकृत कर्मोंका पाश्चात्ताप—

अ—मुक्ति प्राप्तिकेलिये प्रचलित मतोंका अनुकरण करना एक भारी भूल है;

आ—ईश्वरीय आदेशोंका अनुकरण करनाही उन भूलोंका एक मात्र सुधार है।

९—मनसा परिक्रमा—मानसिक बन्धनोंपर एक दृष्टि—

अ—काम, क्रोध, लोभ, मोह ही मानसिक बन्धन हैं;

आ—प्रभु-भक्तिही उनसे छुटकारा दिलासकतीहै।

१०—उपस्थान—(उप+स्थान=ईश्वर-भक्ति)

अ—प्रकृति और जीवमें भेद;

आ—प्रकृति—'उत्'—है, तो जीव—'उत्तर'—;

इ—परमात्माही सर्वोपरि और सर्व श्रेष्ट है;

उ—उस परमात्माकी प्राप्तिही जीवन-लक्ष्य है।

११—गायत्री—सविता देवकेसाथ समस्वर होना—

अ—हृत्तन्त्रीकी तारों—'मन, बुद्धि और आत्मा'—का परमात्माकेसाथ समस्वर होना;

आ—ईश्वर-प्रेरणाकी अवहेलना नकरना।

१२—उपसंहार—नम्र नमस्कारकी अन्तिम भेट—

१३—अन्तिम समर्पण—प्रभु-चरणोंमें नम्र नमस्कार।

सन्ध्याके आरम्भ करते समय एक आर्य्यंका पवित्र संकल्प

सन्ध्या सम्बन्धी भगद्भावोंकी जाग्रतिपर अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिये प्रत्येक कर्मनिष्ठ आर्य्यंको महर्षिका यही आदेश है कि उसे दृढ़ प्रतिज्ञाकेसाथ ईश्वर-प्रदत्त सर्वोत्तम पदार्थ जलको अपना साक्षी बनाकर तीन आचमनोंकेसाथ इस बातकी शपथ ग्रहण करनी चाहिये कि वह इसी जीवनमें अपने अन्तःकरणको शुद्धकर अपने शारिरीक, मानसिक और आत्मिक दुःखोंका अन्तकर डालेगा और इसके लिये उसे दृढ़ विश्वास भी है।

अन्तःकरणकी शुद्धि

अन्तःकरणकी शुद्धिसे मनुष्यको भगवद्भक्ति सुलभ है और भगवद्भक्तिसे आनन्दकी प्राप्ति सुलभ है; इसलिये आनन्द प्राप्तिकेलिये अन्तःकरणकी शुद्धि ही मुख्य है।

आचमन-मन्त्र

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये
शंयोरभिस्रवन्तु नः

पदच्छेद

ओ३म्। शम्। नः। देवीः। अभिष्टये। आपः। भवन्तु। पीयये। शं। योः। अभिस्रवन्तु। नः॥

अन्वयः

ओ३म् आपः देवीः अभिष्टये, (आपः) नः शम् भवन्तु, (आपः) नः पीतये शंयोः अभिस्रवन्तु।

शब्दार्थ

'आप' —शब्दके दो अर्थ हुआ करतेहैं—(१) सर्वव्यापी परमात्मा; (२) जल। जल जहाँ शरीरकी बाहरसे शुद्धि करताहै, भगवद्भक्ति वहाँ अन्दरसे; इसलिये अतःकरणकी शुद्धिकेलिये दोनोंही अनिवार्य हैं।

आपोदेवीः = भगवद्भक्तिसे = ईश्वरीय नियमोंका पालन करनेसे;

अभिष्टये = मनोवाञ्छित फल = आनन्दकी प्राप्ति

नः = हमारेलिये;

शम् भवन्तु = शान्तरूप होवे वह परमात्माही शान्तस्वरूप है;

पीतये = शान्तिकेलिये = आनन्द प्राप्तिकेलिये

शंयोः = शान्तिकी आनन्दकी

अभिस्रवन्तु = चारों और वर्षाकरे।

अन्तःकरणको अन्दर और बाहरसे शुद्धकर नियमितरूपमें चलासकताहै।

शाब्दिक भाव

दिव्यगुणयुक्त परमात्मा हमें इच्छितफल और शान्ति देकर हमारे चारोंतरफ सुखकी वर्षा करनेवाला हो ।

विशेष भावार्थ

सच्ची शान्ति प्राप्तकरनेमें कामक्रोधादि मनोविकारतो अन्दरसे और शारीरिक अपवित्रता बाहरसे अड़चन डालाकरतीहैं; परन्तु आत्म-कल्याण केलिये जिसने दृढ़ प्रतिज्ञा करलीहै, वह यदि यथावश्यक शारीरिक शुद्धिकर उस शान्तिमय महाप्रभु परमात्माकी भक्तिमें निष्कामभावसे संलग्न होजाय, अर्थात् उसके नियमोंको अपने व्यावहारिक जीवनका अंग बनाले, तो अवश्य एक दिन उसके शारीरिक और मानसिक मनोविकार नष्टहोकर उसका अन्तःकरण अन्दर और बाहरसे शुद्ध होजायेगा । अन्तःकरणकी शुद्धिसे भगवद्भक्ति और भगवद्भक्तिसे आनन्द-प्राप्ति सुलभ है । जीवनको आनन्द-मय बनानेकेलिये महर्षिने आर्य्यजनोंका ध्यान अन्तःकरणकी शुद्धिकीओर सर्वप्रथम आकृष्ट कियाहै ।

अन्तःकरणकी शुद्धिका उपाय

अन्तकरणका मुख्य अंग 'मन' ही है । मनके आत्मानुकूल रहनेसे तो वह अन्तःकरण शुद्ध होजाताहै और मनकेद्वारा आत्माके आदेशोंकी अवहेलना करनेसे वह अशुद्ध होजाताहै । मनका सम्बन्ध शरीर, बुद्धि और आत्मासे रहताहै; परन्तु घनिष्ठ सम्बन्ध शरीरसेही है । मन चाहताहै कि शरीरको अच्छा भोजन मिले, अच्छे वस्त्र मिलें और अच्छा रहनेका स्थान हो, परन्तु बुद्धिद्वारा, आत्माके पाससे लायेहुये आदेशानुसार जब यह मन इस शरीरकी उचित आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं करसकता, तब वह आत्माकी अवहेलना करके अपनी इच्छानुकूल झूँठ, पाप और अनधिकार चेष्टाओंद्वारा इस शरीर की आवश्यकताओंकी पूर्ति करतारहताहै, तत्फलस्वरूप अन्तःकरणके चित्त पटपर पूर्वकृत कर्मफलोंमें न्यूनता आनेकी अपेक्षा भावी भुगतानकेलिये नये-

नये संस्कार और आकर अंकित होतेरहतेहैं। अन्तःकरण शुद्ध होनेकी अपेक्षा और दूषित होजाता है, इसकारण जीवात्मा मुक्तहोनेकी अपेक्षा और अधिक बन्धनमें पड़जाया करताहै।

मन अपनी इच्छानुकूल चलना केवल ईश्वर-भक्तिकी प्राप्तिपरही त्यागाकरताहै। ईश्वर-भक्ति प्राप्तिका केवल एकही मार्ग है और वहभी यह कि उस परमात्माको मनुष्य अपने प्रत्येक कार्य्यमें 'सर्वव्यापी, शक्तिशाली और न्यायकारी' व्यवहारिक रूपसे मानने लगे।

पस्मात्माको सर्वव्ययापी कहनेवालेतो बहुतहैं, परन्तु माननेवाले विरले ही होतेहैं। परमात्माकी सर्वव्यापकताके सच्चे भाव मनुष्यको धीरे २ आन्तरिक सदाचारीही बनादेतेहैं, क्योंकि मनुष्य अपनी बुराइयोंका साक्षी किसीको बनाना नहींचाहता। उसकी सर्वव्यापकताकेकारण ऐसे मनुष्यको बुराई करनेकेलिये फिर कोई एकान्त स्थान दीखताही नहीं, अतः वह बुराई सेभी बचारहताहै। हर बुराईके करते समय उसे परमात्मा सामने दीख पड़ताहै, अतः बुराइयाँ उससे हटतीही चलीजातीहैं और अन्तमें वह आन्तरिक सदाचारी बनजाया करताहै।

परमात्माको शक्तिशाली अर्थात् चक्रवती सम्राट माननेसे मनुष्यके सामने यह भय आ-उपस्थित होताहै कि अपने कियेहुये कर्मका फल अवश्य भोगनाही पड़ेगा। मनुष्य स्वभावसे सुख चाहताहै, दुखः कोई नहीं चाहता; अतः पाप कर्मोंका आधाररूप स्वार्थ भी उसके हृदयसे जातारहताहै। चोरभी इस भावनासे चोरी करताहै कि एक राज्यसे दूसरे राज्यमें भागकर चला जाऊँगा और वहाँका राजा यहाँके राजासे वैमनस्य रखताहै, अतः उसके बचनेकी सम्भावना है। यदि पापीके हृदयमें यह समायाहुआहो कि हर जगह उसी एक परमात्माका राज्यहै, तो फिर वह दण्ड पानेके भयसे अन-धिकार चेष्टाका त्यागकरदेगा। स्वार्थही अनधिकार चेष्टाका जन्मदाता है। धीरे २ परमात्माका शक्तिशाली होनेका भाव मनुष्यको एकदिन स्वार्थसे हटाकर परोपकारीही बनादेताहै।

परमात्मा न्यायकारी है । यह भावना यदि मनुष्यके हृदयमें दृढ़ होजाय तो वह सरल-स्वभावयुक्त हो छल-कपटसेरहित होजाताहै । चोर इसलिये चोरी करताहै कि न्यायाधीशके सम्मुख कोई ऐसा साक्षी उपस्थित करदेगा कि वह न्यायके वशीभूतहो उसे मुक्त करनेपर बिवश होजायेगा, या न्यायाधीश को ही घूँस देकर बचजाएगा । सम्भव है कि न्यायाधीश अपने निर्णयमें ही भूल करजाय, अत: उसके बचनेकी बहुत सम्भावना है । ये भावनाएँही चोर को चोरी करनेकेलिये प्रेरित कियाकरतीहैं । यदि उसकी समझमें यह बात आजाय कि परमात्मा सर्वव्यापी है, उसे साक्षीकीतो आवश्यकता नहीं । वह निराकार है, अत: घूँस भी उसतक पहुँच नहींसकती । घूँसतो साकारको ही दीजासकतीहै, निराकारको नहीं । वह विद्वान्‌भी पूर्ण है । वह अपने अनुमानमें भूलभी नहीं करसकता । उस न्यायकारी परमात्माके न्यायालय में तो सदैव कर्मानुसारही दण्ड मिलाकरताहै । फिर चोरभी अनधिकार चेष्टाओंको त्यागकर छल-कपटसे रहित होजायेगा ।

ईश्वर-भक्तिही मनुष्यको आन्तरिक सदाचारी, परोपकारी और छल-कपटसे रहित बनासकतीहै । जब मनुष्य ईश्वर-भक्तिमें परिपूर्ण होजाता है, तब उसका प्रत्येक कार्य्य सद्भावनाओंसेयुक्त हुआकरताहै । ऐसे व्यक्ति का लौकिक जीवनभी सुखमय बनजाया करताहै । ईश्वर-भक्तिसेही मनुष्य को सच्ची शान्ति मिलाकरतीहै । सच है—

> हुआ ध्यानमें ईश्वरके जो मग्न, उसे कोई क्लेश लगा न रहा ।
> परमात्माको जब आत्मामें, लिया देख ज्ञानकी आँखोंसे ।
> पार हुआ भव-सागरसे, अब कोई क्लेश लगा न रहा ॥

मनको ईश्वर-भक्तिद्वारा शिक्षित करनेकी कितनी सुन्दर और सरल शैली है ? मनके ईश्वर-भक्तिमें लगतेही, वह अपनी कुचेष्टाओंका त्याग कर देताहै और आत्मानुकूल चलनेलगताहै । मनुष्यकी यह स्थिति आतेही उसका अन्त:करण भी शुद्ध होजाया करताहै ।
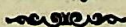
अंग-स्पर्श-निर्देश

(इन्द्रियोंकीओर संकेत)

अन्तःकरणका मुख्य कार्य्य-कर्त्ता है—'मन'— परन्तु मनकी इच्छाओंकी पूर्ति कियाकरतीहैं —'इन्द्रियाँ'—; अतः मनका सम्बन्ध इन्द्रियोंसे इतना ही घनिष्ट है, जितना कि सूर्य्यका प्रकाशसे। मनकी शुद्धिके लिये इन्द्रियोंका बलवानं और यशस्वी बनाना अनिवार्य्य है। अन्तःकरणकी शुद्धि इन्द्रियोंको उनकी अनुचित प्रवृत्तिसे रोकेबिना कभी नहीं हुआकरतीहै।

इन्द्रियोंको बलवान और यशस्वी बनानेकी आवश्यकता

जबतक मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको उनके स्वाभाविक धर्म–'विषयभोगों'-से पृथक् नहीं करदेता, तबतक उनका झुकाव कभीभी सत्कर्मोंकीओर होही नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें मनका शिक्षित होना ऐसाही है, जैसाकि एक सधाहुआ घोड़ा बिना लगामके। जिसप्रकार एक साधित घोड़ेकोभी ठीक मार्गपर चलानेकेलिए लगामकी आवश्यकताहै, ठीक उसीप्रकार मनके शिक्षित होजानेपरभी इन्द्रियोंको बलवान और यशस्वी बनानेकी आवश्यकता है।

इन्द्रियोंको कार्य्यकरनेकी शक्ति मिलाकरतीहै 'प्राणसे'। प्राण भी दो प्रकारका होताहै—(१) स्थूल-प्राण (२) सूक्ष्म-प्राण। स्थूल-प्राणकी शक्ति मिलनेपर इन्द्रियोंमें —'स्वार्थकी भावना'—और सूक्ष्म-प्राणकी शक्ति मिलनेपर —'परोपकारकी भावना'— उत्पन्न हुआकरतीहै। स्वार्थकी भावनातो इन्द्रियोंका स्वाभाविक धर्म है। स्वार्थके वशीभूत हो, इन्द्रियाँ विषयोंकीओर दोड़ाकरतीहैं। प्राणायामकेद्वारा 'स्थूल-प्राण' जब सूक्ष्म-प्राणमें बदलजाताहै, तब इन्द्रियाँभी अपने स्वार्थभावको त्याग 'परमार्थभाव' में आजायाकरतीहैं। उस दशामेंही मनुष्य किसी सुन्दर पदार्थको देखकर

उसके भोगकी इच्छा नकर, उसकी यह भावना बल पकड़जातीहै कि जिसने यह सुन्दर पदार्थ बनायाहै, वह कितना सुन्दर होगा। यदि मैं उस पदार्थके रचयितासेही प्रेम करलूँ, तो मित्र नातेसे सारे विश्वकी सुन्दरताकाही मैं स्वामी बनजाऊँ। बस, इसीका नाम है, **इन्द्रियोंको बलवान बनाना।**

इन्द्रियोंके बलवान होनेसे मनुष्य धन, बल और ज्ञानका स्वामी बन जाया करताहै। अब यदि वह सत्कर्मोंकेलिये दान देनेमें उदारता दिखाताहै तो मनुष्य उसे — 'धर्मात्मा' — की पदवी देतेहैं। यदि बलद्वारा दूसरों की रक्षा करताहै, तो लोग उसे —'वीर'— की उपाधि देतेहैं। यदि अपने ज्ञानद्वारा दूसरोंकी कठिनाइयोंको सरल करताहै, तो लोग उसे –**'महात्मा'**– कहकर पुकारतेहैं। धन, बल और ज्ञानका सदुपयोगही इन्द्रियोंका यशस्वी बनाना है। इन्द्रियोंकी उचित प्रवृत्ति होतेही, मन इन्द्रियों सहित बहिर्जगत् से अन्तर्जगत्में चलाजाताहै। इन्द्रियोंके बलवान और यशस्वी होनेपरही मन शुद्ध हुआ करताहै। अन्तःकरणकी वास्तविक शुद्धि इन्द्रियोंको उनकी अनुचित प्रवृत्तिसे रोकनेपरही हुआकरतीहै।

—oo—

इन्द्रियोंको बलवान और यशस्वी बनानेका लाभ

(इद्रियोंद्वाराही मनुष्यकी भावी जन्म-भूमि का)

इन्द्रियोंद्वारा सम्पादित कार्य्योंके फलस्वरूप ही मनुष्यके अपने आगामी जन्मकी भूमिका तैय्यार हुआकरतीहै। यदि मनुष्यने कर्मेन्द्रियोंसेही कर्म कियेहैं तो उसे किसी भोग-योनिमेंही जाना पड़ेगा, और यदि कर्मेन्द्रियोंसे सत्कर्म भी कियेहैं, तो भोग-योनिमें जानेपरभी जीवनकी सुविधाएँ प्राप्तहो जायेंगी। प्रायः देखनेमें आताहै कि एक कुत्ताभी मोटरोंमें घूमताहै, साबुनसे स्नान कराया जाताहै और अच्छे-अच्छे पदार्थ उसे खानेकेलिये दियेजातेहैं। यह सब उसके पूर्व जन्मोंके शुभकर्मोंकाहीतो फल है। भोग-योनिमें आकर केवल

पूर्व-जन्मोंमें कियेहुये कर्मोंकाही भुगतान नहीं होजाता, बल्कि भावी-जन्मकी भूनिकाभी तैय्यार होतीरहतीहै। भोग-योनिसे मुक्ति नहीं हुआकरतीहै।

यदि मनुष्यने केवल ज्ञानेन्द्रियोंसेहीकाम लियाहै, तो वह भविष्यमें मनुष्य-योनि प्राप्त करनेका अधिकारी बनेगा; परन्तु यदि ज्ञानेन्द्रियोंके साथ-साथ कर्मेन्द्रियोंसेभी शुभकर्म कियेहैं, तो वह ऐसे घरमें जन्म लेगा, जहां उसके कर्मानुसार भोग-सामग्रीभी विद्यमान होगी। इस मनुष्य योनिमें आकर वह अपने पूर्वकृत कर्मोंका भुगतानतो करेगाही, परन्तु साथ-साथ भविष्यकेलिये भी—

१. यातो किसी योनिमें जानेकी भूमिका बनायेगा;

२. या मुक्ति-प्राप्तिके साधन जुटायेगा।

मुक्ति-प्राप्तिकेलिये अन्तःकरणकी शुद्धि अनिवार्य है और अन्तःकरण की शुद्धि मनको शिक्षित करनेके साथ २ इन्द्रियोंको बलवान और यशस्वी बनानेपरही हुआकरतीहै। इन्द्रियोंके कार्य्योंपरही भावी जन्म-भूमि या मुक्ति आश्रित है।

ॐ

एक आदर्श आर्य-पुरुषद्वारा अपनी इन्द्रियोंकी शक्तिका, जलको साक्षी बनाकर, जीवनमें सदुपयोग करनेकी प्रतिज्ञा ।

अङ्ग-स्पर्श-क्रिया

(इन्द्रियोंकीओर संकेत)

ओ३म् वाक् वाक् । ओ३म् प्राणः प्राणः ।
ओ३म् चक्षुः चक्षुः । ओ३म् श्रोत्रम् श्रोत्रम् ।
ओ३म् नाभिः । ओ३म् हृदयम् । ओ३म् कण्ठः ।
ओ३म् शिरः । ओ३म् बाहुभ्यां यशोबलम् ।
ओ३म् करतल करपृष्ठे ।

शब्दार्थ

हे ईश्वर ! मेरी वाणी, प्राण, नेत्र, कान, नाभि, हृदय, कण्ठ, शिर और भुजाओंमें बल और यश हो । मेरे हाथ धर्मयुक्त कार्य करें ।

अंग-स्पर्श-क्रियाकी व्याख्या

(इन्द्रियाँ अन्तःकरणकी शुद्धिमें सहायक हैं)

ओ३म् वाक् वाक्

वाणीमें — **'बल'** मिलाकरता है **'सत्यभाषणसे'**— और **'यश'** मिला करताहै — मधुर भाषण और सद्-व्यवहारसे — सत्यताही निर्भयताकी जननीहै; इसीलिये कहाहै — **'साँचको आँच नहीं और झूठको कहीं ठौर नहीं'**—सत्य व्यवहार तो अन्तःकरणकी शुद्धिका सर्वप्रथम अंग है ही । एक सत्यवादी और सद् व्यवहारीही ईश्वर-भक्त कहलानेका अधिकारी होताहै ।

ओ३म् प्राण: प्राण:

प्राणोंको 'बल' मिलाकरताहै — 'ओ३म् जापसे' — और 'यश' मिलाकरताहै — प्राणोंको धर्मकी वेदीपर नौछावर करनेसे।' महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीने अपने सत्यार्थ प्रकाशमें — 'ओ३म्' — को मुक्ति-दाता कहाहै और यह भी बतलायाहै कि—अ, उ और म् —से ईश्वर के तीन २ नाम होतेहैं। 'अ' — अक्षरसे तो —'विराट्, अग्नि, और विश्व' बतलायाहै; 'उ' — अक्षरसे — 'हिरण्यगर्भ, वायु और तेज' — और 'म्' अक्षरसे–'ईश्वर आदित्य और प्रज्ञा'–वस्तुत: ओ३म् का मानसिक जाप[1] श्वास-प्रश्वासकेसाथ सूक्ष्मतम बननेपर स्थूल-प्राण ही सूक्ष्म-प्राण बनकर सद्भावनाओंकी उत्पत्तिका कारण बनाकरताहै, जो आन्तरिक शुद्धिका कारण बन — 'अन्त:करण' — को पवित्र बनादिया करताहै।

प्राणोंको 'यश' मिला करताहै —'धर्मकी वेदीपर नौछावर करनेसे'- आत्माका परमात्मासे मेलही — 'धर्म है'; धर्मकीरक्षा करनेमें ऐश्वर्य्यकी तो बातही क्या ? यदि प्राणोंकी बाजीभी लगानीपड़े, तोभी चिन्ता नहीं करनीचाहिये। धर्मपर सब कुछ नौछावर करनेवालोंका नाम सदैव इतिहास के पृष्ठोंपर स्वर्णमय अक्षरोंसे अंकित रहाकरताहै। मानमर्यादाओंकी रक्षाकरनेकेलिये आनेवाली पौदको धर्मही उत्साहित कियाकरताहै। यश प्राप्ति ही जीवनका मुख्य कर्त्तव्य है, क्योंकि इसीसे मनुष्य अमर हुआ करताहै।

आत्माका परमात्मासेमेल —'अन्त:करण'– की शुद्धिपरही हुआ करता है। अन्त:करणकी शुद्धि, सूक्ष्म-प्राणको प्राणायाम[2] की सहायतासे ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचानेपर और फिर वहीं लय करदेनेसे, हुआ करतीहै। इसेही प्राणोंका धर्मकी वेदी पर नौछावरकरना कहतेहैं।

---

[1] और [2] ओ३म् की विशेषताओंका और प्राणायामकी क्रियाओंका आगे वर्णन दियाहुआ है।

ओ३म् चक्षुः चक्षुः

ज्ञानेन्द्रियोंमें मुख्य इन्द्रिय — 'नेत्र' — ही है, क्योंकि सर्वप्रथम इसीकेद्वारा संसारके भौतिक पदार्थोंका परिचय, मिलाकरताहै। नेत्रोंको बल मिलाकरताहै — 'लज्जा' — से, और 'यश' मिलाकरताहै— 'सबको मित्र दृष्टिसे देखनेपर' —। लज्जाही मनुष्यका भूषण है। जिसके नेत्रोंमें लज्जाहै, वही सदाचारी है। लज्जारहित मनुष्य पशुसमान होताहै।

सबको मित्र दृष्टिसे देखनाही सद्-व्यवहार है और सद्-व्यवहारही मानवताकी कुञ्जी है। लज्जा और मानवताही मनुष्यको सत्कर्मोंकीओर प्रेरित कियाकरतीहैं। फिर सत्कर्मही परमात्म-भावकी जाग्रतिकर उसके अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण बनतेहैं।

ओ३म् श्रोत्रम् श्रोत्रम्

कानोंको 'बल' मिलाकरताहै — 'सदुपदेशके सुननेसे' और 'यश' प्राप्त हुआकरताहै — 'दीन दुःखियोंकी पुकार के सुननेसे'। महर्षिने इसीलिये आर्य्य समाजके नियमोंमें लिखाहै—'वेदोंका पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनाना और उसके अनुकूल आचरण करना आर्य्योंका मुख्य धर्म हैं'—ताकि मनुष्य वेदानुकूल आचरणकर देशकी सामाजिक दशाको सुधारनेमें अपनी शक्तियोंका सदुपयोगकरना जानजाय और उसकी इन्द्रियाँ मनसहित सत्कर्मोंकीओर प्रेरितहों, परमात्म-भावकीओर बढ़तीहुई अन्तःकरणकी शुद्धितक पहुँचजायें।

ओ३म् नाभिः

(नाभि शरीरान्तर्गत वह केन्द्र है जहाँ वीर्य्यकोष होताहै)

नाभिको 'बल' मिलाकरताहै —'ब्रह्मचर्य्य-रक्षा'— से, और 'यश' मिलाकरताहै—'उत्तम सन्तानके पैदा करने'—से। ब्रह्मचर्य्यकी रक्षाहोती है—'सद्-आहार, सद्-व्यायाम और सद्-व्यवहार'—से; या यों कहिये कि —सादा खाने, सादा चलने और सादा रहनेसे। जिस व्यक्तिमें ये तीनों गुण नियमित रूपसे पायेजातेहैं, वही सच्चा ब्रह्मचारी अथवा सदाचारी होताहै।

ऐसे नियमित सदाचारीकी सन्तानभी उत्तम हुआकरतीहै। वेदोंमें कहा है—'**प्रजया वर्धय वरमेकः**'—उत्तम सन्तान पैदा कीजिये चाहे वह एक ही क्यों न हो ? नीति इस बातकी पुष्टि करतीहै—

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्ख शतान्यपि

(सैंकड़ो अयोग्य सन्तानके होनेसेतो एक भी योग्य होना अच्छा है)

ब्रह्मचर्य्यही सदाचारकी जननी है और सदाचारसे ही अन्तःकरणकी शुद्धि हुआकरतीहै। अन्तःकरणकी शुद्धिसेही आत्म-भावकी प्राप्ति होतीहै।

ओ३म् हृदयम्

हृदयको '**बल**' मिलाकरताहै—'**धैर्य्य और संतोष**'—से, और '**यश**' मिलाकरताहै—'**उदारता और नम्रता**'—से। ये चारों गुण मनुष्यके आभूषण हैं, जिसने अपने आपको इन आभूषणोंसे अलंकृत कररखाहै, वही एक सच्चा सदाचारी है। एक सदाचारीका अन्त;करण ही शुद्ध और पवित्र हुआकरताहै।

ओ३म् कण्ठः

कण्ठ वाणीका स्थान है। कण्ठको '**शक्ति**' मिलाकरतीहै —'**पौष्टिक पदार्थों**'—से और वाणीको '**बल**' मिलाकरताहै —'**उत्तम कविता**'—से, और '**यश**' मिलाकरताहै —'**मीठे और सुरीले स्वर**'—से। दूसरोंसे सम्पर्क जोड़नेमें सर्वप्रथम वाणीही साधन है। वाणीकी मधुरता और सत्यताही दूसरोंके हृदयोंको वक्ताकीओर आकृष्ट कियाकरतीहै। इसकारण कहा भी है—'**जवाँ शीरीं, मुल्कगीरीं।**' गान-विद्या भी मोहनी विद्या है। मधुर गान भी मनकी एकाग्रताका साधन है। यदि वह मधुर गान ईश्वर-भावको लिये हुयेहै, तो मनुष्यकी मन और इन्द्रियाँ उधर झुककर एक दिन उसके अन्तः करण को शुद्ध बनादेंगी।

ओ३म् शिर:

मस्तिष्कको 'बल' मिलाकरताहै —'सद्भावनाओं'—से, और 'यश' मिलाकरताहै—'सद्भावनाओंको क्रियात्मक रूप देने'—से। सद्भावना बनाकरतीहै—'उच्च दृष्टिकोणसे, अटूट श्रद्धासे, हार्दिक लग्नसे, और अथक परिश्रमसे'—जो सद्भावनाओं और शुभ विचारोंसे युक्त होताहै, वही सदाचारी कहलानेका अधिकारीभी होताहै। ऐसे सदाचारी मनुष्यका अन्त:करण सदैव शुद्ध रहाकरताहै।

ओ३म् बाहुभ्याम् यशोबलम्

भुजाओंको 'बल' मिलाकरताहै—'आत्म-विश्वास'—से और 'यश' मिलाकरताहै— 'निर्बलोंकी सहायता करनेसे'। आत्मविश्वासकेसाथ ऐसे सत्कर्म ही आगेचलकर अन्त:करणकी शुद्धिका कारण बनाकरतेहैं।

ओ३म् करतल करपृष्ठे

हाथोंको 'बल' मिलाकरताहै—'सच्चे लेन-देन'—से और 'यश' मिलाकरताहै—'देशके उत्त्थानकेलिये दानदेने'—से। जो व्यवहारका सच्चा और उदार दानी है, एकदिन उसका अन्त:करण शुद्धहोही जाताहै।

शारीरिक रचनाकी दृष्टिसे ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका महत्व

जब हम शरीर-रचनाकीओर ध्यानदेतेहैं, तव हमें यह बात स्पष्टरूपसे दिखाईदेतीहै कि सभी ज्ञानेन्द्रियाँ तो ऊपर हैं और सभी कर्मेन्द्रियाँ नीचे। यह शरीर-रचना इस बातकीओर भी संकेत कररहीहैं कि प्रत्येक कार्य्यके करतेहुये यह ध्यानरखना चाहिये कि —

'पहिले उसे विचारो और फिर करो।'

शरीर रचनाकीओर फिर ध्यानदेनेपर एक बात और दीखपड़तीहै कि ज्ञानेन्द्रियाँ सबही छोटी हैं और कर्मेन्द्रियाँ सभी बड़ी। इससे यह प्रकट होताहै कि विचार, चाहे कितनेही उच्च-कोटिके क्यों नहों, जबतक उनको क्रियात्मकरूप नहीं दियाजाता, तबतक वे किसीभी कामके नहीं।

तुलसीदासजी कहतेहैं—

कर्म प्रधान विश्व रच राखा,
जो जस कीन, सो तस फल चाखा।

एक बात औरभी ध्यानदेनेकी है कि ज्ञानेन्द्रियोंमें वाणी और कर्मेन्द्रियों में हाथ ही प्रधान हैं; इसलिये मनोवाञ्छित फलोंकी प्राप्तिकेलिये—**'बचन और कर्म'** — दोनोंकीही आवश्यकता है। जब मनुष्य वचनसे और कर्मसे एक होजाताहै, तब उसका लौकिक जीवनही परलौकिक जीवनका साधन बनजाया करताहै। ऐसी दशामें स्वार्थ-वृत्ति और परमार्थ-वृत्ति एकही होजातीहैं। अब यह श्रेष्ठ पुरुष देवता कहलानेका अधिकारी बन जाया करताहै। सचहै — मनुष्य संसारमें ज्ञानयुक्त कर्म (भगवद्भक्ति) के लिये ही उत्पन्न हुआहै। इसीलिये कहाहै —

दुनिया यह कर्म-क्षेत्र है, कोई सैरगाह नहीं।
जबतक है साँस तनमें, तबतक प्रभुको भुला नहीं॥

ओ३म् जापका महत्व

(यह साँसारिक बन्धनोंसे मुक्ति-प्रदाता है)

जिसप्रकार एक मनुष्यकेभी कई-कई नाम होतेहैं; कोई उसे पिता कहकर बोलताहै, तो कोई पुत्र । किसीका वह पति है तो किसीका ससुर । कोई उसे भाई कहताहै, तो कोई मित्र इत्यादि; परन्तु उसका मुख्य नाम यदि — 'मनोहरलाल' — है, तो ये उपाधि-युक्त उसके सभी नाम इस मनोहरलालकेही प्रतीक हैं; इसीप्रकार ईश्वरके भी उसके गुणानुसार अगणित नाम हैं, परन्तु मुख्य नाम जो सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है, वह केवल एक— **'ओ३म'** — ही है, जिसकी महिमा महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीने अपने —**'सत्यार्थ प्रकाश'**—में गाईहै । उन्होंने इसे शारीरिक और मानसिक बन्धनोंका मुक्तिदाता कहाहै और इस ओ३म्के तीन अक्षर — **'अ, उ, और म्'** के भी तीन २ नामोंका वर्णन कियाहै । जहाँ **'अ'** से—**'विराट्, अग्नि और विश्व'**—कहाहै; वहाँ **'उ'** से,—**हिरण्यगर्भ, वायु और तेज'** और **'म्'** से,— **'ईश्वर, आदित्य और प्रज्ञा'** । यदि इसे श्वास-प्रश्वासकेसाथ मानसिकरूप दियाजाय, तो यह —**'ओ३म्'**— मनको काम, क्रोधादिसे निकालकर अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण बनजाताहै ।

ओ३म् के—अ—अक्षरसे

(विराट्, अग्नि और विश्व)

(वात सिद्धिकेलिये)

श्वास-प्रश्वासके साथ ओ३मूका जाप करते-करते जब मनुष्यका त्रिदोष समान होजाताहै, तब वह स्वस्थ्य और निरोगभी होजाया करताहै। उस समय उसकी सुषुम्नान्तर्गत चित्रानाड़ीका द्वार खुलकर स्थूल-प्राणका सम्बन्ध सूक्ष्म-प्राणसे होजाया करताहै। इस अन्तराभिमुखी मार्गका नाम ही — 'विराट्' — है। विराट् शब्द — 'वि + राट्' -- से बनाहै। 'वि' का अर्थ होताहै — 'दूर' — और 'राट्' का अर्थ होताहै —'राज्य'। शरीरमें दो बड़े राज्य हैं — (१) स्वभाव-राज्य, (२) आत्म-राज्य। स्वभाव-राज्यका विधान स्वार्थपर आश्रित है; परन्तु आत्म-राज्यका विधान परमार्थपर। अभ्यास कालमें जब — 'ओ३म्' — का जाप करते-करते अर्थात् उस निर्विकार महाप्रभुका सत्संग करते-करते, उसकी प्राण-वायु स्वभाव-राज्यसे आत्म-राज्यमें प्रवाहित होनेलगतीहै, तब उस व्यक्तिके स्वार्थके भावोंका नाशहोकर परमार्थके भावोंकी जाग्रति होजाया करतीहै। उस निर्विकार महाप्रभुका सत्संग करनेसे साधकको — 'पहिला प्रसाद' — यह मिला करताहै कि वह 'स्वार्थत्यागी और परमार्थी' बनने लगताहै। अबतक जो शक्तियाँ — 'धन, बल और विद्या' — रूपमें उसने संचित कीथीं; उन्हें वह अपने परिचित व्यक्तियोंतकही काममें लाया करताथा, परन्तु अब दृष्टिकोण बदलतेही अपने उस ऐश्वर्य्यको वह अपने और देशके कल्याणकेलिये काममें लानेलगताहै, अर्थात् साधकके हृदयकी संकोचता विशालताकारूप धारण करलेतीहै।

फिर यदि साधक प्राणायामकी सहायतासे अपने सूक्ष्म-प्राणको ऊपर उठानेमें सफल होगया, तो साधककी अब अग्निरूप अवस्था होजाया करती है। अग्निके दो कार्य्य हुआ करतेहैं — (१) जलाना, (२) प्रकाश करना। इस ज्ञानरूपी अग्निसे साधककी सभी काम-वासनाएँ जड़मूलसे ज़लकर उसकी

विवेकमय बुद्धिकी जाग्रति होनेलगतीहै और तत्फलस्वरूप साधक सत् और असत्से भलीप्रकार परिचित हो ज्ञान-प्राप्तिका अधिकारी बनजायाकरताहै।

ज्ञान चार अक्षरोंसे बनाहै —ज् + ञ् + आ + न।

ज् = जायते	= उत्पन्न होताहै;		साधककी वह स्थिति जिसमें वह साँसारिक विषय-वासनाओंसे मुक्त होचुकताहै।
ञ् = गन्धाणु	= साँसारिक विषय;		
आ = आसक्ति	= फँसाहुआ;		
न = नहीं	= निषेधात्मक शब्द		

साधकका सूक्ष्म-प्राण अग्निरूप धारण करतेही, वह इस स्थितिपर आपहुँचताहै कि उनका अब सांसारिक विषयोंसे सम्बन्ध विच्छेद होजाया करताहै, अर्थात् उस निर्विकार महाप्रभुका सत्संग करनेसे साधकको यह दूसरा प्रसाद मिलाकरताहै कि वह — **'विवेकी'** — (सत् और असत् का निर्णय करनेवाला) बनजाया करताहै।

यदि साधक फिरभी — **ओ३म्** — का जाप करतारहा, तो साधकका सूक्ष्म-प्राण और ऊपर उठकर — **'विश्वरूप'** — धारण करलिया करता है। इस दशामें साधकके भाव इतने उदार बनजातेहैं कि अब — **'मेरे और तेरे में'** — अन्तर प्रतीत नहींहोता, अर्थात् उसके लिये सबही समान बनजाया करतेहैं। उसके हृदयमें अब महाप्रभुकी भाँति विश्वप्रेमकी सद्भावनाएँ जाग्रत होउठाकरतीहैं।

अ—अक्षरकी महिमा

'अ' अक्षरका मूलस्रोत मूलाधारपर है जो बातका केन्द्रहै और इसका उच्चारण स्थल कण्ठ है। बातकी सिद्धि होतेही साधक—**'स्वार्थत्यागी, विवेकी और विश्व-प्रेमी,'**—बनजाया करताहै अर्थात् उस महाप्रभुके तीन बड़े गुणोंका साधक में समावेश होजाया करताहै। यह है —**'ओ३म्-जाप'**— की महिमा।

ओ३म् के—उ—अक्षरसे

हिरण्यगर्भ, वायु और तेज

(पित्त सिद्धिके लिये)

साधक 'ओ३म्' का जाप करते-करते जब अपने सूक्ष्म-प्राणको मणिपूर में लेआताहै, तव सर्वप्रथम उसका सूक्ष्म-प्राण —'हिरण्यगर्भ'— का रूप धारण करलिया करताहै। हिरण्यगर्भ, शब्द बनाहै — 'हिरण्य + गर्भ' — से 'हिरण्य'—का अर्थ यहाँ होताहै —'प्रकाश'—और 'गर्भ' का अर्थ होताहै 'अन्दर'। फिर हिरण्यगर्भका अर्थं हुआ — 'अन्दरसे बाहरकी ओर प्रकाशहोना' — बहिर्जगत्से अन्तर्जगत्में अर्थात् स्थूल-प्राणसे सूक्ष्म-प्राणमें या यों कहिये कि स्वभाव-राज्यमें जानेका जो मार्गहै, वह बन्द पड़ा रहताहै, परन्तु सूक्ष्म-प्राणके मणिपूरमें आतेही वह मार्ग अर्थात् चित्रा-नाड़ी खुल जायाकरतीहै और अब बहिर्जगत्की स्वार्थमयी वृत्तियोंकाभी अन्त होने लगताहै। जैसे नदीका जल समुद्रमें पड़नेपर समुद्रकाही जल बनजाताहै, ठीक वैसेही परमार्थभावकी जाग्रति होतेही स्थार्थभावका नाश होजाया करता है। साधक अब मन, वचन और कर्मसे परोपकारीही वनता चलाआताहै और एक दिन फिर ऐसाभी आजाताहै, जबकि वह **'मन, बचन और कर्म'** से एकही होजाताहै। इस स्थितिपर पहुँचकर साधक एक सच्चा परोपकारी बनजाया करताहै।

साधक 'ओ३म्' का जाप करते २ अपने सूक्ष्म-प्राणको और ऊपर उठाकर वायुरूप बनालिया करताहै, जिससे उसके बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्में समता आजाया करतीहै, अर्थात् उसके स्थूल-प्राणकी वायु पुष्टहोकर तो उसे नीरोग और स्वस्थ बनादेतीहै और उसके सूक्ष्म-प्राणकी वायु पुष्टहोकर मानसिक विकारोंका अन्तकर उसकी बुद्धिको स्थिर करदिया करतीहै। उस निर्विकार महाप्रभुके सत्संगसे अब उस साधककी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ पूर्णरूपसे काम करने लगतीहैं।

शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंकी जाग्रति होतेही साधकका सूक्ष्म प्राण और ऊपर उठकर तेजकारूप धारण करलिया करताहै। इस दशामें साधककी अनेक मानसिक शक्तियोंकी जाग्रति हुआकरतीहै। इस समय अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ जो मनुष्यत्वको प्रकट करतीहैं, साधकको प्राप्त होजाया करतीहैं अर्थात् अब वह 'उदार, गम्भीर, और छलकपटसे रहित' आदि गुणोंसे सम्पन्नहो मनुष्य कहलानेका अधिकारी बनजाया करताहै।

उ—अक्षरकी महिमा

'उ'—अक्षरका मूलस्रोत —'मणिपूर'— पर है, जो पित्तका केन्द्र है परन्तु उच्चारण होठोंपर होताहै। पित्तकी सिद्धि होतेही साधक एक सच्चा —'परोपकारी, शारीरिक तथा मानसिक विशेषताओंमें उदाहरणीय और दिव्य गुणोंसे युक्त मनुष्य'— कहलानेका अधिकारी बनजाया करताहै।

ओ३म् के—म्—अक्षरसे
ईश्वर, आदित्य और प्रज्ञा
(कफ सिद्धिकेलिये)

साधक '**ओ३म्**' का जाप करते-करते अर्थात् उस निर्विकार महाप्रभुका सत्संग करते २ उसका सूक्ष्म-प्राण जब विशुद्धि-चक्रपर पहुँचजाताहै, तब यह ईश्वरकारूप धारण करलिया करताहै। '**ईश्वर**' कहतेहैं —'**धनी**'— को। अब इसकी प्रकृतिपर विजय प्राप्ति हो जायाकरतीहै। मनुष्य की सूक्ष्म-नाडियोंका केन्द्र है —'**कण्ठस्थ विशुद्धि-चक्र**'—। वहाँसे जो ध्वनि अक्षराकारमें बदलकर बाहर निकला करतीहै, वह शुद्ध हुआ करतीहै। उन ध्वनियोंसे बनेहुये शब्द दूसरोंके लिये '**वर और शापका**' काम कियाकरतेहैं; परन्तु एक ईश्वर-भक्त कभी भी अपनी शक्तियोंका दुरुपयोग नहीं करता। उस निर्विकार महाप्रभुका सत्संग करते २ इस स्थितिमें पहुँचनेपर साधककी

वाणीमें **'सत्यता और मधुरता'** आजाया करतीहै। अब उसका जीवन-स्तर जनसाधारणसे बहुत ऊँचा उठआनेकेकारण वह सूर्य्यवत् बनजायाकरताहै अर्थात् उसमें सूर्य्यके समान तेज (पूर्ण विद्वता); वर्धन शक्ति (पूर्ण उदारता) और नियमित जीवनकी विशेषताएँ जाग्रत् होजायाकरतीहैं। अन्तमें उस साधकका सूक्ष्म-प्राण —**'प्रज्ञा'**— का रूप धारणकर उसे सदैवकेलिये साँसारिक बन्धनोंसे मुक्त करादेताहै।

ओ३मूका जाप जिसे — **'प्रणव-जाप'** — भी कहतेहैं, वस्तुतः शारीरिक और मानसिक शक्तियोंका जन्मदाताहै। इस प्रणवकी सहायता से साधक अष्ट-सिद्धियों और नव-निद्धियोंका स्वामी बनजाया करताहै। सदैव के लिये वह स्वयं तो मुक्त होताहीहै; परन्तु आनेवाली सन्तानोंकेलियेभी एक सच्चे पथप्रदर्शकका कार्य्यकरनेकेनाते उसका जीवन स्वर्णमय अक्षरोंमें लिखने योग्य बनजाताहै। इतिहासके पन्नोंपर वह अमर होजाया करताहै।

म्—अक्षरकी महिमा

यह अर्धमात्रिक अक्षरहै। 'म्' की सीमा कफके अन्तर्गत है। कफकी सिद्धि होतेही साधकका प्रकृतिपर शासन होजाताहै; वह एक सच्चा पथ-प्रदर्शक बनजाताहै; और स्वयंतो जीवन-मुक्त अवस्थामें पहुँचताहीहै; परन्तु उसके अनुयायीभी सच्ची शान्ति प्राप्तकरनेके अधिकारी बनजातेहैं। मानव-जातिकेलिये प्रणव-जापसे अधिक कल्याणकारी कोई जाप अन्य नहीं। यहहै **'ओ३म्-जाप'** की महिमा।

मार्जन मन्त्र[1]

(स्वार्थमयी दूषित वासनाकाभी त्याग)

इन्द्रियोंमें बल और यश प्राप्तिकी भावनाभी स्वार्थके कारण
हृदयकी संकुचितताको लियेहुये होसकतीहै। इस
दूषित मनोवृत्ति (वासना) के कारण, जबतक
इन्द्रियोंमें परमात्म-भावकी जाग्रति न होगी,
तबतक इन्द्रियोंमें पवित्रता आयेगीही
नहीं और इन्द्रियोंमें पवित्रता
आये बिना अन्तःकरणकी
शुद्धि भी पूर्णरूपसे
होनी असम्भव है।

इन्द्रियोंकी पवित्रताका उपाय

(ईश्वर-भक्ति)

मनुजी कहते हैं— 'अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।' शारीरिक अंग जलसे शुद्धहोतेहैं, और मन सत्य बोलनेसे शुद्धहोताहै; परन्तु महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती कहतेहैं–'इतीश्वरनामभिर्मार्जनं कुर्यात्' आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे अन्तःकरण ईश्वरके गुणानुवादसेही शुद्ध हुआकरताहै।

---

[1] मार्जनका अर्थ होताहै— 'शुद्धकरना, साफकरना या पवित्रकरना। यदि इन्द्रियोंका झुकाव परमात्म-भावकी ओर न कियागया, तो वे शक्तिहीन तथा अपवित्र होकर बुरे संस्कारोंका निर्माण करने लगेंगी और यही मनुष्यके पतनका कारण बन जायेगा। (४)

ओ३म्

भूः पुनातु शिरसि; भुवः पुनातु नेत्रयोः;
स्वः पुनातु कण्ठे; महः पुनातु हृदये;
जनः पुनातु नाभ्याम्; तपः पुनातु पादयोः;
सत्यं पुनातु पुनः शिरसि; खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ।

शब्दार्थ

हे सर्वव्यापक, सर्वगुणसम्पन्न परमात्मन् ! मेरे शिर, नेत्र, कण्ठ हृदय, नाभि, पाँव आदि सब अंगोंको बलवान और यशस्वी ही नहीं बल्कि पवित्र भी कीजिये ।

मार्जन-मन्त्रकी यौगिक व्याख्या

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि

(सदाचारही मनुष्यका मूल्य है)

'भूः' कहतेहैं — 'सत्' — को, और सत्से बनीहै — 'सत्ता'। जिस प्रकार सारे विश्वका आधार — 'ईश्वर-सत्ता' — है, उसीप्रकार इस शरीर का आधारभी मस्तिष्क ही है। मस्तिष्कमेंही —'ज्ञान और विज्ञान'—का दीपक जलाकरताहै। मस्तिष्कमें ज्ञान और विज्ञान जितनाभी उस प्रभुके नियमानुकूल एकत्रित कियाजायेगा, चाहे वह भौतिक हो, या आध्यात्मिक उतनाही अन्तःकरणको पवित्र करनेवाला होगा और वह फिर एक दिन अन्तःकरणको पूर्णरूपसे पवित्र करही देगा।

---

[1] ईश्वर-भक्तिके भाव मनुष्यमें सदाचारसेही उत्पन्न हुआ करतेहैं। सदाचार का जन्म ईश्वरकी सत्ताका उचित प्रयोग करनेसेही हुआकरताहै। ईश्वर की सत्ता मनुष्यमात्रको उसके पुरुषार्थानुसार धन, बल और विद्याके रूपमें मिलीहुईहै।

मनुष्यके शरीरमें मस्तिष्क एक महत्वपूर्ण अंग है, जहाँसे सारे शरीर का संचालन होतारहताहै । मस्तिष्ककी पवित्रतापरही सारे शरीरकी पवित्रता निर्भर है । यह पवित्रता मनुष्यको सदाचार (ईश्वर-सत्ताके उचित प्रयोग) सेही प्राप्त हुआकरतीहै । मनुष्यका मूल्यही उसका सच्चरित्र होताहै । सदाचारसेही मनुष्यमें —'ईश्वर-भक्ति'—का प्रादुर्भाव हुआकरताहै । ईश्वर-भक्तिसे [१] ही मनुष्यके अन्तःकरणकी पूर्णरूपसे शुद्धि हुआकरतीहै ।

मस्तिष्कमें एकत्रित कियाजानेवाला—'सद्-ज्ञान'—जहाँसे और जिसकेद्वारा एकत्रित कियाजाय, वहभी पवित्र होना चाहिये। इसीलिये—'मार्जन मन्त्र'—में आयाहै

ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः

(ज्ञानप्राप्तिमें दृष्टिकोण शुद्धरहना चाहिये)[२]

'भुवः' कहतेहैं 'चित्' को और 'चित्' कहतेहैं 'ज्ञानको' । ज्ञान मस्तिष्कमें सांसारिक पदार्थों और आध्यात्मिक तत्त्वोंके सम्बन्धमें ज्ञानेन्द्रियों द्वारा एकत्रित कियाजाताहै, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों में इस कार्यकेलिये मुख्य इन्द्रिय 'नेत्र'—ही है, जिसके द्वारा मनुष्य संसारका हरप्रकारका ज्ञान और विज्ञान मस्तिष्क में एकत्रित करतारहताहै । नेत्रोंका स्वाभाविक धर्म है—'पदार्थोंका देखना' वह शुभ दृष्टिसेभी होसकताहै और अशुभ दृष्टिसेभी, अर्थात् भोगकरने की भावनासेभी और त्यागकी भगवानसेभी । नेत्रोंका जितना घनिष्ट सम्बन्ध ईश्वर-भक्ति (ज्ञानसहित कर्मसे) होजायेगा, उतनाही इनका कार्य्यभी पवित्र बनजायेगा । नेत्रोंकी पवित्रता केवल मनुष्यके दृष्टिकोण पर निरभर है । नेत्र जब किसी सुन्दर पदार्थको देखतेहैं, तब इनका यह तो स्वाभाविक धर्म है कि

---

[१] ईश्वर-भक्तिकी प्राप्तिही जीवनका सबसे बड़ा कार्य्य है । जो इस महान् कार्यमें सफल होगया, वह जीवन-मुक्त भी होगया ।

[२] पवित्रनेत्र-दृष्टिसेही इन्द्रियोंमें—'प्रत्याहारका भाव'—बल पकड़ाकरताहै ।

ये उसे भोगनेकी इच्छा कियाकरतेहैं; परन्तु यदि मनुष्यने ईश्वर-भक्तिद्वारा अपने मनको ऐसा सुयोग्य बनालियाहै कि किसीभी सुन्दर पदार्थपर उसकी दृष्टि पड़ते समय, उससे विषय-भोगकी इच्छातो उत्पन्न न हो, बल्कि ऐसा विचार उत्पन्नहोजाय कि जिसने यह सुन्दर पदार्थ बनायाहै, यदि मैं उसीका प्रिय बनजाऊँ, तो मित्रनातेसे मैं सारी सुन्दरताकाही स्वामी बनजाऊँगा ?। फिरउस व्यक्तिका यह भाव उसके नेत्रोंकी पवित्रताका ही कारण न बनेगा, बल्कि मस्तिष्कमें जो ज्ञान नेत्रोंद्वारा एकत्रित होगा, वहभी पवित्रही होगा और मनुष्यके अन्तःकरणकी पवित्रताकाही कारण बनेगा; इसलिये मनुष्यके नेत्र-दृष्टि-कोणका पवित्रहोना अन्तःकरणकी पूर्ण शुद्धिकेलिये अनिवार्य्य है।

शुद्ध दृष्टिकोणसे मस्तिष्कमें एकत्रित ईश्वरीय ज्ञान और विज्ञानका भी शुद्ध रीतिसेही प्रयोग होनाचाहिये, ताकि अन्तःकरणके पूर्णरूपसे शुद्धहोनेमें कोई बाधा उपस्थित न हो;
इसीलिये —'**मार्जन मन्त्र**'—में आयाहै

ओ३म् स्वः पुनातु कण्ठे

(व्यवहार सत्यता और मधुरताकेसाथ हो)

'**स्वः**' कहतेहैं—'**आनन्दको**'। कण्ठ है वाणीका स्थान और वाणी है व्यवहारका साधन। कण्ठकी पवित्रता इसी बातपर निर्भर है कि जो ज्ञान नेत्रोंद्वारा मस्तिष्कमें एकत्रित कियागयाहै उसका प्रयोग मीठे शब्दोंसे व्यवहारमें लायाजाय, ताकि यह अभ्यास एक दिन अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण बन आनन्ददायक हो। व्यवहारमें सर्वप्रथम वाणीकाही प्रयोग हुआ करताहै। मनुष्य चाहे दूसरोंको कितनाही लाभ पहुँचातारहे, यदि उसकी वाणीमे मधुरता और पवित्रता नहीं है, तो वह कभीभी जनता जनार्दनका सर्वप्रिय नहीं बनसकेगा और ऐसे मनुष्यका जीवन सदैव असफलही रहेगा; इसलिये जीवनमें आनन्द प्राप्तिकेलिए प्रत्येक व्यक्तिको व्यवहार-कुशलभी मीठी और पवित्र वाणी द्वाराही होनाचाहिये।

सच कहाहै—'ज़बा शीरी तो मुल्क गीरीं'—अर्थात् मधुर भाषण अकेलाही ऐसा अमोघ अस्त्रहै, जिसकी सहायतासे संसारको विजय किया जासकताहै। अच्छा व्यवहार-कुशल वही हुआकरताहै, जिसकी वाणीमें मधुरता और पवित्रता है। ऐसा व्यक्तिही अपने इस अभ्याससे आगे चलकर अपने अन्तःकरणको पूर्णरूपसे शुद्धकरनेमें सफल होजाया करताहै।

व्यवहारमें वाणीकी मधुरता और पवित्रताकेसाथ-साथ अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धिकेलिये हृदयकी महती उदारता भी अनिवार्य्य है। इसीलिये—'मार्जन मन्त्र'— में कहाहै

महः पुनातु हृदये

(हृदय सद्भावनाओंकेसाथ उदारतासे भी परिपूर्ण हो)

'महः' शब्दके दो अर्थ होतेहैंः—(१) महती उदारता (२) महाप्रभु परमात्मा। हृदय रक्तकाभी स्थान है और भावनाओंकाभी। मनुष्यका सम्मन्ध जितनाभी उस महाप्रभुसे होताचलाआयेगा, अर्थात् वह महाप्रभुके नियमोंका जितनाभी सुन्दरतासे पालन करताचलेगा, उतनाही उसका रक्तभी शुद्ध होजायेगा और फिर उसकी भावनायेंभी उतनीही पवित्रहोकर स्वार्थ और राग-द्वेषकी दूषित वृत्तियोंसे वह घृणा करनेलगेगा। महान् और विशाल हृदय होनेपरही परकल्याणकी शुभभावनायें उत्पन्न हुआकरतीहै। ऐसी पवित्र भावनाओंसेयुक्त [१] व्यक्तिही सच्चा सदाचारी हुआकरताहै। ऐसे सहृदय पुरुषोंकी वाणी सदैव मधुमय, हितकर और सुखदायी हुआ करतीहै और उनके व्यवहारमें तो सत्यता, पवित्रता और उदारता कूट-कूट कर भरीरहतीहै। संसारका कल्याणही ऐसे महात्माओंसे हुआहै। लौकिक जीवनको पारलौकिक जीवन बनानेमें वाणीकी मधुरता और पवित्रताके साथ-साथ उदारताकीभी आवश्यकता है, क्योंकि इसी अभ्याससे मनुष्यका अन्तःकरण पूर्णताको प्राप्त हुआकरताहै।

---

[१] सद्भावना—उच्च दृष्टिकोण, अटूटश्रद्धा, हार्दिक लग्न और अथक परिश्रम

हृदयकी विशालता और उदारताका मूलस्रोत ब्रह्मचर्य्यही है जिसका पालनभी अन्तःकरणकी पूर्णरूपसे शुद्धिकेलिये अनिवार्य है; इसीलिये —'मार्जन-मन्त्र'—में कहाहै

ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम्

(ब्रह्मचर्य्य रक्षाही मनुष्यत्वका जन्मदाता है)

'जनः' शब्दके दो अर्थ होतेहैं:--(१) जनन-शक्ति अर्थात् ब्रह्मचर्य्य; (२) संसारका उत्पन्न करनेवाला महाप्रभु ईश्वर। नाभी उदरकोभी कहते हैं और वीर्य्यकोषकोभी। यहाँ वीर्य्य कोषसे ही तात्पर्य्य है।

ब्रह्मचर्य्य शब्द बनाहै—'ब्रह्म+चर्य्य'—से। 'ब्रह्म' का अर्थ होताहै 'ब्रह्म-ज्ञान'। यह वह अपरिवर्तनीय ज्ञान है जो सदैव एक रस रहाकरताहै। विद्वानोंने समय-समय पर इसकेलिये अनेक पर्य्यायवाची शब्दोंका प्रयोग कियाहै। इसे—'सत्यसनातन-ज्ञान, वैदिक-ज्ञान, सहज-ज्ञान, सद्-ज्ञान'—आदि नामोंसे पुकाराहै। आज इसेही सचाई कहतेहैं। मैं भी यहाँ ब्रह्म-ज्ञानकेलिये सद्-ज्ञानका प्रयोग कररहाहूँ। 'चर्य्य' का अर्थ होताहै —'आचरण'— और मनुष्यमात्रका आचरण, उसके तीन प्रकारके कार्य्योंका अर्थात् 'आहार, व्यायाम और व्यवहार' का सामूहिकरूप हुआकरताहै। फिर ब्रह्मचर्य्यका अर्थ हुआ—'सद्-आहार, सद्-व्यायाम और सद्-व्यवहार अर्थात् सादा खाना, सादा चलना और सादा रहना।'

नाभि (वीर्य्य-कोष)की पवित्रता सच्चे ब्रह्मचर्य्यपर निर्भर है। जिसका आहार विकाररहित होगा, जिसका व्यायाम पायेहुये अन्नमेंसे रस और मल को उचितरूपसे पृथक करनेवाला होगा और मलकोभी स्वाभाविक मार्गोंसे बाहर फैंकनेवाला होगा और रससे शुद्ध-रक्त बनानेवाला होगा, वही सच्चा ब्रह्मचारी कहलानेका अधिकारीभी होगा।

मनुष्यका जितनाभी घनिष्ट सम्बन्ध महाप्रभुसे होगा, उतनाही उसका वीर्य-कोष शुद्ध और पवित्र होगा। नाभि जननशक्ति का केंद्रभी है। नाभिकी पवित्रता ब्रह्मचर्य्यसे हुआकरतीहै। ब्रह्मचर्य्य स्वास्थ्यका मूल-मन्त्रहै। सुन्दर स्वास्थ्य हृदयके विकासमें सहायक है और हृदयके विकाससेही हृदय में विशालता और उदारता आयाकरतीहै। एक सच्चे ब्रह्मचारीका —'अन्तःकरण'—ही पूर्णरूपसे शुद्ध हुआकरताहै।

—∞:∞—

ब्रह्मचर्य्यकी रक्षाके साथ २ मनुष्यकी तपस्या और उसका त्याग भी अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिये अनिवार्य्य हैं; इसीलिये —'मार्जन-मन्त्र'—में कहाहै।

ओ३म् तपः पुनातु पादयोः

(त्याग और तपस्या जीवन-विकासमें आवश्यक हैं)

'तपः' के दो अर्थ होतेहैं — (१) **तपस्या और त्यागका जीवन;** (२) **महा तपस्वी परमात्मा,** जिसने बड़े पुरुषार्थसे इस विश्वकी रचना कीहै और वहभी त्याग और निस्स्वार्थ भावकेसाथ। पद कहतेहैं —**'पैर'**—को।

जिस प्रकार महातपस्वी परमात्माने इस विश्वके भारको उठारखाहै, उसी प्रकार पैरोंनेभी सारे शरीरका भार अपनेऊपर लियाहुआहै। मनुष्य जितनाभी ईश्वर-भक्त होगा, उतनाही उसका दृष्टि-कोण ऊँचा, श्रद्धा अटूट, लग्न हार्दिक और परिश्रम अथक होगा। ऐसा व्यक्तिही तपस्वी और त्यागी हुआकरताहै। तपस्या और त्यागकी भावनाओंसे युक्तही सच्चा ब्रह्मचारी हुआकरताहै। जीवनकी उच्चता—**'तपस्या और सेवाभावमेंही'**—निहित है; इसलिये अन्तःकरणकी पूर्ण शुद्धि ब्रह्मचर्य्य रक्षाके साथ-साथ तपस्या और त्यागपर आश्रित है।

मनुष्यको अपने जीवनमें तपस्वी, त्यागी, ब्रह्मचारी, उदार, सत्यवादी
और मधुरभाषी तो होनाही चाहिये, ताकि उसका मन और
इन्द्रियाँ उसके वशीभूत रहाकरें। जब शरीरका प्रत्येक
अंग पूर्णरूपसे विकसित होजाताहै, तबही उसका
मस्तिष्क, ईश्वरीय ज्ञान और विज्ञानसे
भरपूर होकर उसके अन्तःकरणकी
शुद्धिका कारण बनाकरताहै,
इसीलिये—**'मार्जन-मन्त्र'**—
में कहाहै।

ओ३म् सत्यं पुनातु पुनः शिरसि

(मस्तिष्क शुद्ध विचार और शुभ संकल्पोंका भण्डार हो)

मस्तिष्कही समस्त शरीरका सञ्चालन कियाकरताहै। यदि यह शुद्ध विचारों और शुभ-संकल्पोंका भण्डार है अर्थात् यथार्थ ज्ञान और विज्ञान का केन्द्र है, तो सबही शारीरिक अंगोंमें पवित्रताका सञ्चार होतारहेगा। मस्तिष्ककी पवित्रतापरही शारीरिक अंगोंकी पवित्रता निर्भर है। यदि मस्तिष्कमें मिथ्याज्ञान या अज्ञानका प्रवेश होगया, तो सारे शरीरका सञ्चालन ही बिगड़ जायेगा; इसलिये मस्तिष्कमें एकत्रित होनेवाला 'ज्ञान और विज्ञान' चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, पवित्रही होनाचाहिये। फिर वह व्यक्ति सद्गुणोंसे सम्पन्नही होगा और उसका अन्तःकरण सबही विकारोंसे रहित होगा। ऐसे शुद्ध अन्तःकरणवाले व्यक्तिही मन और इन्द्रियोंपर विजयीहोकर —**परमानन्द'**— का अनुभव कियाकरतेहैं।

शारीरिक अंगोंकी पवित्रतामेंही जीवन-मुक्ति निहित है, और उनकी अपवित्रतामें सारे पाप विद्यमान हैं, जो जीवनके बन्धनका कारण बनेहुयेहैं। ज्यों २ इन्द्रियोंमें जगत्-कल्याणकी भावनाएं उत्पन्न होनेलगतीहैं, त्यों २ उनकी कालिमाभी हटतीजातीहै और यही अन्तमें मनुष्यके अन्तःकरणकी शुद्धिकाकारण बनजाया करताहै; इसीलिये —'मार्जन-मन्त्र'—में कहाहै।

ओ३म् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र

(अमर-कीर्ति प्राप्तकरना ही मनुष्यका जीवन-लक्ष्य हो)

…'खं' का अर्थ होताहै — 'आकाश' और आकाश सर्वव्यापकताका प्रतीक है। महाप्रभु परमात्मा आकाशकी भाँति सर्वव्यापक है। महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती बतलातेहैं कि मनुष्य अपने बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् को महाप्रभुकी भक्तिरूपी जलसे स्वच्छ बनाले, ताकि उसका अन्तःकरण आकाशके सदृश निर्मल बनजाय। इस अवस्थाका नामही जीवन-मुक्ति है।

ऐसे जीवन-मुक्त व्यक्तियोंकी कीर्ति संसारमें ऐसेही फैलजाया करती है, जैसेकि ब्रह्मकी सारे ब्रह्माण्डमें। चिदाकाशके शुद्ध होनेपरही ब्रह्मके दर्शन हुआकरतेहैं। आत्मा और परमात्माके बीचमें जो अन्तःकरणरूपी परदा पड़ाहुआहै, ऐसे जीवन-मुक्त व्यक्तियोंका वह परदा हटजाया करताहै, अर्थात् उनका चिदाकाश स्वच्छ और पवित्र होजाताहै और तत्फलस्वरूपही उनका मेल सीधा परमात्मासे होजाताहै। ऐसे महापुरुष शरीर त्यागनेपर सदैवकेलिये जीवन-मरणसे मुक्तहोकर अमर-कीर्ति प्राप्त कियाकरतेहैं। यही अन्तःकरणकी शुद्धिसे लाभ है।

प्राणायाम

अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिये यह एक क्रियात्मक साधन है; जिससे स्थूल-प्राणको सूक्ष्म-प्राणमें बदलनेकी शिक्षा मिलाकरतीहै, और इसके तीन भेद होते हैं—

शारीरिक प्राणायाम	मानसिक प्रणायाम	सामाजिक प्राणायाम
इससे शरीर स्वस्थ और नीरोग होताहै तथा स्वार्थकी भावनाएँ बल पकड़ा करतीहैं।	इन्द्रियों सहित मन बहिर्जगत्से अन्तर्जगत् में चलाजाताहै और फिर परमार्थकी भावनाएँ बल पकड़जातीहैं	अमर-कीर्ति प्राप्तहुआ करतीहै और जीवात्म आत्म-ज्ञान प्राप्तकर अपने कर्तव्यपर जुट जाया करताहै।

प्राणायाम विधि

प्राणायाम एक अलौकिक अस्त्र है जो साधकको प्रकृतिपर विजय दिलायाकरताहै अर्थात् प्राणायाम की सहायतासेही साधक अन्तःकरण की शुद्धिकर प्राकृतिक बन्धनोंसे मुक्त हुआकरताहै।
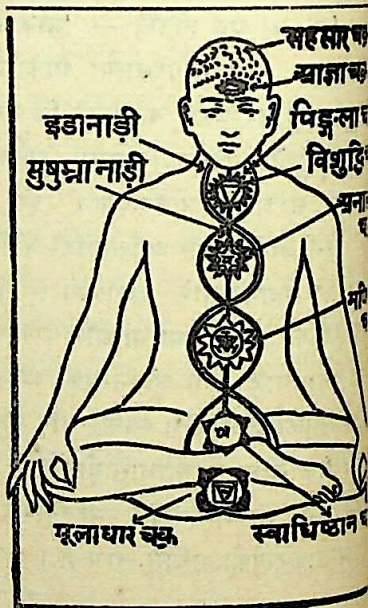
शारीरिक प्राणायाम

(शरीरको स्वस्थ और नीरोग रखनेकी साधना)

शरीरकी नीरोगताकेलिये नियमित जीवनही स्थूल-प्राणकी पुष्टि कियाकरताहै और इसेही —'शारीरिक प्राणायाम'— कहतेहैं।

नियमित जीवन

सद्-आहार	सद्-व्यायाम	सद्-व्यवहार
आहार मनुष्यका देश, काल आयु और व्यवसायानुकूलही होना चाहिये; परन्तु वहभी मादक पदार्थोंसेरहित हो और उसमें भी — १—गर्मी पैदाकरने वाले पदार्थ। २—माँस-वर्धक पदार्थ। ३—फुर्ती पैदा करने वाले पदार्थ; ४—रक्त शुद्धकरनेवालेपदार्थ ५—और मल निस्सारक पदार्थ होने चाहिये।	भुक्तान्नमेंसे रस और मलको पृथक् करनेवाला ही प्राकृतिक व्यायाम होना चाहिये; और वह भी देश, काल, आयु, और व्यवसायानुकूल हो ताकि शारीरिक और मानसिक उन्नतिकेलिये भुक्तान्नमेंसे उत्पन्नहुये रस से पर्याप्त ओज बना दियाकरे और मलोंको स्वभाविक मार्गोंसे बाहर फैंकदियाकरे।	अपनी उपार्जित शक्तियों (धन, बल और विद्या) का पारस्परिक आदान और प्रदान अनधिकार चेष्टाओंसेरहित हो, ताकि प्रत्येक व्यक्ति दूसरेकी हृदयसे सहायता कर-सके।

स्थूल-प्राणकी महती शक्तिही इन्द्रियोंका संचालन कियाकरतीहै। यदि वह शक्ति नियमित रूपसे काम करतीरहे, तो शरीर स्वस्थ और निरोग रहताहै। फिर सौ वर्षतक भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। शारीरिक रक्षाकेलिये नियमित जीवनकी आवश्यकताहै और नियमित जीवनकेलिये —'शारीरिक प्राणायाम'— की, ताक़ि मन विषयोंकीओर अनायासही दौड़ न लगातारहे। सच कहाहै —जैसा खाय अन्न, वैसा होजाय मन।

प्राण दो प्रकारका होताहै — १. स्थूल प्राण; २. सूक्ष्म प्राण। स्थूल-प्राण तो रक्त और वायु से बनताहै तथा सूक्ष्म-प्राण वीर्य्य और वायु से। स्थूल-प्राण और सूक्ष्म-प्राण दोनोंमें ही वायुकी प्रधानता है। भोजन से रक्त और रक्तसे वीर्य्य बनाकरताहै। रक्त जीवनकी दैनिक आवश्यकताओंकी पूर्ति कियाकरताहै और वीर्य्य शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंका जन्मदाता है।

यदि भुक्तान्नमें से उत्पन्नहुये रक्त में ८० % खारीपन और २०% खट्टापन हो, तो वह रक्त जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्तिकरनेमें सफल रहा करताहै। जीवनकी दैनिक आवश्यकतायें तीन प्रकारकी हुआकरतीहैं —

१—सम्पादित कियेहुये दैनिक कार्योंमें व्यय हुई शक्तिकी पूर्ति करना;

२—मल-निसारक अंगोंमें शक्ति पहुँचाना, ताकि मलोंको स्वाभाविक मार्गोंसे बाहर फेंककर वे शरीरको नीरोग और स्वस्थ बनाये रखें;

३—बचेहुये रक्तसे वीर्य्य बनकर शारीरिक अंगोंकी पुष्टि होसके और मानसिक शक्तियाँ उत्पन्न होती रहें।

परन्तु रक्तकी शुद्धि और वीर्यकी पुष्टि वायुपर निर्भर है। जो वायु श्वासकेसाथ फेफड़ोंमें जाताहै, वह रक्तको शुद्धभी कियाकरताहै और उस रक्तकेसाथ मिलकर जीवनकी दैनिक आवश्यकताओंकी पूर्तिकरताहुआ सारे शरीरमें भ्रमणभी कियाकरताहै। रक्त जितना भी शुद्ध और पुष्ट होगा, वीर्य्यभी उतनाही शुद्ध और पुष्ट बनेगा।

फेफड़ोंमें सात करोड़ सेल्स हैं, जिनकेलिये मनुष्यको प्रतिदिन ४ सहस्र से ६ सहस्र घनफुट वायु दैनिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेकेलिये चाहिये। इस वायुकी पूर्तिकरनेकी रीतिको जाननाही — 'शारीरिक प्राणायाम' — है, जो शरीरको स्वस्थ और नीरोग रखनेका साधन है। यह साधन श्वास-प्रश्वास क्रियापर आश्रित है। स्थूल-प्राणकी पुष्टिकेलिये श्वास-प्रश्वास की क्रियायें अचूक अस्त्र हैं।

शारीरिक प्रणायामको क्रियात्मक रीति

(स्थूल-प्राणको शक्ति श्वास-प्रश्वाससे ही मिलतीहै)

श्वास-प्रश्वासकी साधारण रीति

(हर समय और हर अवस्थस्थामें)

मनुष्य हर घड़ी श्वासतो लेता और छोड़ताही है, चाहे वह बैठारहे, या चलतारहे; परन्तु हर एक प्राणीको श्वासलेना और छोड़ना नहीं आता, इसीलिये उसका रक्त और वीर्य्य आवश्यकतानुकूल शुद्ध नहींहोता। श्वास लेनेमें निम्नलिखित बातोंका ध्यानरखना चाहिये—

१—जो श्वास खींचा जाय और छोड़ाजाय, वह लम्बा हो,

२—श्वास खींचनेमें जितना समय लगे, छोड़नेमें दुगुना लगना चाहिये, क्योंकि बाहरसे अन्दर जानेमें हवाको कोई रुकावट नहीं, परन्तु अन्दर से बाहर निकलनेमें टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग है; इसलिये श्वास छोड़नेमें समयकी अधिक आवश्यकता पड़तीहै।

३—श्वास खींचते समय छातीको फूलानी चाहिये और श्वासछोड़ते समय सुकेड़नी। छातीका फैलना यदि तीन इञ्चतक पहुँचजाय, तो समझ लीजिये कि अब सात करोड़ सेल्स शुद्ध वायुसे भरने लगगयेहैं;

४—सीधा बैठना और सीधा चलना चाहिये, ताकि नाड़ी-जालके अन्दर रक्तका सञ्चार भलीप्रकार होसके;

५—मूलबन्ध हरघड़ी लगाही रहना चाहिये। इसका अभ्यास जितना भी अधिक होगा, उतनाही लाभभी शीघ्र और अधिक होगा। गुदाका ऊपरकीओर संकोचनही मूल-बन्ध कहलाताहै। जंघायें सख्तकर लीजिये, मूलबन्ध स्वतः ही लगजायेगा।

(दूसरी विधि)

श्वास-प्रश्वासकी असाधारण रीति

(प्रातः और सायंकाल शौचादिसे निवृतहोकर करनीचाहिये)

१— सिद्धासन या पद्मासन लगाकर बैठजाइये और मूलवन्ध लगालीजिये

२—एक हाथका अँगूठा और एक अँगुली नाकके ऊपर दोनोंओर इसप्रकार रखलीजिये कि जिससे श्वास खींचाजाय, उसेतो खुलारखिये और दूसरेको अँगुली या अँगूठेसे वन्दकरलीजिये। दूसरे हाथकी मुद्रा बनालीजिये अर्थात् अँगूठेकी जड़में पासकी अँगुली सटालीजिये। यह एक छल्लासा बनजायेगा इसे ही मुद्रा कहतेहैं। ऐसा करनेसे फेफड़ोंसे चलीहुई वायु-धारा (current) अँगूठेकेद्वारा बाहर फिर न निकलसकेगी।

३—श्वास खींचने और छोड़नेकी रीति—

अ—गर्मियोंमें पहिले बायें नथनेसे श्वास खींचिये और सर्दियोंमें पहिले दाहिने नथनेसे।

आ—फिर दूसरेसे छोड़दीजिये।

इ—खींचनेमें जितना समय लगे, छोड़नेमें दुगना समय लगानाचाहिये

उ—अब जिससे श्वास छोड़ा है उसीसे खींचिये। बस, इसी क्रमसे लगभग दस मिनटतक दुहराते रहिये।

ऊ—श्वास खींचते समय छाती फूले और छोड़ते समय सुकड़े।

ए—श्वासको इतना धीरे २ खींचिये और छोड़िये कि छातीपर अधिक जोर न आयें और न यह मालूमपड़े कि आप श्वास-क्रिया करनेमें लगा रहेहैं।

उपरोक्त साधारण और असाधारण श्वास-क्रियाओंका यदि नित्य निरन्तर अभ्यास कियागया, तो शरीरमें किसीभी प्रकारका रोग उत्पन्न न होगा। यही शारीरिक प्राणायाम है।

मानसिक प्राणायाम

(स्थूल-प्राणको सूक्ष्म-प्राणमें बदलनेकी शैली)

प्राणायाम

१ स्थूल-प्राणकी पुष्टिसे	२ सूक्ष्म-प्राणकी पुष्टिसे
स्वार्थकी भानाओंको बल मिला करताहै, जिससे मनमें वासनानोंकी और इन्द्रियोंमें विषय-भोगकी जाग्रति हुआकरतीहै ।	परमार्थकी भावनाओंको बल मिला करताहै, जिससे मन और इन्द्रियाँ अपने अनधिकार चेष्टाओंका त्यागकर सत्पथका ग्रहण करलेतीहैं और फिर इन्द्रियों सहित मन अपने स्वामी जीवात्माकी शरणमें चलाजाताहै ।

सूक्ष्म-प्राणकी पुष्टिके साधन

१	२	३
सत्संग	यम-नियमादिका अभ्यास	भस्त्रा प्राणायाम

(१)

सूक्ष्मप्राणकी पुष्टिमें सत्संगका प्रभाव

(हृदयसे स्वार्थ-वृत्तिका नाश और परमार्थ-वृत्तिकी जाग्रति)

'रक्त'—वायुकी सहायतासे जब सूक्ष्म नाड़ियोंमें प्रवाहितहोताहै, तव वह **'काम-क्रोधादि'** की उत्पत्ति कियाकरताहै । इनसे प्रभावितहो मनुष्य **'धन, बल और विद्या'** उपार्जनमें जुटजाताहै, परन्तु स्वार्थके वशीभूतहो उस ऐश्वर्यका प्रयोग अपने परिचित व्यक्तियोंतकही कियाकरताहै । यही मनुष्य के हृदयकी संकोचता है । यह संकोचताही पापोंकी जननी है और मनुष्यको जन्म-जन्मान्तरोंके चक्करमें डालनेवाली स्वार्थ-वृत्ति है । मनुष्यके पूर्वकृत

शुभ कर्मोंका जब उदय हुआकरताहै, तबही महापुरुषोंकेसाथ सत्संग करने शुभ अवसर भी प्राप्तहोताहै। यदि साधक उनके सदुपदेशोंसे प्रभावि होजाताहै, तो उसका हृदय स्वार्थ-वृत्तिका त्यागकर परमार्थ-वृत्ति ग्रह लियाकरताहै; अर्थात् अपने धन, बल और विद्याका देशहितार्थ सदुपयोग अपनी उदारताका परिचय देनेलगताहै। यही सत्संगका प्रभाव है।

---

(२)

सूक्ष्म-प्राणकी पुष्टिमें यमनियमादिका प्रभाव[1]

यमनियमादिका अभ्यास स्थूल-प्राणको सूक्ष्म-प्राणमें बदलदेता है अर्थात् साधककी स्वार्थ-वृत्तिका नाशकर उसमें परमार्थ-वृत्ति की जाग्रति करदिया करताहै।

अष्टाङ्ग योगका प्रभाव

वहिरङ्ग	संयोजक	अन्तरङ्ग
यम, नियम आसन और प्राणायम।	प्रत्याहार	धारणा, ध्यान और समाधि।

जीवात्मा एक चेतन-शक्तिहै और मन एक जड़-पदार्थ है; परन्तु शरी में दोनोंही विराजमान हैं। दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध इतनाही गह है, जितनाकि सूर्य और प्रकाशका। सूर्यके उदयहोतेही जैसे प्रकाश स्वत होजाताहै, वैसेही मनके यमनियमादिपर चलतेही वह अपने स्वामीकी शर में स्वतःही चलाजाताहै और जीवात्माको उसका जन्म-सिद्ध अधिकार आपही मिलजाताहै।

---

[1] यहाँ यम-नियमादिको व्यावहारिक रूप दियागयाहै।

यमकी व्यावहारिक परिभाषा
(जीवनमें मुख्य कर्म)

'यम' शब्द बनाहै — 'यम्' — धातुसे, जिसका अर्थ होताहै — 'जीवन स्थिर रखनेकेलिये मुख्य कार्य्य' — जो तीन प्रकारके होतेहैं और वे संसारके प्रत्येक व्यक्तिकेलिये, हैं भी परमावश्यक। वह व्यक्ति चाहे किसी भी विचारका अनुयायी है, किसीभी देशका निवासी है और किसीभी कालमें उसका जन्म हुआहै; और वह चाहे आजका बच्चा है या अन्तिम श्वास लेनेवाला व्यक्तिही क्यों न है, उसे मुख्य-मुख्य कर्मोंका जीवनमें सम्पादन करनाही पड़ताहै। मनुष्य-जीवनके इन मुख्य कार्य्योंकोही 'यम्' कहतेहैं, जो निम्नलिखित होतेहैं:—

१—आहार (भोजन) २ — व्यायाम (भुक्तान्नमेंसे रस और मलको पृथक् २ करनेवाली शैली) ३— व्यवहार (भुक्तान्नमेंसे व्यायामद्वारा प्राप्त कीहुई शक्तिका जीवनकी आवश्यकताओंके पूराकरनेमें प्रयोग)।

नियमकी व्यावहारिक परिभाषा
(जीवनमें सहायक कर्म)

'नियम' बना है — नि+यम' — से। 'यम' का अर्थ होताहै — 'जीवन-यात्रामें मुख्य और अनिवार्य कर्म' — और 'नि' का अर्थ होताहै — 'सहायक या विशेष'— अतः नियमका अर्थ हुआ — 'मुख्यकर्मोंके सहायक कर्म' — अर्थात् गौण कर्म। नियम जीवन-निर्वाहकेलिये वे कर्म तो हैं नहीं जो अनिवार्य हों, परन्तु देश, काल, आयु और व्यवसायकेकारण अनिवार्य कर्मोंमें कुछ परिवर्तन अवश्य करदेतेहैं, जिनके पालनकियेबिना यह शरीर लौकिक और पारलौकिक कार्य्यकरनेमें असमर्थ रहताहै। जीवनकेलिये जितना आवश्यक 'यम्' है उतना ही 'नियम' भी है।

भोजन पाना प्राणिमात्रकेलिये एक अनिवार्य्य है, परन्तु उसमें दे: काल, आयु और व्यवसायके अनुकूल परिवर्तन भी आवश्यक हैं। सर्दी जो भोजन अच्छा और लाभप्रद होताहै, वह गर्मीमें नहीं। ऐसेही जो भोज एक मज़दूर पचासकताहै, वह कुर्सीपर बैठनेवाला बाबू नहीं। यही व्याया और व्यवहारकी दशा है। ये परिवर्तन ही नियम हैं। नियमित जीवन ही उन्नति हुआकरतीहै। ये यम और नियमही मनुष्यकी शारीरि मानसिक और आर्थिक दशाओंको उन्नत कियाकरतेहैं।

आसनकी व्यावहारिक परिभाषा
(सामाजिक पद)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जब वह अपने सत्कर्मोंद्वारा उपार्जि पूँजीसे अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करचुकताहै और पूर्तिकरनेपर बढ़ेहुं ऐश्वर्य्यसे दूसरोंकी आवश्यकताओंकोभी पूराकरने लगताहै, तब वे लोग उसे नाना प्रकारकी उपाधियोंसे सम्मानित कियाकरतेहैं। यदि उसने ध केद्वारा दूसरोंकी सहायताकी है, तो लोग उसे **'धर्मात्मा'** कहतेहैं। यदि बलके द्वारा निर्बलोंकी सहायता कीहै, तो लोग उसे **'वीरकी उपाधि** देतेहैं। यदि ज्ञानकेद्वारा उसने दूसरोंके जीवनकी असुविधाओंको दूरकर का प्रयत्न कियाहै और यदि उसके सदुपदेशोंद्वारा दूसरोंके जीवनमें शान्ति आनेलगीहै, तो लोग उसे **'महात्मा'** कहनेलगतेहैं। इसी कानाम —**'सामाजिक पद या आसन'** — है।

सामाजिक जीवनका ऊँचा उठानाभी मानव-जीवनकी एक बड़ी भारी विशेषता है। संसार भी ऐसे व्यक्तियोंके जीवनको स्वर्णमय अक्षरोंसे अंकितकर सदैवकेलिये इतिहासके पन्नोंपर अमरकर दियाकरताहै।

प्राणायामकी व्यावहारिक परिभाषा
(निष्काम-भावसे कर्मकरनेकी शैली)

प्राणायाम बनाहै — 'प्राण+आयाम' — से। 'प्राण' कहतेहैं— 'इन्द्रियोंमें काम करनेवाली शक्ति' — को, और 'आयाम' कहतेहैं —'वशमें करने को' — । प्राणायामका अर्थ हुआ — 'इन्द्रियोंमें काम करनेवाली शक्तिपर नियन्त्रण रखना' — । इन्द्रियाँ कोई ऐसा काम न करडालें, जिससे मनुष्यको उसके जीवनमें अड़चनें (बाधाएँ) उत्पन्न होजायें।

मनुष्यकी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति प्राणायामपर ही निर्भर है। भौतिम उन्नति तो स्थूल-प्राणपर आश्रित हैं। स्थूल-प्राणपर साधकका अधिकार होतेही, उसका शरीर सुडौल बनकर उसके अवयवोंमें कामकरनेकी शक्ति आजातीहै। वह आयुभर नवयुवककी भाँतिही काम करतारहताहै।

आध्यात्मिक उन्नति सूक्ष्म-प्राणपर आश्रित है। सूक्ष्म-प्राणपर साधकका अधिकार होतेही उसकी मानसिक वृत्तियोंमें परिवर्तन आजाया करताहै। उसके हृदयसे संकोचता जातीरहतीहै, और उदारता आजातीहै। वह सदैव निष्काम-भावसे कार्य करनेलगताहै।

आसनोंके पश्चात् प्राणायाम भी एक आवश्यक अङ्ग है। सामाजिक पद (आसन-सिद्धि) प्राप्तहोनेपर, मनुष्यमें स्वाभावतः स्वार्थवृत्तिकाभी पादुर्भाव होनेलगताहै, और फिर ऐसे व्यक्ति अपनी इस दूषित मनोवृत्तिकेकारण लोगोंकी दृष्टिसे गिरजाया करतेहैं, इसलिये सामाजिक क्षेत्रमें कामकरतेहुये किसी सामाजिक पदको प्राप्तकरनेपर उस व्यक्तिकेलिये स्वार्थ-वृत्ति (हृदयकी संकोचता) को हटाकर परमार्थ-वृत्ति (हृदयकी उदारता) का ही अवलम्बनकरना परमावश्यक है। सामाजिक जीवनमें उदारताही मनुष्यको ऊँचा उठानेमें एक श्रेष्ठ साधन है।

साधकको प्राणायामही जीवनमें शारीरिक, मानसिक और सामाजिक उन्नति प्रदान कियाकरताहै। प्राणायामकेद्वाराही मनुष्य एक सच्चा वीर और सच्चा महात्मा कहलानेका अधिकारी बनजाताहै। प्राणायामके अभ्यास (निष्काम-भावसे कामकरने) से ही उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआकरताहै।

प्रत्याहारकी व्यावहारिक परिभाषा

(इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका त्याग)

प्रत्याहार बनाहै —'प्रति+आहार'— से। 'प्रति' निषेधात्मक प्रयुक्तहुआहै, और 'आहार' का अर्थ होताहै —'भोजन'—। इन्द्रि आहार होताहै— 'विषय-भोग या स्वार्थ-त्याग अर्थात् सामाजिक क्षेत्रमें इन्द्रियोंद्वारा परोपकारकी भावनासे कामकरना'—प्रत्याहारके से इन्द्रियाँ वशमें होजायाकरतीहैं और फिर चरित्र भी ऊँचा उठआताहै।

सामाजिक क्षेत्रमें मनुष्यका चरित्र उसकी इन्द्रियोंके कार्य्योंसेही जाताहै। इन्द्रियाँ दोनों प्रकारका कार्य्य करसकतीहैं —'उचितभी अनुचितभी'— सामाजिक क्षेत्रमें इन्द्रियोंसे अनुचित कार्य्य करनेवाले पापी, दुराचारी और धूर्तादिकी अनेक उपाधियाँ मिलाकरतीहैं, और उपाधियाँ मनुष्यको उसके जीवन-लक्ष्यसे पतित करदिया करतीहैं। मनुष्य बातेंतो बहुत अच्छी २ कहनेलगे, परन्तु स्वयं उनका अनुकरण न तो उसकी वे बातें दूसरोंकी दृष्टिमें कोई महत्व नहीं रखती, अतः मन बचनसे और कर्मसे मनुष्यको समान होनाचाहिये। बस, यही 'प्रत्याहार'

एक सामाजिक नेताका आचरणतो इतना पवित्र, निस्स्वार्थ-भाव होनाचाहिये कि संसारका बड़ेसे बड़ा प्रलोभन भी उसे सत्पथसे विचलित नकरसके। फिरभी उसे इन्द्रियोंकी ओरसे सदैवही सतर्क रहनाचाहिये एक सामाजिक नेताको आन्तरिक सदाचारी, परोपकारी, समदर्शी छलकपटसे रहिततो होनाही चाहिये, ताकि इसका लौकिक जीवन पारलौकिक जीवनका साधनही न बने, बल्कि दूसरोंकेलिये एक उदाहरण बनकर करनेलगे। आन्तरिक सदाचारही वास्तविक —'प्रत्याहार'—हुआकरता और यही अन्तःकरणकी शुद्धिका साधनभी है।

धारणाकी व्याहारिक परिभाषा

(जीवन-परिस्थितिके अनुकूल मार्ग-निर्णय)

लौकिक जीवनके पश्चात् पारलौकिक जीवन आरम्भ हुआकरताहै; परंतु अब उस व्यक्तिको वेदानुकूल दो मार्गोंमेंसे किसी एकको ग्रहण करलेना चाहिये:—(१) सूर्य्य-मार्ग (२) चन्द्र-मार्ग। जो व्यक्ति गुरु, नेता, पथ-प्रदर्शक या कर्मचारी बनना चाहते हैं, उन्हें सूर्य्य-मार्गका अवलम्बन करना चाहिये, और जो अपने आपको इस योग्य न समझें, उन्हें चन्द्र-मार्गपर चलनाचाहिये, अर्थात् शिष्य, अनुयायी या पन्थानुगामी बननाचाहिये। जीवनकी सफलता और सरलताभी इसीमें है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने साधनों के अनुकूल अपना मार्ग निश्चितकरले, ताकि अन्तमें उसे पश्चाताप न करनापड़े।

ध्यानकी व्यावहारिक परिभाषा

(निश्चित मार्गकेलिये उचित योग्यताकी प्राप्ति)

जब मनुष्य यह निश्चयकरले कि मुझे सूर्य्य-मार्गपर चलनाहै या चन्द्र-मार्गपर, तब उसेके अनुकूलही उसे अपने आपको बनानाभी चाहिये। गुरु बननेवाले व्यक्तियोंमें तीन विशेषताएँ होनीचाहिये:—

(१) तेज—अर्थात् उच्च कोटिका ज्ञान;
(२) वर्धन-शक्ति—अर्थात् उदारता;
(३) नियमितता—अर्थात् संयमी जीवन।

गुरुका ज्ञान इतना परिपूर्ण हो कि उसके अनुभवसे उसके अनुयायी अपने जीवनकी बिखरीहुई असुविधाओंको दूरकरसके चाहे वे शारीरिक हों, चाहे मानसिक या दैवी। गुरुकी उदारता सराहनीय तथा अनुकरणीय हो, ताकि शिष्यगणभी किसी दिन गुरु बननेके अधिकारी बनसकें। गुरुका संयमी जीवन तो शिष्योंकेलिये मार्ग-प्रदर्शक होही। गुरुको योग्य, उदार और संयमी तो होनाही चाहिये।

चन्द्रमार्गका अवलम्बन करनेवालोंमेंभी तीन विशेषतायें हों—

(१) शीतलता—व्यवहार कुशलता और वाणीमें मधुरता;
(२) प्रकाश—कर्तव्य परायणता;
(३) सेवा—श्रद्धा और भक्ति।

मनुष्यका सबसे बड़ा भूषण है—'वाणीमें सत्यता और मधुरता'· मधुरभाषीकी सबही सहायता कियाकरतेहैं और फिर उसकी वास्त शक्तिका विपक्षियोंको ज्ञानभी नहींहोता। कर्तव्यपरायणताका अभा मनुष्यमें वैमनस्यका कारण बनाकरताहै। संसारकी अशान्तिका कार अकर्तव्यपरायणता है। यदि दुकानदार कमतोलना छोड़दें; वकील मुकदमें लेना बन्दकरदें; अध्यपक अपने कर्तव्यको समझलें और एक रा कर्मचारी घूँसलेना वन्दकरदे, तो विश्वमें हरओर शान्तिकाही राज्य हो

शिष्यका सबसे बड़ा गुण अपने गुरुकेप्रति श्रद्धा और भक्ति श्रीहनुमानजीकी श्रद्धा और भक्ति श्रीरामकेप्रति अनुकरणीय है। इसी श्र और भक्तिने हनुमानको सदैवकेलिये अमर बनादियाहै; इसलिये प्रत्येक व को अपने मार्गपर दृढ़ही रहना चाहिये।

समाधि अर्थात् सम+अवस्था
(मनका बुद्धिके अनुकूल चलतेरहना)

वेदानुकूल चलते २ जब मनुष्यमें ऐसी अवस्था आजाय कि हानि-ल सुख-दुख, जीवन-मरण उसकेलिये सबही समान हों, तब उसकी यह अवस ही —'समाधि'— कहलातीहै। इस अवस्थामें मन और बुद्धि समान र करतेहैं। अब उसका अपना स्वार्थ कुछभी नहींरहता, अर्थात् हृदय संकोचताके नष्टहोतेही उसके मनोविकार सबही नष्टहोजाया करतेहैं।

उस व्यक्तिका मनभी अब सुशिक्षित होकर अपने कर्तव्यको समझ हुआ अपने अधिकारमेंही रहनेकी चेष्टा कियाकरताहै। अब वह आत्मा सर्वेसर्वा समझकर इन्द्रियोंका नेतृत्वकरना छोड़देताहै। मन बहिर्जगत्से अन्तंजगत्में चलाजाताहै।

सुख और शान्तिके इच्छुक प्रत्येक व्यक्तिको चाहे वह किसीभी सिद्धाँत का अनुकरण करनेवाला क्यों न हो ? यदि अष्टाङ्गयोगके व्यावहारिक रूपको अपने जीवनमें प्रयोग करताहै, तो उसका मन स्वार्थसे हटकर परमार्थमें लग जायेगा। फिर अन्त:करणतो शुद्ध होजायेगा और जीवात्मा अपने जन्म-सिद्ध अधिकार आत्म-ज्ञानसे सम्मन्न होजायेगा।

सूक्ष्म-प्राणकी पुष्टिमें भस्त्रा प्राणायाम

भस्त्रा प्राणायामकेद्वाराही साधकका सूक्ष्म-प्राण ऊपर उठकर आज्ञाचक्रमें पहुँचाकरताहै। इस स्थितिमें प्राण-शक्ति मनसे हटकर जीवात्माकेपास चलीजातीहै। ऐसा होतेही अन्त:करणतो शुद्ध होजाताहै और जीवात्मा अपने जन्म-सिद्ध अधिकार — 'आत्म-ज्ञान' को प्राप्तकरलिया करताहै। यही कर्म-योगकी पराकाष्टाहै। वहाँसेही ज्ञान-योगका आरम्भ हुआकरताहै।

भस्त्रा प्राणायाम-विधि

१—पद्मासन या सिद्धासन लगाकर बैठजाइये और मूल-बन्ध लगालीजिये जो क्रियाकालमें लगाही रहनाचाहिये;

२—दोनों हाथोंकी हथेलियोंकी अँगुलियोंसे मुद्रा लगालीजिये अर्थात् अँगूठेके पासकी अँगुली, अँगूठेकी जड़में सटालीजिये। कोहनियाँ सीधी रखिये।

३—समकायहोकर बैठजाइये अर्थात् कूल्हे, रीढकी हड्डी और ग्रीवा तीनों सीधमें रहनेचाहियें।

४—श्वासको धीरे २ बाहर फैंक दीजिये।

५—अब श्वास खींचते जाइये; छाती फुलातेरहिये और उड्डियान-बन्ध

लगालीजिये अर्थात् पेटको अन्दर सटकाइये ।

६—अब श्वासको रोकिये । ठोडीको कण्ठकूपमें सटाकर जालन्धर-बन्ध लगालीजिये और उड्डियान-बन्ध खोलदीजिये ।

७—श्वास छोड़नेसे पूर्व उड्डियान-बन्ध फिर लगालीजिये । अब जालन्धर बन्ध खोलदीजिये और श्वासकोभी धीरे २ लम्बा करके छोड़दीजिये।

८—श्वास खींचनेमें जितना समय लगे, रोकनेमें उससे चौगुना और छोड़ने में दुगुना लगानाचाहिये ।

यह एक प्राणायाम होगा । ऐसे-ऐसे अधिकाधिक २५ और कमसेकम तीनतो आवश्यही करनेचाहियें । मस्तिष्कमें खुश्की दूरकरनेकेलिये जलनेति और घी-दूधका पर्याप्त प्रयोग करनाचाहिये ।

सामाजिक प्राणायाम

(प्राणायाम मन्त्रके अनुसार जीवनस्तरको उच्चतम लानेकी शैली)
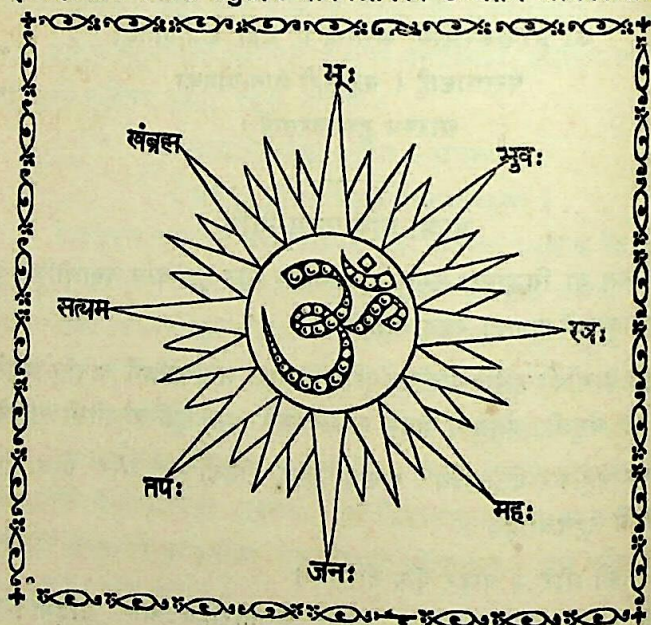
प्राणायाम मन्त्र

ओ३म् भूः, ओ३म् भुवः, ओ३म् स्वः, ओ३म् महः, ओ३म् जनः, ओ३म् तपः, ओ३म् सत्यम्, (ओ३म् खंब्रह्म)

शब्दार्थ

हे ईश्वर ! आप सच्चिदानन्दरूप, महान्, जगदुत्पादक, ज्ञानस्वरूप और अविनाशी हैं।

भूःका जनः केसाथ और भुवः का तपःके साथ भावार्थ लगाइये इत्यादि।

ओ३म् भूः

'भूः' — का अर्थ होताहै—'सत्' और सत्से बनीहै— 'सत्ता'। सत्ता केही विकृतरूपको प्रकृति कहतेहैं। इस प्रकृतिसेही हमारा शरीर बनाहै। ईश्वरने अपनी सृष्टिमें सबसे अच्छी सामग्री मानव-जातिके बनानेमें ही प्रयुक्तकीहै। जीवका जब सौभाग्य उदयहोताहै, तब उसे—'मनुष्य शरीर' प्राप्त हुआकरताहै।

ओ३म् जनः

'जनः' — कहतेहैं 'जनन-शक्ति' को अर्थात् ब्रह्मचर्य्यको। मनुष्यको सर्वप्रथम—'ब्रह्मचर्य्य ब्रत'— धारणकरना चाहिये। ब्रह्मर्य्य शब्द बनाहै— 'ब्रह्म+चर्य्य' — से, 'ब्रह्म' कहतेहैं — 'सद्-ज्ञान' — को, और 'चर्य्य' कहतेहैं — 'आचरण' —को; और आचरण बनताहै — आहार, व्यायाम और व्यवहार — से; इसलिये ब्रह्मचर्य्यका अर्थ हुआ — 'सद्-आहार, सद्-व्यायाम और सद्-व्यवहार', अर्थात् सादा खाना, सादा चलना, और सादा रहना।

अपनी शारीरिक रक्षाकेलिये मनुष्यको आहारतो करनाही पड़ताहै, वह आहार लाभ-प्रदभी होसकताहै और हानिकारकभी। आहारकेसाथ इसीलिये —'सद्' — का प्रयोगकियाहै। मनुष्यको ऐसा भोजन पाना चाहिये, जो किसी प्रकारभी उसे हानि न पहुँचाये, बल्कि उसकी शारीरिक शक्तियोंको और मानसिक शक्तियोंको निरन्तर बढ़ाताही रहे[1]।

शरीरको किसीभी प्रकारसे हिलाना-जुलानाही — 'व्यायाम' — है जो लाभप्रदभी होसकताहै और हानिकारकभी। व्यायामकेसाथ — 'सद्' — शब्दका प्रयोग करनेपर वह बनताहै — 'सद्-व्यायाम' — मनुष्य को सद्-व्यायामही करनाचाहिये। सद्-व्यायाम वह है जिसके करने शरीरान्तर्गत भुक्तान्नमेंसे — 'रस और मल' — पृथक् २ होजायें। मल स्वाभाविक मार्गोंसे वाहर निकल जायाकरे, ताकि शरीर नीरोग और स्वस्थ रहाकरे और रससे रक्त बनकर शरीरको पुष्टकरताहुआ वीर्य्यमें बदलकर मस्तिष्कको सबल बनादियाकरे, ताकि उस प्राणीकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ विकसित होतीरहें।

'व्यवहार' कहतेहैं —'भुक्तान्नमेंसे व्यायामद्वारा प्राप्तकीहुई शक्तिका दूसरोंकेसाथ प्रयोग' — व्यवहार अच्छाभी होताहै और बुराभी। सद् का व्यवहारकेसाथ प्रयोग, इसीलिये, कियागयाहै कि व्यवहार करनेवाला और जिसकेसाथ व्यवहार कियाजाय, वे दोनों पक्षही सन्तुष्ट रहें, अर्थात् दोनोंको एक दूसरेसे लाभ पहुँचे।

प्राणायाम मन्त्रसे सर्वप्रथम हमें यही शिक्षा मिलतीहै कि जब ईश्वरने हमें मनुष्य बनायाहै, तब हमें ब्रह्मचर्य्यकी रक्षाकर ब्रह्मचारी बननाही चाहिये, अर्थात् हमारा भोजन सादाहो, चलना सरलहो और व्यवहार सात्विक हो। वस्तुतः एक ब्रह्मचारी ही मनुष्य कहलानेका अधिकारी है।

---

[1] इसकेलिये हमारी — 'ब्रह्मचर्यरक्षा ही जीवन है' — नामक पुस्तक मँगाकर पढ़िये।
मूल्य १।) रु० पता—पुस्तकके अन्तमें है।

ओ३म् भुवः

'भुवः' का अर्थ होताहै — 'चित्' — और चित् कहतेहैं—'ज्ञान'— को। मनुष्यको चाहिये कि वह ब्रह्मचर्य्य सम्बन्धी ज्ञान उपार्जनकरे, अर्थात् सद्-आहार, सद्-व्यायाम और सद्-व्यवहार सम्बन्धी पूरी-पूरी जानकारी प्राप्तकरे। ज्ञान प्राप्तकरनेवाले व्यक्तिको — 'विद्यार्थी' — कहतेहैं। ब्रह्मचारीको विद्यार्थीतो होनाही चाहिये। विद्या प्राप्तिके लिये विद्यार्थी को — 'व्यापार, राजनीति और धर्म' — की ओर बढ़ना आवश्यक है—अर्थ भी जीवनकी एक आवश्यकता है और उसकी वृद्धि व्यापारसेही होतीहै; इसलिये उस व्यापार सम्बन्धी भावी या वर्तमान सभी अड़चनोंको दूरकरना — 'राजनीति' — का काम है; परन्तु — 'प्रभुता पाय, काहि मद नाहीं' – ऐसा होनाभी मनुष्यकेलिये स्वाभाविक है; इसलिये प्राप्तकी हुई सत्ता सम्बन्धी अधिकारका उचित प्रयोग समझनाभी आवश्यक है और इसेही — 'धर्म'–कहतेहैं।

व्यापार, राजनीति और धर्म सम्बन्धी अनुभव प्राप्तिकेलिये देश-देशान्तोंका भ्रमणकरनाभी आवश्यक है, ताकि अन्य देशवालोंने उपरोक्त विषयोंमें जो उन्नति कीहै, उसका अनुभव उसेभी प्राप्तहोजाय, और फिर अपने देश-हितोंकेलिसे उसे काममें लासके। यदि देश-देशान्तरोंका भ्रमण सुलभ न हो, तो उन महापुरुषोंका सत्संग करनाचाहिये, जिन्होंने इस प्रकार देश-देशान्तरोंका अनुभव प्राप्त कियाहै, या इस प्रकारके अनुभवी व्यक्तियों द्वारा लिखित पुस्तकोंका स्वाध्याय करनाचाहिये। अपना वाचालय भी अपनी ज्ञान-वृद्धिकेलिये अवश्य रखनाचाहिये। इसीमें कल्याण है।

ओ३म् तपः

एक विद्यार्थीका जीवन — 'तपः' — सेवा और त्यागकी भावनाओंसे युक्त होनाचाहिये। विद्या-प्राप्तिकेलिये गुरु-सेवातो करनीही चाहिये। सेवामें कठिनाइयोंका उपस्थितहोना स्वाभाविक है परन्तु उनसे डरना नहीं चाहिये, क्योंकि — 'विद्यार्थिनः कुतः सुखम्' —। विद्यार्थी-जीवन कोई आरामका जीवन नहीं होताहै। वह तो तपस्या और त्यागका जीवन है। सेवा और त्यागकी भावनासे ही गुरुके हृदयपर विद्यार्थी विजयी हुआकरताहै। तवही जीवनमें कुछ प्राप्तभीहोताहै। श्रीराम, श्रीकृष्ण और श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीजीकी गुरु-सेवाका साक्षी इतिहास है। श्रीरामने अपने गुरु वशिष्ठके पैर दबायेथे, आजवेही पुरुषोत्तमराम कहलाते हैं। श्रीकृष्ण महाराज गुरुकेलिये जंगलसे लकड़ियाँ चुनकर लायाकरतेथे, वे हीआज श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेष्टा योगिराज कहलातेहैं, और श्रीमद्दयानन्द सरस्वती श्रीगुरु विरजानन्दजीके स्नान करानेकेलिये जमुनासे जलके घड़े पानीसे भरकर लायाकरते थे, वेही आज संसारके सबसे बड़े धार्मिक विप्लव-कारी कहलातेहैं। इन्हींके कारण हिन्दु-जाति आज जीवित भी है।

प्राणायाम मन्त्रसे हमें दूसरी शिक्षा मिलतीहै कि मनुष्य बनकर ब्रह्मचारी बनो और फिर सेवा और तपस्याकेसाथ विद्या उपार्जन करो।

गृहस्थ आश्रम

ओ३म् स्वः

'स्वः' कहतेहैं— 'आनन्द' — को। गृहस्थ-जीवनमें साँसारिक पदार्थों की प्राप्तिभी होगी और नाशभी। किसी पदार्थका प्राप्तकरनातो बड़ा अच्छा प्रतीत होताहै; परन्तु उसका नाशहोना बहुत बुरा। मनुष्य स्वभावतः इसीलिये किसी पदार्थकी प्राप्तिकोतो सुख और उसके नाशको दुःख समझा करताहै। सुख-दुःखकी सीमा स्वार्थपर आश्रित है। जहाँ स्वार्थ है, वहाँ आनन्द नहीं। आनन्द उस अवस्थाको कहतेहैं; जिसमें सुख और दुःख दोनों ही समान हों। किसी पदार्थकी प्राप्तिपर तो सुख नहीं और उसके नाश

पर दुःख नहीं । ऐसी दशा तबही हुआकरतीहै, जबकि मनुष्य साँसारिक विषयोंमें लिप्त नहोकर केवल उनका द्रष्टाही बनारहे । ऐसी स्थिति मनुष्य की उस समय आयाकरतीहै, जबकि प्रत्येक कार्यको अपना कर्तव्य समझकर वह सम्पादन करताहो । कर्तव्य-परायणतामेंही —'आनन्द'—निहित है ।

एक सच्चा ब्रह्मचारी अपनी सेवा और त्यागके अस्त्रको लेकर संसार क्षेत्रमें इसलिये आताहै कि अपने जन्म-जन्मान्तरोंके कियेहुये कर्मोंका भोग समाप्त करसके । यदि वह यहाँ विषयोंका भोक्ता न बनकर केवल द्रष्टा ही बना रहताहै, तो फिर यह बात उसके लिये गृहस्थका सच्चा आनन्द बनजाया करतीहै ।

—∘∘≈∘∘—

ओ३म् सत्यम्

(साँसारिक पदार्थोंका यथार्थ प्रयोग)

जब मनुष्य संसारके प्रलोभनोंमें लिप्त नहीं होता, बल्कि बड़ेसे बड़े प्रलोभनको भी ठुकराकर प्रत्येक साँसारिक पदार्थका यथार्थ प्रयोग अपना कर्तव्य समझकर करताहै, तब उसके प्रारब्ध कर्मोंका ही केवल भुगतान नहीं होजाता, बल्कि भावी संस्कार बननेभी बन्द होजातेहैं । ऐसा गृहस्थी कर्मों का कर्त्ता होतेहुयेभी अकर्त्ताही बनारहताहै । फिर उन कर्मोंके फलभी उसे नहीं जकड़ते । राजा जनकका प्रज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने है । ऐसे महापुरुषका गृहस्थ-जीवन भी आनन्दमय हुआकरताहै । प्रत्येक व्यक्तिको मानव-जीवनकी सफलताकेलिये अपना जीवन आनन्दमय बनानाही चाहिये, ताकि उसका लौकिक जीवनही परलौकिक जीवनका साधन बनजाय ।

एक सफल गृहस्थीकी यही भावना हो —

कोई बुरा कहे या भला कहे, लक्ष्मी आवे या जावे ।
लाखों वर्षोंतब जीऊँ, या मृत्यु आजही आजावे ।
पर न्याय मार्गसे मेरा, कभी न पग डिगने पावे ॥

बानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम

ओ३म् महः

'महः' कहतेहैं — 'महत्ता' —को, और महत्ता उदारतामें निहित है। गृहस्थ-जीवनमें जो संकोचता रहतीहै, वह बानप्रस्थ और सन्यासलेनेपर उदारतामें बदलजानी चाहिये। अबतक हृदयकी संकोचताकेकारण मनुष्य अपनेपनकी सीमा अपने सम्बन्धित व्यक्तियोंतकही समझतारहाहै और उनकीही शुभ कामनायें सोचतारहाहै; परन्तु अब वानप्रस्थ और सन्यासमें आकर उसे उस भावनाका परित्यागकर अपनी उदारताका परिचय देनाही पड़ताहै। मेरे और तेरेके भावको हटाकर, सबको मेरेही मेरेका रूप देदेनेका नाम ही – 'महत्ता' — है। एक सच्चे गृहस्थींकोही विषयभोगों के दुष्परिणामपर सच्चा वैराग्य आयाकरताहै। इस दशामेंही वह सच्चा विवेकी बन साँसारिक पदार्थोंसे निर्मोही बनाकरताहै। जन्म-जन्मान्तरों के शुभसंस्कारोंके आधारपर यदि उसके यह भाव मानव-जीवनके आरम्भ होनेपरही जाग्रत होआयें, तो यह उसका सौभाग्यही समझनाचाहिये।

जिस प्रकार ईश्वरीय नियम सर्वहितकारी होतेहैं, उसी प्रकार ऐसे महापुरुषभी पापसेरहित होनेकेकारण दूसरोंके सच्चे पथप्रदर्शकही हुआकरते हैं। ऐसे महान् व्यक्तिकी कीर्तिभी उस खं ब्रह्म परमात्माकी भाँति सदैव केलिये संसारमें फैलजाया करतीहै। ऐसी श्रेष्ठ आत्माओंका जीवन-मुक्त होकर सदैवकेलिये अमर होजाया करताहै।

'सामाजिक प्राणायाम' — का मन्त्र मानव-जातिकेलिये बड़ाही हितकर है, क्योंकि इसीसे सत्पथ-प्रदर्शन हो मनुष्यमें उदारताका प्रादुर्भाव हुआकरताहै। प्राणायामही एक अमोघ अस्त्र है जो जीवनको वाह्य विषयों और आन्तरिक वासनाओंसे मुक्तकर साधकके अन्तःकरणको निर्मल और स्वच्छ बनादिया करताहै। अन्तःकरणकी निर्मलताही भविष्यमें उसकी अमर कीर्तिका कारण बनाकरतीहै।

अघमर्षण मन्त्र
(पापोंसे पश्चाताप)

विश्व-अशान्तिका कारण, मानव-जातिके चरित्रका पतनही है। ईश्वरके स्थानमें देवी-देवताओंकी उपासना[1] और ईश्वरीय आदेशोंकी जगह महापुरुषोंद्वारा प्रचालित मतमतान्तरोंका ग्रहणकरनाही मानव-चरित्रके पतनका मुख्य कारण है। इस भूलपर चलते रहनाही — 'पाप' — है और इस पापसे पश्चातापही —'अघमर्षण — कहलाताहै।

~~~

अघमर्षण मन्त्र

ओ३म् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत, ततोरात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः ॥१॥ समुद्रादर्णवा दधि सम्वत्सरोऽजायत अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥ सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्प-यत् दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

---

[1] जो देश अपने महान् पुरुषों (देवी-देवताओं) का मान नहीं करता, वह रसातलमें चलाजाया करताहै। वे तो मुक्तात्माएँ हैं। उनकी उपासना हमारी मुक्तिकाकारण नहीं बन सकतीं। हाँ, उनकी शिक्षाएँ और उनकी जीवनी हमारे जीवन-स्तरको ऊँचा उठाकर ईश्वरोपासना सम्बन्धी हमारे उत्साहको बढानेका साधन बनसकतीहैं। हमें आशा रहतीहै कि जिस प्रकार ईश्वरोपासनासे वे मुक्तहोकर आज अमर होगयेहैं, हमभी उसी प्रकार एकदिन मुक्ति-लाभ उठा सकेंगे।
~~~

भावार्थ

ज्ञानके भण्डार चारों वेद और यह प्राकृतिक जगत् उस तपस्वी परमात्मासेही प्रकटहुयेहैं। सृष्टिका उत्पन्न करनेवाला, पालन-पोषण करनेवाला और प्रलयकर्त्ताभी परमेश्वरही है। आकाशमें जलयुक्त बादल, और पृथ्वीपर लहरें मारतेहुये समुद्रभी उसी प्रभुकी रचना है। दिन-रात, सूर्य-चन्द्र; द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, अन्य चमकतेहुये ग्रह और उपग्रह सबही उसकी रचनाके नमूने हैं। उस महाप्रभुने इस सृष्टिको पूर्व कल्पके समानही रचाहै।

अघमर्षण मन्त्रकी व्याख्या

(विश्व-शान्तिकेलिये राम-बाण है)

परमपिता परमात्माने अपनी सृष्टिमें सबसे अद्भुत और आश्चर्यजनक पदार्थ —'मनुष्य'— ही बनायाहै। उसे जीवन यापन करनेकेलिये भौतिक पदार्थ (सत्यम्)[1] प्रदानकिये और उन्हें उचितरूपसे काममें लानेकेलिये पूर्णज्ञान (ऋतम्)[2] भी दिया। मनुष्यके कल्याणार्थ जल, वायु, सूर्य, चन्द्रमा तथा कालादि भी बनाये; परन्तु मनुष्यने अपने अनुभव अर्थात् विज्ञानके आधारपर पदार्थोंका ऐसा विश्लेषण करडाला कि उस विश्लिष्ट पदार्थके प्रयोगने या यों कहिये कि विज्ञानद्वारा नये-नये आविष्कारोंने सारे संसारको ही अशान्तिका केन्द्र बनादियाहै।

---

[1] सत्यम्—वैज्ञानिक और दार्शनिक सचाइयोंका नामही —'सत्य'—है। यह शब्द भौतिक और दार्शनिक सचाइयोंकेलियेही प्रयुक्त होताहै। प्राकृतिक तथा भौतिक पदार्थ। दूसरे शब्दोमें यों कहिये कि संसारके सभी पदार्थ इसके प्रतीक हैं।

[2] ऋतम्—वह आध्यात्मिक तत्त्व है जो सारी भौतिक सचाइयोंका मूल करण है। इसका प्रत्यक्ष योगिजनोंको, प्रज्ञाके उदयहोनेपरही हुआ करताहै। इसेही यथार्थ-ज्ञान, पूर्ण-ज्ञान या ईश्वरीय ज्ञान कहतेहैं। यही तो वेदका विषय है।

मनुष्यने ईश्वर-प्रदत्त उस पूर्ण ज्ञानकाभी समय-समयपर विश्लेषण करडाला, और वह विश्लिष्ट अंग उस महापुरुषके नामपर—'मत'—कहलाने लगा। इसप्रकार वह पूर्णज्ञान मतोंमें विभक्त होगया। इन मतोंके सम्बन्धमें यदि यह कहाजाय कि यह प्रत्येक प्रवर्त्तककी अपनी सूझ है, तो यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं। एक मतका दूसरे से भिन्न होना स्वाभाविक है, क्योंकि ये मतमतान्तर भिन्न २ महात्माओंके अपने विचारही तो हैं।

इन मतोंके अनुयायियोंने अपने-अपने प्रवत्तकोंकी बड़ाईकरना और दूसरे मतोके प्रवर्त्तकोंकी बुराईकरना आरम्भकरदिया, तत्फलस्वरूपही मनुष्यों में पारस्परिक वैमनस्यका जन्म हुआ, जिसने संसारमें अशान्ति फैलादी।

मनुष्यने जबसे ईश्वरीय ज्ञानका त्याग कियाहै और विज्ञानका सहारा लियाहै, तबसे उसके जीवनमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकारभी उत्पन्न होनेलगेहैं, जो उसकेलिये परमात्मासे जुदाईका कारण बनेहुयेहैं। महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीने इस विश्व-अशान्तिको दूरकरनेकेलिये मत-मतान्नरोंको ईश्वरीय ज्ञानरूपी कसोटीपर परखकर मनुष्यमात्रके कल्याणार्थ उन मतोंके यथार्थ शुद्ध अंगोंकातो समन्वय करडाला और लोगोंको पुनः सन्मार्गपर लानेकेलिये अर्थात् वेदानुकूल चलानेकेलिये पूर्णज्ञानका आदेश किया और यहभी निर्देशकिया कि लोगोंको विश्व-कल्याणकेलिये अपनी-अपनी भूलें सुधारकर अज्ञानरूपी पापसे मुक्तहोजाना चाहिये। जबतक मनुष्यमात्र उस महाप्रभुकी उपासना नहीं करेगा और उसके आदेशानुकूल नहींचलेगा, तबतक उसका अन्तःकरण कभीभी शुद्ध नहींहोगा। जिसके अभावमें उसका लौकिक जीवन कभीभी पारलौकिक जीवनका साधन नहीं बनेगा।

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीने सन्ध्याके अन्तर्गत —'जगत् उत्पत्ति'—के मन्त्रको सम्मलितकरके यह संकेत कियाहै कि वह जगत्-रचयिताही पूर्ण शान्तिमय है और उसके आदेशही पूर्ण और अपरिवर्तनीय हैं, उसीकी उपासनाकरनी और उसीके नियमोंका पानलकरना मनुष्यकेलिये आवश्यक हैं। मनुष्यका सच्चरित्रही विश्व-शान्तिका मूल-कारणहै और रहेगा। (६)

मनसा परिक्रमा

('मन' राग और द्वेषके चक्कर में)

अन्तःकरण —'मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त'— का सामूहि रूप है, जिसमें मन तो अन्तःकरणका सृष्टिमुखी तत्त्व है और चित्त- आत्माभिमुखी तत्त्व; परन्तु सृष्टिमुखी तत्त्व —'मनके'— अधीनही इस जीव बन्धन और मोक्ष है। मन आत्म और अनात्म पदार्थोंके बीचमें रहनेवा एक विलक्षण तत्त्व है। यह स्वयं अनात्म और जड़ है; परन्तु संसा सारा खेल इसी मनके हाथमें है। मन अपनी अज्ञानताके कारण —'र और द्वेष'— के चक्करमें पड़ारहताहै। मनके निवासका शरीरान्तर्गत स्थलतो (मस्तिष्क) के अन्दर आज्ञाचक्र में अपने स्वामी जीवात्माके स है और दूसरा स्थल कर्मेन्द्रियोंके अन्तर्गत हृदयके अन्दर अनाहच्चक्रमें जब यह इन्द्रियोंके जालमें फँसजाताहै, तब ईश्वरसे द्वेष, और मायासे रखताहै अर्थात् इस दशामें आत्मा की आज्ञाओंकी अवहेलना करतारह और जब अपने स्वामी जीवात्माके समीप होताहै, तब ईश्वरसे प्रेम मायासे द्वेष कियाकरताहै, अर्थात् अपनी कुचेष्टाओंको त्यागकर अपने स्व की आज्ञानुसार चलनेलगताहै। यही इस मनकी परिक्रमा कहलाती है

मनसा परिक्रमाका सांकेतिक भाव

(यह सारा जगत् मनका ही खेल है)

मनका सम्बन्ध शरीर, बुद्धि और आत्माकेसाथ बहिर्जगत्में रहताहै और अन्तर्जगत्में भी। मनके स्वभावानुकूल उसका खेलरूप कर्म ही —'धर्म, अर्थ, और मोक्ष'— का रूप धारण करलिया करताहै।

मनकी गति

वहिर्जंगत्में	अन्तर्जंगत्में
जब मनुष्यका मन वहिर्जंगत्में काम करताहै, तब उसकेलिये शरीरकी आवश्यकताओंकी पूर्तिकरनाही 'कर्म' है, और उस कर्मका फल उसकेलिये अर्थ। वह कर्म फलासक्तिरहित भाव रखकर स्वधर्मानुकूल शास्त्र–विहित रूपसे कियागयाहै, तो वह कर्मही —धर्म— कहलाता है। यदि इस धर्मने जीवनमें नित्य-निरंतर सात्विक रूप धारण करलियाहै, तो अन्तमें वह मोक्ष-प्राप्तिका कारण बनजाया करताहै। इस अनासक्ति-भावकेसाथ कामकरनेपर साधकके बहिर्जंगत् और अन्तर्जगत् एकही होजातेहैं।	जब मनुष्यका मन अंतर्जंगतके अंतर्गत कामकरताहै, तब उसका मन भगवच्चारणारविन्दोंका अनुरागी बनजाया करताहै। फिर उसकेलिये भगवच्चरणोंमें लिपटनातो —'कर्म'— कहलाताहै —'भगवद्भक्ति'—प्राप्ति —'अर्थ'—; भगवच्चरणोंकी सेवा —'धर्म'—; और भगवदाकार होना ही —'मोक्ष'—है। ऐसा उस समयही हुआकरताहै, जबकि मनुष्यके पूर्व शुभ संस्कारोंकी जाग्रतिहो, उसे महापुरुषोंका सत्संग और सहवास प्राप्तहो और तदनुकूल आचरण बनकर मन शिक्षित होजाय।

मनसा परिक्रमाका व्यावहारिक रूप

मनकी शुद्धि ही अन्तःकरणकी शुद्धि हुआ करती है। मन सदैव राग-द्वेषके चक्करमें पड़ा रहताहै; परन्तु जहाँ द्वेष है वहाँ प्रेम नहीं रहता।

मनसा परिक्रमाका अर्थ होताहै —'**मनद्वारा बहिर्जंगत् और अन्तर्जंगत् की परिक्रमा करतेरहना**'—। कहा भी है —"**यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तत्सुप्तस्य तथैवैति**"—मन जब सजग होताहै, तबभी नाना प्रकारकी कल्पना करतारहताहै, और जब ममता मोहरूपी निद्रामें होताहै, तबतो इसकेलिये कहना ही क्या है? मनकी अस्थिरताका कारण उसकी अज्ञानताहै।

मन एक सूक्ष्म इन्द्रिय है और वासना उसका एक वीज है। राग और द्वेष इस वीजकी फूटीहुई जड़ें हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार इसके तने हैं। यही मनके सेनापति हैं जबतक इन सेनापतियोंको प्राणरूपी सहायता मिलतीरहतीहै, इस मनको विजयकरनेवाला कोई नहीं। जब मन वहिर्जगत्की सीमामें होताहै, तव साँसारिक विषयोंसे प्रेम और ईश्वर-भक्तिसे द्वेष कियाकरताहै अर्थात् ईश्वरके आदेशोंकी अवहेलना करता रहताहै, परन्तु जव मन अन्तर्जगत्में चलाजाताहै, तव वह ईश्वर-भक्तिमें लवलीनहो उसके नियमों का पालनकरने लगताहै अर्थात् ईश्वरसे प्रेमकरने लगताहै। उस समय विषयोंकेप्रति उसकी ऐसी भावना जमजातीहै:—

दुःखदायी हैं और शत्रु हैं, विषय हैं जितने दुनियाके।
पारहुआ भव-सागरसे, जो जालमें इनके फँसा न रहा॥

मनुष्य मनके अधिकारमें रहताहै, यही उसकी अज्ञानताहै। इस अज्ञानता (मूर्खता) सेही साँसारिक पदार्थोंकेप्रति —**'ममता-मोह'**— की उत्पत्ति हुआकरतीहै। मोहके रहतेहुयेही द्वेषके पैर जमाकरतेहैं, क्योंकि यह बात स्वाभाविक है कि जब मनुष्य एक पदार्थसे मोह (प्रेम) करताहै तब दूसरेसे अवश्य द्वेष करेगा। द्वेषके पैर जमतेही रागके पैर उखड़ जाया करतेहैं। यदि निर्मोही विद्वज्जनोंका सत्संगकरके मोह त्यागभी दियागया तो उसे लोभ आदवाताहै। मोह और लोभका संग है। मोह होताहै —**'प्राणधारियोंसे'**— और लोभ होताहै —**'निर्जीव पदार्थोंसे'**— यही कारण है कि मनुष्यका प्राणधारियोंसे ममता-मोह छूटजानेपरभी उसका धन सम्पत्तिसे लोभ बना रहताहै। इस दशामें द्वेष फलता और फूलता रहताहै, जिसके कारण मनुष्यका मन अनधिकार चेष्टाओंमें फँस धनसंग्रह का प्रयत्नकरने लगताहै। लोभ सारी बुराइयोंकी जड़ है। ऐसे व्यक्तिका धर्म कभीभी ठिकाने नहीं रहता। वह कभीभी पापसे नहीं डरता। लोभ से छुटकारा केवल निर्लोभी-विरक्त महात्माओंके उपदेश और उनके सहवास सेही मिलसकताहै। लोभके साथ-साथ ही —**'काम'**— भी आदवाताहै।

फिरतो द्वेषकी नींवही जमजातीहै। ऐसा व्यक्ति सदाचारसे हाथ धोबैठता है। उसका सामाजिक जीवनतो जाताही रहताहै। काम-देवपर विजय-प्राप्ति संन्यासियोंके सत्संगसेही सम्मभव है। काम-देवसे पीछा छुड़ातेही क्रोध आदबाताहै। क्रोध एक ऐसी मानसिक वृत्तिहै कि फिर द्वेषतो उमड़ ही पड़ताहै। इसके सामने शान्तिको कोई स्थान नहीं। वह तो बिल्कुल भंग होजातीहै। योगी-जनोंका सत्संगही इस मानसिक दूषित मनोवृत्ति क्रोधसे पीछा छुड़ा सकतीहै। क्रोधसे पीछा छूटतेही मनुष्य अहंकारके फन्देमें फँसजाता है। इस दशामें तो द्वेषका एकाधिपत्यही रहताहै। फिर —'**धीरता, गम्भीरता और दृढ़ता**'— सबही जातीरहतीहैं।

अनुभव यहभी सिद्धकरताहै कि किसी मनुष्यमें मोहकी मात्रा अधिक होतीहै, तो किसीमें लोभकी, तो किसीमें क्रोधकी। यह सबकुछ मनुष्यके पूर्व संस्कारोंका परिणाम होताहै। मनसा परिक्रमाके मन्त्रोंमें इसीलिये प्रभु परमात्मासे अन्तमें प्रार्थना कीगईहै—

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः'

न मैं किसीसे द्वेष करूँ और न कोई मुझसे द्वेषकरे —'**द्वेष सदैव स्वार्थसे** हुआकरताहै।'— स्वार्थ ही अनधिकार चेष्टाओंकी ओर धकेला करताहै। स्वार्थ-वृत्तिका नाश परमात्म-भावकी उत्पत्तिपरही सम्भव है। परमात्म-भाव मनके शिक्षित होनेपरही आयाकरताहै।

काम, क्रोधादिसे मुक्तहोनेकेलिये मनका निग्रह परमावश्यक है। अज्ञानताकेकारण ही मनकी सत्ता बनीहुईहै। ज्ञानद्वारा यह मन बड़ी सरलतासे जीता जासकताहै। सत् और असत्का अनुभव होतेही जब यह निश्चय होजाताहै कि मनकी सबही शक्तियाँ बन्धनका कारण हैं और इन शक्तियोंका जन्मदाता मनका संकल्पही है। संकल्पके अभावमेंही ज्ञानका उदय होताहै। ज्ञानके उदयहोतेही मनका सारा, खेल समाप्त होजाताहै। मनका खेल समाप्त होनेपरही —'**अन्तःकरण**'— की शुद्धि हुआकरतीहै। यही मनसा परिक्रमाका सारांश है।

सन्ध्यान्तर्गत मनसा परिक्रमाका स्पष्टिकरण

मनुष्यने ईश्वरसे मनसा-परिक्रमाके ६ मन्त्रोंमें क्रूर तथा हिंसक पशु पक्षियोंसे अपनी रक्षाकी प्रार्थना कीहै। वस्तुतः बात यह है कि मनको अपने स्वामी जीवात्माके पास पहुँचनेमें अपने मार्मिक मायिक-स्थलों 'कामक्रोधादि' मेंसे होकर गमनकरना पड़ताहै; परन्तु इनको पारकरना साधककेलिये कोई सुलभ खेल नहीं; इसीलिये मानसिक विकार कामक्रोधादिकी उपमा क्रूर तथा हिंसक पशुओंसे दीहै।

कामक्रोधादिके भी दो-दो रूप होतेहैं—(१) सत्त्वगुणात्मक शुद्धरूप' (२) रजस्तमोगुणात्मक अशुद्धरूप। कामक्रोधादिका रजस्तमोगुणात्मक रूपका प्रयोग दूसरोंकेलिये क्रूरता और सिंहात्मकभावको लियेहुये होताहै। जो व्यक्ति अन्तःकरणकी शुद्धि चाहतेहैं, उन्हें रजस्तमोगुणात्मक भावोंकाही

कामक्रोधादिके दोनोंही स्वरूप

मनोविकार	सत्त्वगुणात्मक शुद्धरूप	रजस्तमोगुणात्मक अशुद्धरूप
काम	वंश रक्षाकेलिये सन्तानोत्पत्ति में—काम—ग्राह्य है।	व्यभिचार रूपसे कामवासनाकी पूर्तिमें — काम—त्याज्य है।
क्रोध	माताकी बच्चेको सत्पथपर लाने केलिये ताड़नेमें —क्रोध— ग्राह्य है।	कामवासना या कामेच्छाकी पूर्ति न होनेपर विपरीत भावोंकी उत्पत्तिमें— क्रोध—त्याज्य है।
लोभ	विद्यादि ग्रहण करनेमें लोभ उचित और ग्राह्य मानाजाताहै	परधनपर अनधिकार चेष्टाओंके लिये लोभ निषेध और त्याज्य है
मोह	मोहका उतना अंग ग्राह्यहै जिस के द्वारा दया तथा रक्षा इत्यादि की जाय।	शेष सभी बातोंमें मोह दुःखदायी होनेकेकारण त्याज्य है।
अहंकार	मान मर्यादा तथा धर्म की रक्षाकरनेमें अहंकार ग्राह्य है।	अनित्य पदार्थोंकेप्रति अहंकार (मिथ्याभिमान) त्याज्य है।

त्याग नहीं करदेना चाहिये, अपितु कल्याणकी भावनाओंसे युक्त सत्त्वगुणात्मक कामक्रोधादिकाभी प्रयोगकरना नहीं चाहिये, क्योंकि इससेभी दूसरोंका तात्कालिक मन-मुटावतो होताहीहै, चाहे कामक्रोधादिका सत्त्वगुणात्मक प्रयोग दूसरोंके कल्याणकेलियेही क्यों न हो ? जैसे—पिताकी पुत्रको, गुरुकी शिष्यको और माताकी पुत्रको ताड़ना आन्तरिक शुद्धिको लियेहुये होतीहै; परंतु फिरभी परमात्म-भावको प्राप्तकरनेवालोंकेलिये तो सत्त्वगुणात्मक भावभी अन्तःकरणकी शुद्धिमें एक रोड़ाही है, जिसका हटानाभी आवश्यक है; परन्तु इसमें सफलता केवल भगवद्भक्तिसे ही सुलभ है; इसीलिये मनसा-परिक्रमामें ईश्वरसे इस सत्कर्मके सम्पादनार्थ आत्मिकवल प्राप्तिकी प्रार्थनाकी गईहै ।

इन ६ मन्त्रोंमें शब्द —'**दिक्, अधिपतिः, रक्षिता, इषवः और नमः**'—का बारम्बार प्रयोगहुआहै । इनका प्रयोगभी आलंकारिक रूपसेही किया गयाहै; जिनके अर्थोंका और वास्तविकरूपका समझलेना परम-आवश्यक है ताकि इसबातका पूर्णरूपसे परिचय मिलजाय कि इन कामक्रोधादि स्थलोंको शक्ति कहाँसे मिलतीहै और उसके कामकरने वा नष्टकरनेका साधन क्या है ?

दिगादि शब्दोंका अर्थ

शब्द	अर्थ	जो अर्थ यहाँ लियेगयेहैं
दिक्	दिशा	मनकी अवस्था
अधिपतिः	स्वामी	आदर्श या मुख्यस्रोत
रक्षिता	रक्षा करनेवाला	(१) प्राप्त करनेका साधन; (२) आगे बढ़नेमें सहायक भाव ।
इषवः	वाण	उपदेश, सत्संग और सहवास
नमः	नमना	श्रद्धा और विश्वास

मनसा परिक्रमा

(पूर्वदिशाकेलिये मन्त्र)

ओ३म् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या द्बषवः तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।।१।।

पदच्छेद

प्राचीदिक् + अग्निः + अधिपतिः + असितः + रक्षिता + आदित्याः + इषवः । तेभ्यः + नमः + अधिपतिभ्य : + रक्षितृभ्यः नमः + इषुभ्यः + नमः + एभ्यः + अस्तु । यः + अस्मान् + द्वेष्टि + यं + वयम् + द्विष्मः + तं + वः + जम्भे, दध्मः ॥

सरलार्थ

हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! आप पूर्व दिशाके राजा हैं । आपने सूर्य्यको रचनाकर उसकी किरणोंद्वारा हमें जीवन प्रदानकियाहै । रक्षा, प्रकाश और ज्ञान प्रदानकेलिये, हे प्रभो ! आपको हम नमस्कार करतेहैं। आपसे यहभी प्रार्थना है कि जो हमसे द्वेष करताहै और जिससे हम द्वेष करतेहैं, उसे हम आपकी न्याय व्यवस्थापर छोड़तेहैं ।

मन्त्रका अन्वय

प्राचीदिक् असितः अग्निरधिपतिः रक्षिता आदित्याः इषवः

(सब मन्त्रोंके समान भागका विवरण अन्तिम व्याख्याकेसाथ दियागयाहै)

शाब्दिक यौगिक व्याख्या

प्राचीदिक् = पूर्व दिशा

साधककी सर्वप्रथम अवस्थाकोही — 'पूर्व दिशा' कहतेहैं । यह

तमोगुणात्मक अवस्था होनेकेकारण बिल्कुल अज्ञानमयी हुआकरतीहै। ज्ञानतो मनुष्यको सत्संग और सद्ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे प्राप्तहुआ करताहै।

असितः = अ+सितः
(सीमा रहित मोहग्रसित अवस्था)

'सितः' कहतेहैं — 'बन्धाहुआ'—और 'अ' — निषेधात्मक प्रत्यय है, इसलिये 'असितः' का अर्थ हुआ — 'बन्धा हुआ नहीं अर्थात् सीमारहित'। सीमारहित अवस्था मानसिक विकारोंमें केवल मोहकीही होतीहै। मोहभी अज्ञानरूपी एक बन्धन है। मोह जड़ और चेतन दोनोंसे सम्बन्ध रखाकरता है। इस मोहनेही बुद्धिपर परदा डालरखाहै और मन इससे बन्धाहुआहै। मनके जितनेभी बन्धन हैं — 'परतन्त्रता, दासता, शोक, भय आदि' — ये सब मोहकेही कारण उत्पन्न होतेहैं।

मोह-जाल

मनुष्य जड़ और चेतन दोनों प्रकारके पदार्थोंके मोहमें अन्धा होरहाहै। इस ममतासे छुटकारा पानेकेलिये ज्ञानही एकमात्र साधनहै, परन्तु ऐसा ज्ञान उसे केवल निर्मोही गुरुजनोंके सम्पर्कमें रहनेसे, उनके उपदेश श्रवण करनेसे और उनका सहवास करनेसेही प्राप्तहुआ करताहै। ऐसे सद्-गुरुही इस जीवनरूपी नौकाको इस संसाररूपी भव-सागरसे पारलगा सकतेहैं।

सच कहाहै — **मायातो ठगनी भई, ठगत फिरे सब देश।**
जा ठगने ठगनी ठगी वा ठगको आदेश॥

अग्निः अधिपतिः

पूर्वदिशाका स्वाकी सूर्य्यही है अर्थात् अज्ञानजनित मोहका नाशकरने वाला सूर्य्यरूपी ज्ञानही है। आत्मज्ञान प्राप्तहोतेही मोहके पञ्जे उखड़जातेहैं।

आदित्याः

सूर्य्यकेसमान तेजस्वी ब्रह्मचारियोंके पाससेही यह ज्ञान उपलब्ध हो सकताहै। ब्रह्मचर्य्यकी ज्योतिसे देदीप्यमान विद्वज्जनकोही आदित्य ब्रह्मचारी कहतेहैं। ऐसे सद्-गुरुही निर्मोही हुआ करतेहैं।

रक्षिताऽऽदित्या इषवः

सच्चे निर्मोही ब्रह्मचारियोंके 'उपदेश, सत्संग और सहवास' ही सहायक होतेहैं। सद्-गुरुही ममता-मोहसे छुड़ाकर संसाररूपी भव-सागरसे पार लगासकतेहैं।

यौगिक परिभाषामें

साधककी सर्वप्रथम अवस्था

तमोगुणी होतीहै, जो अन्धकार अर्थात् अज्ञानका प्रतीक है।

इस अज्ञानसे ही मोहकी उत्पत्ति हुआकरतीहै।

मनुष्यकी प्रारम्भिक अवस्था तमोगुणी होनेकेकारण अज्ञानमयी हुआ करतीहै और इसीलिये उसे मोह घेरे रहताहै। ममता-मोहके नाशकरनेमें ज्ञानही एकमात्र साधन है। यह ज्ञान निर्मोही गुरुजनोंके—**'उपदेश, सत्संग तथा सहवाससेही'** प्राप्तहुआकरताहै।

यौगिक भावार्थ

(मोहकी उत्पत्तिका कारण और उसके नाशका उपाय)

जब मनुष्य यह समझजाताहै कि महापुरुषोंद्वारा प्रचालित मत-मतान्तरोंमें सच्ची शान्ति नहीं है, तब वह ईश्वरीय आदेशों अर्थात् वैदिक धर्म की ओर आयाकरताहै। अब उसे ईश्वरीय-भक्तिकी अभिलाषा तो रहतीहै परन्तु इस समय उसकी मोहमयी अज्ञानमयी दशा हुआकरतीहै, जो उसे इस ओर नहीं आनेदेती। यह मोहरूपी अडचन उसे अपने कुटुम्बियोंकी ओरसे और धन सम्पत्तिकी ओरसे सदैवही उपस्थित होतीरहतीहै।

इस अज्ञान-जनित-मोहसे छुटकारा पानेकेलिये ज्ञानही एकमात्र साधन है, जिसकी प्राप्ति निर्मोही आदित्य ब्रह्मचारियोंके आदेशोंका अनुकरणकरनेसेही मिलाकरतीहै। उनके सत्संग और उन्हींके सहवासमें रहना आवश्यक है, जो चेतन पदार्थोंके मोहसे मुक्तकरादेतेहैं। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** —की शिक्षा उन्हीं सद्-गुरुओंसे प्राप्तहुआ करतीहै।

मनसा परिक्रमा
(दक्षिण दिशाकेलिये मन्त्र)

ओ३म् दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

पदच्छेद

दक्षिणादिक् + इन्द्रः + अधिपतिः + तिरश्चिराजी + रक्षिता पितरः इषव; तेभ्यः .... (शेष मन्त्र १ की तरह) ॥

सरलार्थ

हे परमेश्वर ! आप हमारे दक्षिण दिशामेंभी विद्यमान हैं और सबके अधिपति हैं। आपही हमारी टेढी चाल चलनेवाले सर्पादिसे रक्षा करतेहैं और उनसे बचनेकेलिए ज्ञानियोंसे ज्ञानभी प्रदानकरातेहैं। इस उपकारकेलिए हम आपको बारम्बार नमस्कार करतेहैं। हम यदि किसी से द्वेपकरतेहैं या कोई हमसे द्वेषकरताहै, इसका निर्णय हम आपकी न्याय व्यवस्था पर छोड़तेहैं।

शाब्दिक यौगिक व्याख्या

मन्त्रका अन्वय

दक्षिणादिक् तिरश्चिराजी इन्द्रोऽधिपतिः, रक्षिता पितर इषवः

(सब मन्त्रोंका समानभाग अन्तिम व्याख्यामें)

शाब्दिक यौगिक व्याख्या

दक्षिणादिक् = दक्षिण दिशा

(रजोगुणमिश्रित तमोगुण अवस्था)

दक्षिणा शब्द —'दक्ष्'— धातुसे बना है, जिसका अर्थ होता है —'कुछ शिक्षित होना।' 'दिक्' कहतेहैं —'अवस्था'—को। 'दक्षिणादिक्' का अर्थ हुआ —'कुछ शिक्षित अवस्था'।—यह रजोगुण-मिश्रित-तमोगुण अवस्था हुआकरतीहै।

तिरश्चिराजी

(तिरस्+अञ्च+राजी)

तिरस्=टेढी
चि=अञ्च =चाल=
राजी =शासन करना

टेढी चाले चलनेवाला अर्थात् कूटनीतिज्ञ। व्यवहारमें कूटनीति बर्तने वालेही टेढी चालें चलाकरतेहैं। ऐसी चालोंका जन्म लोभके कारणही हुआकरता हैं।

यहाँ —'लोभ'— सेही तात्पर्य्य है। लोभ जड़ पदार्थोंसेही होताहै।

इन्द्राधिपति:

'इन्द्र' कहतेहैं —'धनी' — को, और 'अधिपति' कहतेहैं —'स्वामी'-को; इसलिये इन्द्राधिपतिका अर्थहुआ —'धनीमानी व्यक्ति'। धनी व्यक्ति का सम्पर्कही लोभकेलिए कियाजाताहै और लोभकी उत्पत्तिही धनीमानी व्यक्तिके सङ्गसे होतीहै।

रक्षिता पितर इषव:

'पितर' कहतेहैं—'विरक्त व्यक्तियों'—को; इसलिये विरक्त व्यक्तियों के —'उपदेश, सत्संग, तथा सहवास' —ही लोभका नाश कियाकरतेहैं।

यौगिक परिभाषामें

साधककी दूसरी अवस्था

(कुछ रजोगुण मिश्रित तमोगुण अवस्थाही कुछ शिक्षित अवस्था होतीहै।)

निर्लोभी गुरुजनोंके सम्पर्कमें आकर जब कुछ ज्ञान उत्पन्न होनेलगताहै

तब सगा-सम्बन्धियोंसे ममता-मोहतो जातारहताहै; परन्तु लोभ आदवाताहै। जोकुछ जीवनमें पुरुषार्थसे उपार्जनकियाहैं, उससे ममता नहीं टूटती। यही सारी बुराइयोंकी जड़ है। इस लोभकी उत्पत्ति और वृद्धि ही धनीमानी व्यक्तिकोंके सम्पर्कसे हुआकरतीहै। लोभकी भावनाओंका नाश निर्लोभी व्यक्तियोंके सम्पर्कमें रहनेसे ही हुआकरतीहै।

यौगिक भावार्थ

लोभकी उत्पत्तिका कारण और उसके नाशका उपाय

मनुष्य जब गुरुजनोंका सत्संग करनेलगताहै, तब उसका अज्ञान तो हटताजाता है और ज्ञानकी वृद्धि होनेलगतीहै। उसकी यह दशा कुछ रजोगुण मिश्रित तमोगुण हुआकरतीहै, अर्थात् वह कुछ शिक्षित कहलानेका अधिकारी बनजाताहै। तत्फलस्वरूप वह मोहसे निकलकर लोभमें आ फंसताहै। उसकी जीवित पदार्थोंसे तो ममता जातीरहतीहै; परन्तु जड़ पदार्थोंपर उसका प्रेम और भी अधिक बढ़जाताहै। इसेही **'लोभ'** कहतेहैं और यही सारे पापोंकी जड़ भी है। लोभकी पुष्टिकरनेवाला – **'ऐश्वर्य'**– ही हैं; इसीलिये लोभीजनोंके प्रेमी धनीमानी पुरुषही हुआकरतेहैं। लोभ की भावनाका नाश केवल निर्लोभी जनोंके — **'उपदेश, सत्संग और उनके सहवास सेही'**—हुआकरताहै।

मनसा परिक्रमा

(पश्चिम दिशाकेलिये मन्त्र)

ओ३म् प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

पदच्छेद

प्रतीचीदिक् + वरुणः + अधिपतिः + पृदाकू + रक्षिता + अन्नम् + इषवः। तेभ्यः .... (शेष मन्त्र १ की तरह)

सरलार्थ

हे सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! आप पश्चिम दिशामेंभी व्यापक हैं और बड़े विषैले जीवोंसे हमारी रक्षाकरतेहैं तथा अन्नद्वारा हमें प्राण-दान देते हैं, हम आपको नमस्कार करतेहैं। कोई हमको सतताहै या हम किसीको सताते हैं, इस बातका निर्णय हम आपपर ही छोड़तेहैं, जैसा उचित हो कीजिये।

मन्त्रका अन्वय

प्रतीचीदिक् पृदाकू वर्णोऽधिपतिः रक्षितान्नमिषवः
(सब मन्त्रोंका समान भाग अन्तिम व्याख्यामें)

शाब्दिक यौगिक व्याख्या

प्रतीचीदिक्=पश्चिम दिशा

रजोगुणात्मक अवस्था

यदि हम पूर्वकी ओर मुँहकरके खड़ेहों, तो हमारे पीठकीओर पश्चिम दिशा होतीहै। पीठकीओर है — 'रीढ की हड्डी' — जिसमेंनीचे के समीप हर्षोत्पादक अंग होताहै। मस्तिष्ककी भावना यहाँ हर्षोत्पादक अंगपर पड़तेही मेढ्रभूमिका संकोचन होनेलगताहै। फिर तुरन्तही मूत्रेन्द्रिय भोगकी इच्छा उत्पन्नहोजाया करतीहै। यह रजोगुणात्मक अवस्था जो कामवासनाओंसेयुक्त रहाकरतीहै। इस कामदेवके प्रभावसे मनुष्य अन्धा अर्थात् विचारशून्य होजाया करताहै।

पृदाकू
(बड़ाभारी अजगर)

रजोगुणही कामवासनाका जन्मदाताहै। जैसे अजगर मनुष्यको

करजाताहै, वैसेही काम-भावना भी मनुष्यका नाश करडालतीहै। कामदेव मनुष्यका परम शत्रु है। इस भावनाके रहतेहुये मनुष्यकी अन्य सभी विशेषताएँ तुच्छ और अमोन्य हुआकरतीहैं; इसलिये प्रदाकू शब्द कामदेवका ही प्रतीक है।

वरुणोऽधिपतिः
(पश्चिम दिशाका स्वामी वरुण देवता)

'वरुण' कहते हैं—**'जलको'**; परन्तु यहाँ वरुणसे अर्थ लियागया है **'वीर्य्य'**। दक्षिण दिशासे रजोगुण आरम्भहोकर पश्चिम दिशामें भरपूर हो जाताहै। रजोगुण कामदेवका जन्मदाता है। पश्चिम दिशामें रहुँचतेही कामदेवकी शक्ति भरपूर होजातीहै: ज्यों-ज्यों शरीर पुष्ट होताजाताहै, त्यों २ वीर्य्यभी बढ़ताजाताहै। वीर्य्यकी बढोतरी ही कामदेवका पोषक है।

रक्षितान्नमिषवः
(रक्षिता + अन्नम् + इषवः)

शब्द	अर्थ	प्रयोग
रक्षिता	रक्षाकरनेवाला; परन्तु यहाँ सहायक भाव लियागयाहै।	संन्यासियोंने ही कामदेवको जीताहै; इसलिये उनके उपदेश, सत्संग और सहवासही कामवासनाओंसे मुक्तकरा सकतेहैं। संन्यासियों का सत्संग कामदेवपर विजयी होनेकेलिये आवश्यक है।
अन्नम्	यह शब्द 'अद्' धातुसे बनाहै, जिसका अर्थ होताहै—'भक्षण करना'—; इसलिये 'अन्नम्' का अर्थ हुआ —'वह व्यक्ति जिसने कामदेवकोभी जीतलिया है'; ऐसा—'संन्यासी'—ही होताहै।	
इषवः	वाण; परन्तु यहाँ —'सत्संग, सदुपदेश और सहवाससे'—आशय है।	

यौगिक परिभाषामें

साधककी तीसरी अवस्था

(रजोगुणात्मक अवस्था)

जब मनुष्यका मोह और लोभ दोनों जातेरहतेहैं, तब उसकी रजोगुणी वृत्ति बनजाया करतीहै और फिर काम-वासनाओंकी जाग्रति होनेलगतीहै। काम-वासनाओंका पोषण वीर्य्यसेही होताहै।[1] इस कामदेवका नाश संन्यासियोंके सम्पर्कमें रहनेसेही हुआकरताहै।

यौगिक भावार्थ

(काम-वासनाकी उत्पत्तिका कारण और नाशका उपाय)

जब मनुष्य मोह और लोभ दोनोंका त्यागकरदेताहै, तब उसे काम-वासनाएँ आदबाया करतीहैं। अब उसकी रजोगुणात्मक भावनाएँ जाग्रत होउठतीहैं और इस दशामें मनुष्यकी बहिर्मुखी वृत्तियाँ कामकरने लगतीहैं। वह सदैव सुन्दर पदार्थोंसे प्रेम करनेलगताहै।

चरित्रके नाशकरनेमें अकेला कामदेवही पर्याप्त है। काम-वासनाओंका पोषक वीर्य्यही होताहै। इस विषयमें यही सर्वेसर्वा भी है। काम-वासनाओंको जीतनेकेलिये संन्यासियोंका सत्संग और उपदेश ग्रहणकरना परमावश्यक है, क्योंकि कामदेवने इन्हींसे हार मानी है।

---

[1] वीर्य्यका विस्तृत वर्णन—'मनुष्य पूर्ण नीरोग कैसे हो ?'— चौथे-पाँचवें भागमें पढ़िये — मूल्य ५) रुपया।

मनसा परिक्रमा

(उत्तर दिशाकेलिये मन्त्र)

ओ३म् उदीचीदिक् सेमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिता-ऽशनिरिषवः तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

पदच्छेद

उदीचीदिक् + सोमः + अधिपतिः + स्वजः + रक्षिता + अशनिः + इषवः । तेभ्यः .... (शेष मन्त्र १ की तरह) ।

सरलार्थ

हे शान्तिके भण्डार महाप्रभो ! आप हमारे बाईं ओर उत्तर दिशामें भी व्यापक हैं और हमारे आप स्वामी भी हैं। आप स्वयम्भू हैं और रक्षक भी । आप विद्युत्द्वारा गति प्रदानकर हमारी रक्षाकरतेहैं । हे प्रभो ! आपको हमारा नमस्कार है । जो हमसे द्वेष करताहै या हम जिससे द्वेष करतेहैं, इस बातको हम आपकी न्याय-व्यवस्थापर छोड़तेहैं ।

मन्त्रका अन्वय

उदीची दिक् स्वजः सोमोऽधिपतिः रक्षिताशनिरिषवः ।

(सब मन्त्रोंका समान भाग अन्तिम व्याख्यामें)

शाब्दिक यौगिक व्याख्या

(उदीचीदिक् = उत्तर दिशा)

(सत्त्वगुणमिश्रित रजोगुणात्मक अवस्था)

इस दशामें रजोगुणका नाश और सत्त्वगुणका उदय होनेलगताहै, अर्थात् काम-वासनाओंसे अरुचिहोकर सत्की खोजमें साधक जुटजाताहै । फिर वह अपने जीवन-लक्ष्यकी ओर बढ़नेलगताहै; परन्तु सफलताके अभावमें उसमें —

स्वजः

स्वजः कहतेहैं जो आपही आप उत्पन्नहोजाय और वह केवल क्रोध हुआकरताहै, इसलिये — 'स्वजः' — का अर्थ हुआ — 'क्रोध' —

सोमोऽधिपतिः

सोम कहतेहैं — शान्ति — को, और अधिपति कहतेहैं — मुख्य साधनको; इसलिये — 'सोमोऽधिपतिः' — का अर्थ हुआ — शान्तिरूप ही मुख्य साधन है।

रक्षिताशनिरिषवः

(योगिजनोंका सत्संगही मुख्य साधन है)

रक्षिता = सहायक भाव = शान्तिकी पुष्टि

अशनिः = भोगका भोक्ता होनेकेकारण आत्माको — 'अशः' — कहतेहैं मनुष्यका ध्यान आत्माकीओर होनेपरही आत्माका साक्षात्कार हुआकरताहै। इस दशामेंही उसे — 'अशनिः' — कहागया है और ऐसे व्यक्ति — 'योगिजन' — ही हो सकतेहैं।

इषवः = दयालु योगिजनोंका सत्संग, उनके उपदेश और उनका सहवास ही शान्ति-प्राप्तिका साधन है।

यौगिक परिभाषामें

साधककी चौथी अवस्था

(सत्त्वगुणारम्भ)

साधककी सत्त्वगुणी वृत्तिके आरम्भहोतेही श्रद्धाकी उत्पत्ति होनेलगतीहै वह फिर सचाईकी खोजमें लगजाताहै; परन्तु सफलता न मिलनेपर उसे क्रोध आया करताहै। क्रोधपर विजय पानेकेलिये शान्तिरूपी अस्त्र ही एकमात्र साधन है। शान्ति-प्राप्तिकेलिये योगियोंका सत्संग, उनका उपदेश और उन्हींका सहवास परमावश्यक है।

यौगिक भावार्थ

(क्रोधोत्पत्तिका कारण और उसके नाशका उपाय)

पूर्वसे पश्चिमतक तमोगुण और रजोगुणका प्रभाव रहाकरता है, जिसके फलस्वरूप वह व्यक्तिभी मोह, लोभ और कामकी चरम-सीमातम पहुँचजाताहै; यहांतक कि वह इनके प्रभावमें पड़, बिल्कुल अन्धा बनजाताहै; परन्तु उत्तरमें पहुँनेपर रजोगुणका प्रभावतो समाप्तहोजाताहै और सत्त्वगुणका प्रभाव आरम्भहोजाताहै। अब साधकको दूसरोंकी त्रुटियोंपरही नहीं, बल्कि अपनी त्रुटियोंपरभी रोष आयाकरताहै। अब वह सबको सत्पथपर लानेका प्रयत्न करनेलगताहै और इसीलिये उसमें क्रोधका भाव जाग्रत होजाताहै जिसे दबानेकेलिये वह योंगियोंका सत्सग ढूँढ़ता फिरताहै।

संन्यासियोंका सत्संग करनेसे और उनके उपदेश सुननेसे मनुष्यके हृदय से कामनाएँ नष्ट होने लगतीहैं और अब उसके हृदयमें सत्यताकी नींव जमने लगती है। तत्फलस्वरूप श्रद्धाकी उत्पत्ति होने लगतीहै, और फिर साधक सत्यताका प्रचार करनेमें जुटजाताहै; परन्तु सफलताके अभावमें क्रोधकी जाग्रति होनेलगतीहै। क्रोधको दवानेका मुख्य साधन 'शान्ति' ही है, परन्तु वह शान्ति केवल योगिजनोंके उपदेशों, उनके सत्संगों और उनकेसाथ रहने सेही प्राप्त होसकतीहै। अतः वह योगियोंका सत्संग ढूँढता फिरताहै।

मनसा परिक्रमा

(नीचेकी दिशाके लिये मन्त्र)

ओ३म् ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

पदच्छेद

ध्रुवादिक् + विष्णुः + अधिपतिः + कल्माषग्रीवः रक्षिता, वीरुध, इषवः। तेभ्यः ···· ···· (शेष मन्त्र १ की तरह)।

सरलार्थ

हे सर्वव्यापक परमात्मन्! आप हमारे नीचेकीओर भी विद्यमान हैं और हमारे स्वामी भी हैं। हरे रंग वाले वृक्षों, लताओं और ओषधियों द्वारा हमारे प्राणोंकी रक्षा करतेहैं। इसकेलिये आपको हमारा बारम्बार नमस्कार है। जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करतेहैं, उसे हम आपकी न्याय व्यवस्थापर ही छोड़तेहैं जैसा उचितहो, आप कीजिये।

मन्त्रका अन्वय

ध्रुवादिक् कल्माषग्रीवः विष्णुरधिपतिः रक्षिता वीरुध इषवः।

(मन्त्रका शेष समान भाग अन्तिम व्याख्यामें)

शाब्दिक यौगिक व्याख्या

ध्रुवादिक् = नीचेकीओर

साधककी सत्त्वगुणीदशा = शिक्षित अवस्था। जब साधक रजोगुण से सत्त्वगुण क्षेत्रमें पहुँचजाताहै, तब उसे ज्ञान होजाया करताहै।

कल्माषग्रीवः

(कल्माष एव ग्रीवा यस्य स कल्माषग्रीवः)

'ग्रीवा' का अर्थ –'गर्दन'– भी होताहै और –'कर्तृत्वभाव'– भी और 'कल्माष' का अर्थ होताहै —'काला या अहंकार'; इसलिये—'कल्माषग्रीवः' का अर्थ हुआ —'अहंकारी'—। जब मनुष्य यह समझने लगताहै कि मैंने तमोगुण और रजोगुणपर बिजय प्राप्तकरलीहै, तब उसमें–'कर्तृत्वाभिमान'- आजाया करताहै और यही — 'अहंकार' — है, जो उसके पतनका कारण बनाकरताहै।

विष्णुरधिपति:

(शरीरमें अहंकार सर्वव्यापक परमात्माकी भान्ति फैला हुआहै।)

रक्षिता वीरुध इषव:

रक्षिता=	सहायक भाव	अहंकारका नाश ब्रह्म-ज्ञानियोंके उपदेश, सत्संग तथा सहवाससे ही हुआकरताहै, क्योंकि उन्होंने ही ज्ञानको यथार्थरूपसे समझा हुआहै।
वीरुध =	(१) भिन्न २ दिशाओंमें बढ़नेवालीबेल। (२) जिसने जीवसे ब्रह्म तक सारी अवस्थाएँ देखलीहैं, ऐसा 'ब्रह्मज्ञानी'।	
इषव: =	उपदेश, सत्संग तथा सहवास।	

यौगिक परिभाषामें

साधककी पाँचवीं अवस्था

(सत्त्वगुणी अवस्था)

सत्वगुणसेभी मनुष्यको बहुतही सतर्क रहनाचाहिये, क्योंकि अब कहीं अहंकारका प्रादुर्भाव होआया, तो मनुष्यका फिर पतन होजाया करताहै। वह सत्त्वगुणभी अहंकाररहित रहना चाहिये। ऐसा उसी दशामें संभव है जबकि सत्कर्मभी फलासक्तिरहित होकर सम्पादित कियेजायें और फिर ऐसाही निरन्तर होताभी रहे अर्थात् सत्कर्मोंको सतत्त्वका रूप देदेना चाहिये। फिर अहंकार स्वत:ही नष्ट होजाया करताहै। ऐसे भाव उत्पन्नकरनेकेलिये ब्रह्म-ज्ञानियोंके उपदेश और सत्संगकी आवश्यकताहै, जहाँ अहंकार नम्रतामें बदल कर ब्रह्म-ज्ञानका साधन बनजाया करताहै।

यौकिक भावार्थ

(अहंकारकी उत्पत्तिका कारण और उसके नाशका उपाय)

जब मनुष्यमें सत्त्वगुण-प्रधान होताहै, तब उसे शान्ति तो अवश्य मिलतीहै परन्तु उसमें कर्तृत्वभावकेकारण अहंकारकी उत्पत्ति होजाया करतीहै। वह अहंकार शरीरमें इसप्रकार समाजाताहै, जिस प्रकार विष्णु भगवान्की सत्ता सारे संसारमें। अहंकारका नाश सत्कर्मोंको जीवनका स्वाभाविक अंग बनानेसे ही हुआकरताहै; परन्तु ऐसा जीवन ब्रह्म-ज्ञानियोंके सम्पर्कमें रहनेसे ही बनाकरताहै।

जब मनुष्य सत्त्वगुण क्षेत्रमें पहुँचजाताहै, तब उसे अहंकार आदबा करताहै। जैसे विष्णु भगवान्की सत्ता सारे ब्रह्माण्डमें फैलीहुईहै, वैसे अहंकारनेभी सारे शरीरको धारण कियाहुआहै। यदि अहंकार नष्ट होजाय तो यह शरीरही नष्टहोजाय; इसलिये इस अहंकारको नाश करनेकी आवश्यकता नहीं; परन्तु इसे नम्रता में बदलनेकी आवश्यकता अवश्य है यह अहंकार नम्रतामें ब्रह्म-ज्ञानकी सहायतासेही बदला जासकताहै और ब्रह्म-ज्ञान ब्रह्म-ज्ञानियोसेही प्राप्त होसकताहै, जिन्होंने प्रकृतिसेलेकर ब्रह्म ज्ञानको साक्षात् कियाहुआहै। ब्रह्म-ज्ञानियोंका सत्संग और उनका उपदेश अहंकारको नम्रतामें बदलसकताहै। जब साधक अपने तपोबलसे काम क्रोधादिको जीतलेताहै, तब वह अपनी अन्तिम ज्ञान-निष्ठापर पहुँच चक्रवर्ती राजाकी भाँति बन जायाकरताहै।

मनसा परिक्रमा

(ऊपरकी दिशाकेलिये मन्त्र)

ओ३म् ऊर्ध्वादिक् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥६॥

पदच्छेद

ऊर्ध्वादिक् + बृहस्पतिः + अधिपतिः + श्वित्रः + रक्षिता, वर्षम्, + इषवः। तेभ्यः .... (शेष मन्त्र १ की तरह)

सरलार्थ

हे ज्ञानस्वरूप महाप्रभो! आप हमारे ऊपरकी ओरभी विद्यमान हैं। आप सबके राजा हैं। आप वर्षाद्वारा हमें जीवन-प्रदानकरतेहैं। दिव्य-गुणयुक्त रक्षाके साधनोंकेकारण हमआपको वारम्बार नमस्कार करतेहैं। जो हमसे द्वेष करताहै या हम जिससे करतेहों, यह सबकुछ हम आपकी न्याय व्ययस्था पर छोड़तेहैं; जैसे उचित समझें, दण्ड दीजिये।

मन्त्रका अन्वय

ऊर्ध्वादिक् श्वित्रः बृहस्पतिः अधिपतिः रक्षिता वर्षम् इषवः तेभ्यः नमः अधिपतिभ्यः नमः रक्षितृभ्यः नमः इषुभ्यः नमः एभ्यो: अस्तु। यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः तं वः जम्भे दध्मः॥

शाब्दिक यौगिक व्याख्या

ऊर्ध्वादिक् = ऊपरकीओर

(जीवन-मुक्तिही सर्वोपरि अवस्था होतीहै)

साधककी सबसे ऊँची अवस्था होतीहै —'जीवन-मुक्त अवस्था'— यही गुणातीत अवस्था है। शरीर त्यागनेतक यदि यह अवस्था स्थिर रहजाय, तो साधक मुक्तिका अधिकारी होजाया करताहै। दैववश अन्तिम श्वासतकभी यदि कोई प्राकृतिक भाव आकूदा, तोभी उसे उसकी पूर्तिकेलिये पुनः जन्मलेनाही पड़ताहै। ऐसे मुक्तात्माही संसारके पथप्रदर्शक बनाकरतेहैं।

श्वित्रः

(सद्-ज्ञान = यथार्थ-ज्ञान = ब्रह्म-ज्ञान)

बृहस्पतिः अधिपतिः

उस ब्रह्म-ज्ञानके पोषक बृहस्पति हैं, जो ज्ञानके अधिष्ठाता, विद्याके भण्डार और वाणीके स्वामी हैं। बृहस्पतिसे तात्पर्य यहाँ 'आत्म-ज्ञानी' से है

रक्षितावर्षमिषवः

वर्षम् —वृषु धातुसे बनाहै, जिसका अर्थ होताहै —'वर्षा करना'-
प्रभु-भक्तही अमृतवाणीकी वर्षा कियाकरतेहैं ।

रक्षिता—जो अपनी शक्तियोंको परोपकारकी दृष्टिसे काममें लातेरहतेहैं,
प्रभु-भक्तही हुआकरतेहैं;

इषवः —उनके उपदेश,सत्संग और सहवास ब्रह्म-ज्ञानका दाता होताहै।

यौगिक परिभाषामें

(साधककी उच्चतम गुणातीत अवस्था)

जव साधक काम-क्रोधादिसे ऊपर उठआया करताहै, तब उस
अहंकार नमस्कारमें बदलजाताहै । (नमस्कारका अर्थ होताहै—'नमोनमः
न मम न मम=मेरा नहीं मेरा नहीं, जोकुछ है, वह सब तेराही है)
और फिर वह परमात्माकी कृपाका ऐसा पात्र बनजाया करताहै कि उस
वाणीसे अमृत-वर्षा ही हुआकरतीहै । उसके सत्संगसे ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्ति
होतीरहतीहै । ऐसी मुक्तात्माही इस भव-सागरसे पार उतारा करतीहैं।

यौगिक भावार्थ

(ब्रह्म-ज्ञानकी उत्पत्ति और उसकी रक्षाके साधन)

जब साधक सबसे ऊँची अवस्थापर पहुँचजाताहै, तब उसे न मोह
सताताहै, न लोभ और न काम-क्रोध। यहाँतककि उसका अहंकार
जातारहताहै । उस दशामें वह ईश्वर-भक्त ऐसी स्थितिमें जापहुँचताहै कि
फिर निरन्तर भक्तिरूपी अमृतमेंही गोते लगातारहताहै । अब उसे कोई
बन्धन नहीं सताता । वह प्रकृतिपर विजयी रहताहै । वह बृहस्पतिकेसमान
ज्ञानका अधिष्ठाता, वाणीका स्वामी और विद्याका भण्डार बनजाताहै
बस, यही जीवन-मुक्त अवस्था है, जो मनके शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होनेपरही प्राप्त
हुआकरतीहै । इसेही अन्तःकरणकी वास्तविक शुद्धि कहतेहैं ।

मनसा परिक्रमाके मन्त्रोंकी तालिका

जिसपर दृष्टि डालतेही मन्त्रोंके साधारण और यौगिक भावोंका स्पष्टीकरण होजाताहै

मन्त्र	दिशा	अधिपति	रक्षाकरनेवाला	किससे रक्षाकरताहै
१	पूर्व	अग्नि	सूर्य्यकी किरणें	असितः—अंकारसे
२	दक्षिण	इन्द्र	चन्द्र-किरणें	टेढ़ीचालवाले सर्पादि
३	पश्चिम	वरुण	घृत (अन्नम्)[1]	से, विषैले जन्तुओंसे
४	उत्तर	सोम	बिजली	स्वयं उत्पन्नहोनेवाले
५	नीचे	विष्णु	वृक्षादि	कीटादिसे, विषैली
६	ऊपर	बृहस्पति	वर्षाका जल	गैससे और रोगोसे

यौगिक भावार्थ

(जो भाव मनकी शुद्धिकेलिये यहाँ लियेगयेहैं)

मन्त्र	मनके गमन करनेका क्षेत्र	मनकी अवस्था	साधनका मुख्यहेतु	साधन जहाँसे उपलब्ध होसकताहै
१	तमोगुण	अज्ञान जनित मोहमयी	आत्म-ज्ञान	निर्मोही आदित्य ब्रह्म-चारियोंसे
२	तमोगुण मिश्रित रजोगुण	लोभयुक्त	धनीमानी	विरक्त व्यक्तियोंके सम्पर्कसे
३	रजोगुण	कामासक्त	वीर्य्य-वृद्धि	संन्यासियोंके सम्पर्कसे
४	रजोगुणमिश्रित सत्त्वगुण	क्रोधमयी	शान्तिही	योगिजनोके सम्पर्कसे
५	सत्त्वगुण	अहंकारयुक्त	नम्रता	ब्रह्म-ज्ञानियोंके सम्पर्कसे
६	गुणातीत	जीवन-मुक्त	ब्रह्म-ज्ञान	जीवनमुक्त आत्माओंसे

[1] अन्न—प्रत्येक भोज्य पदार्थ। यहाँ अन्नसे अभिप्राय विषनाशक घृतसे है।

मनसा परिक्रमाका सारांश

(काम-क्रोधादिसे मनकी मुक्ति ही अन्तःकरणकी शुद्धि है)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः

मनही संसारका उत्पन्न करनेवाला और चलानेवालाहै। मनके शान्त होतेही जीवनमें परम शान्ति आजाया करतीहै। मन संसाररूपी माया-चक्र की नाभि है। बल और बुद्धिद्वारा इस नाभिको घूमनेसे रोकलेनेपर संसार चक्रकी गतिभी रुकजाया करतीहै। मनको जीतलेनेपर सबकुछ जीतलिया जाताहै। मन अन्तःकरणका नीचेका संसार-मुखी द्वार है और चित्त ऊपर का आत्माभिमुखी। चित्तके शुद्ध और स्वच्छ होतेही अन्तःकरण स्वयं ही शुद्ध होजाताहै।

मनुष्यका मन जब बहिर्जगत्में होताहै, तब वह अपने सगा सम्बन्धियों की ममता-मोहमें फँसारहताहै; स्वार्थपूर्तिकेलिये धनीमानी व्यक्तियोंसे मित्रता करतारहताहै; काम वासनाओंकी पूर्तिकेलिए वैद्य और डाक्टरोंके द्वार खटखटाता रहताहै; कामवासनाओंकी पूर्तिके अभावमें क्रोधसे जलता रहता है और पूर्तिहोनेपर अहंकारमें चूर होजाताहै। ये सब जीवात्माको बन्धन में डालनेवाले हैं। मन जब अन्तर्जगत्में चलाजाताहै, तब वह निर्मोही ब्रह्म-चारियोंके सम्पर्कसे मोहको भी त्यागदेताहै। सारे संसारकोही कुटुम्ब समझ लेताहै। विरक्तजनोंका सत्संगकर लोभकाभी त्यागकरदेताहै। संन्यासियों के उपदेश सुनते-सुनते उसकी कामवासनायेंभी जातीरहतीहैं। योगिजनों के सहवाससे उसका क्रोधभी शान्तहोजाया करताहै। ब्रह्म-ज्ञानियोंके सत्संग से उसका अहंकारभी नम्रताका रूप धारणकर बैठताहै। जीवन-मुक्त महात्माओंके सम्पर्कमें रहकर वह एकदिन स्वयंभी जीवन-मुक्तही होजाताहै।

मनके शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होतेही सारा अन्तःकरणही शुद्ध होजाताहै। अन्तः करणकी शुद्धिसेही भगवद्भक्तिका, जन्महोताहै। निरन्तर भगवद्भक्ति जीवन-लक्ष्य-पूर्तिका साधन है। यही –'**मनसा परिक्रमा**'– का सारांश है।

मनुष्यका ईश्वरकेप्रति कर्त्तव्य

उपस्थान मन्त्र

ईश्वरोपासना (भगवद्भक्ति)

(जीवन-मुक्त होनेका सरल साधन)

मनका अबतक जो विषय-भोगोंसे प्रेम और आत्मासे द्वेष (विमुख रहना) था, वह भाव अन्तःकरणकी शुद्धि होतेही बदलजाताहै। अब आत्म-भावसे प्रेम और विषय-भोगोंसे वैराग्य होजाताहै। वैराग्यकी निरन्तर पुष्टि होतेरहनेसेही साधकके हृदयमें भगवद्भक्तिके अंकुर फूटआतेहैं। यही **'ईश्वरोपासना'** का श्रीगणेशभी है। इसीके निरन्तर अभ्याससे साधकके —**'अहंकार और फलासक्ति भावों'**— का नाश हुआकरताहै।

उपस्थानके चारों मन्त्रोंका सारांश

(प्रकृति, जीव और ईश्वर सम्बन्धी गूढ़ रहस्य)

अन्तःकरणकी शुद्धि होतेही मनुष्यको आत्म-ज्ञान-लाभ हुआकरताहै। फिर अत्म-ज्ञान-प्राप्तिपर साधकको –**'प्रकृति, जीव और ईश्वर'**– सम्बन्धमें बड़े-बड़े रहस्य खुलाकरतेहैं। इन्हीं रहस्योंका परिचय महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीने अपनी वैदिक सन्ध्याके चार मन्त्रोंमें दियाहैः—

१—प्रकृति, जीव और ईश्वरका अपना-अपना अस्तित्व है और इनकी अपनी अपनी विशेषताएँ भी हैं:—

(अ) प्रकृतिद्वारा रचित यह मानव शरीर सुन्दर पदार्थ होनेकेनाते प्रभु-पूजाका एक पवित्र मन्दिर है;

(आ) प्रकृति और जीवात्मा दोनों भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु प्रकृति रचि
इस शरीरसे जीवात्मा अधिक सुन्दर है;

(इ) देवताओंमें भी जो देवत्व है, वह उसी महाप्रभुका अंश
इसलिये वह परमात्माही सर्वश्रेष्ठ है;

(उ) उस परमात्माकी प्राप्तिही जीवन-मुक्ति कहलातीहै।

२—कार्य्य-कारणभावसे परमात्माका अस्तित्व सिद्ध होताहै, अर्थात् सृष्टि
रचनाही परमात्माके अस्तित्वका द्योतक है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्या
और सर्वान्तिर्यामी है।

३—शरीरके अन्दर और बाहर उस महाप्रभु परमात्माकाही प्र
है। राग और द्वेषसे मुक्तहोतेही अर्थात् दृष्टिकोणके बदलतेही स
ब्रह्माण्डही उसे ब्रह्ममय प्रतीतहोने लगाकरताहै और फिर वह परमा
विश्वकी आत्मा दीखपड़ताहै।

(अ) भक्त जो परमात्माको अपने अन्दर देखलेताहै, उसे अपना
भी ब्रह्मवत्‌ही दीखनेलगताहै;

(आ) भक्त परमात्माको जब बाह्य जगत्‌की लीलाओंमें अनु
करताहै; तब उसे सबही ब्रह्मवत् दीखाकरतेहैं।

४—स्वाधीनता, निर्भयता, आत्म-विश्वास तथा स्वालम्बनही उपासक
दिव्य सम्पत्तियाँ हैं। ये सब विशेषताएँ ईश्वर-भक्तिकी ही देन हैं।

उपासनाके मन्त्रोंमें यही बतलाया गयाहै कि भगवद्भक्तिसे राग
द्वेष जाते रहतेहैं। ऐसी स्थिति आनेपर साधक प्रकृति, जीव और ईश
में जो भेद है उसे भलीप्रकार अनुभवकर लियाकरताहै। उसकी दृष्टि
यही आताहै कि ईश्वर प्रकृतिसे उत्तम है। मनुष्यका यह स्वाभाविक गुण
कि वह सदैव उत्तम पदार्थसेही प्रेम कियाकरताहै; इसलिए ईश्वर
प्रेम और संसारसे वैराग्य। ज्यों-ज्यों संसारसे वैराग्य होताजाताहै, त्यों
उसका ईश्वर-प्रेम दृढ़ होताजाताहै। जीवनमें एकदिन ऐसा समय
आजाताहै, जबकि वह जीवन-मुक्त होजाताहै। यही ईश्वरोपासनासे लाभ

उपस्थानका पहिला मन्त्र

(प्रकृति, जीव और ईश्वरका अपना-अपना अस्तित्व और उनकी विशेषताएँ)

यहाँ — 'उत्, उत्तर और उत्तम'—शब्दोंके प्रयोग कियेगयेहैं, जो केवल तुलनात्मक पदार्थोंमेंही प्रयुक्तहुआ करतेहैं। यहाँ 'प्रकृति रचित पदार्थ जीव और परमात्मामें' तुलना कीगईहै। तुलना उन्हीं पदार्थोंमें हुआकरतीहै, जिनका कुछ अस्तित्व होताहै। इससे यह भी सिद्धहोताहै कि ,प्रकृति, जीव और ईश्वर' तीनोंकी स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं और जब तुलनाहै, तब कुछ विशेषताएँ भी हैं।
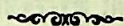
(प्रकृति, जीव और ईश्वरका अस्तित्व)

ओ३म् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।

मन्त्रका अन्वय

भगवद्भक्तिके बलपर साधकके अनुभव

१. उद्वयम् ; २. तमसस्परि स्वः उत्तरम् ; ३. पश्यन्तः देवत्रा देवं सूर्य्यम् उत्तमम् ; ४. ज्योतिः अगन्म।

शब्दार्थ

१—**उद्वयम्**=प्रकृतिसे बनाहुआ शरीर शिव-पूजाका एक सुन्दर मन्दिर है।

२—**तमसस्परि स्वः उत्तरम्**=प्रकृति और जीवात्मा दोनों भिन्न २ हैं; परन्तु प्रकृतिजनित पदार्थसे जीवात्मा अधिक अच्छा है।

३—**पश्यन्तः देवत्रा देवं सूर्य्यं उत्तरम्**=देवताओंमें जो विशेषता दीखपड़तीहै, वह उस महाप्रभुकीही सत्ता है।

४—**ज्योतिः अगन्म**=ज्योतिस्वरूप परमात्माही सर्वश्रेष्ठ है। उसकी कृपासे ही जीवन-मुक्तिकी प्राप्ति हुआकरतीहै।

प्रथम अनुभव

उद्वयम् = उत् + वयस्

प्रकृति एक सुन्दर पदार्थ है

(प्रकृतिसे निर्मित यह शरीर प्रभु-पूजाका एक पवित्र मन्दिर है)

प्रकृतिका स्वरूप

मानव-शरीर प्रकृतिकी एक अद्भुत रचना है। यह शरीरही प्रभु-पूजा का पवित्र मन्दिर है। साधक इसी शरीरकेद्वारा महाप्रभुका दर्शन पाया करताहै। जो लोग इस शरीरको बन्धनका कारण समझतेहैं, वे बड़ी भूल करतेहैं। बन्धनका कारणतो मनुष्यका मन है, न कि उसका शरीर। जब मन सजग और पवित्र होताहै, तबतो वह शरीर मुक्तिका साधन बनजाया करताहै, और जब मन तृष्णाओं और वासनाओंका शिकार होताहै तब यह शरीर बन्धनका कारण बनजाताहै, वस्तुतः शरीर स्वयंतो एक सुन्दर पदार्थ है; इसलिये इसे प्रभु-पूजाका पवित्र मन्दिर कहाना कोई अत्युक्ति नहीं।

शब्दार्थ

वयस्=हमलोग

परन्तु यहाँ —'प्रकृति' — का द्योतक है। प्रकृतिकाही विकृतरूप यह हमारा शरीर है; इसलिये यहाँ — 'शरीर'— से ही आशय है।

उत् = अच्छा

'उत्' कहते हैं—'उत्कृष्ट'–को, जिसका अर्थ होताहै, 'अच्छा, सुन्दर'।

द्वितीय अनुभव

तमसस्परि स्वः उत्तरम्[1]

प्रकृति और जीव दोनों भिन्न भिन्न हैं; परन्तु प्रकृतिसे जीव अधिक अच्छा है।

जीवात्माका स्वरूप

साधकका अनुभव उसे बताताहै —**'तमसस्परि स्वः'** —

१—जीवात्माकी सत्ता इस शरीरकी सत्तासे भिन्न है। प्रकृति **'जड़'** है और जीवात्मा **'चेतन'**। प्रकृति **'स्थूल'** है और जीवात्मा **'सूक्ष्म'**।

२—साधकका अनुभव यहभी कहताहै कि — **'तमसस्परि स्वः उत्तरम्'** — यदि शरीर और जीवात्माकी तुलना कीजातीहै, तो शरीर जहाँ—**'उत्'** -है, वहाँ जीवात्मा — **'उत्तर'** — अर्थात् शरीरसे जीवात्मा अधिक अच्छा है।

३—जीवात्मा अपने ज्ञानके प्रकाशसे शरीरको अपनी जीवन-यात्राका साधन बनासकताहै। यदि जीवात्मा अपनी शक्तिको भूलकर प्रकृतिके प्रतिनिधि —**'मन'**—के चक्करमें पड़जाय, तो यह उसकी अपनी भूल है; इसलिये आत्म-ज्ञान-प्राप्ति जीवनका सर्वप्रथम लक्ष्य है।

---

[1] **शब्दार्थ**

तमसः+परि+स्वः+उत्तरम्

तमसः = तमोगुणयुक्त यह मानव शरीर।

परि = दूर या भिन्न।

स्वः = जीवात्मा।

उत्तरम्= यह शब्द **'उत्'** से बनाहै। दो पदार्थोंमें तुलनात्मक रूप देनेकेलिये —**'तर'** — प्रत्यय लगाया जाताहै, जैसे — **'उत्+तर=उत्तर'** और प्रयोगार्थ शब्द बना — **'उत्तरम्'**— जिसका अर्थ होताहै — अधिक अच्छा।

तृतीय अनुभव

पश्यन्तः देवत्रा देवं सूर्य्यं उत्तमम्[1]

देवताओंमें जो देवत्व अर्थात् विशेषता दीखपड़तीहै, वह उस महाप्रभुकी ही सत्ता अर्थात् शक्तिका एक अंश है, इसलिये वह परमात्मा इस जीवात्मासेभी —'उच्च' — है, अर्थात् शरीर जहाँ —'उत्'— है, वहाँ जीवात्मा — 'उत्तर' — और परमात्मा — 'उत्तम' — अर्थात् परमात्माही सर्वश्रेष्ट है ।

परमात्माका स्वरूप

जब साधक ब्रह्मचर्य्य, तपस्या और स्वाध्याय (आत्म-चिन्तन) द्वारा उस ज्योतिस्वरूप परमात्माका अनुभव करलेताहै, तब उसे इस बातकाभी अनुभव होजाया करताहै कि इस संसारमें जितनेभी — 'जड़-देव'— अर्थात् पृथ्वी, सूर्य्य और चन्द्रादि हैं, उनमें और जितनेभी —'चेतन-देव' — अर्थात् माता, पिता, आचार्य्य, अतिथि तथा विद्वान् हैं, उनमें जितनाभी देवत्वहै, वह सब उसी महाप्रभु परमात्माकी महाशक्तिका एक अंशमात्र है; इसीलिये उसे 'सूर्य्य' — कहा है । साधक इस निर्णयपरभी पहुँचचुकाहै कि परमात्मा सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है ।

---

[1] शब्दार्थ

पश्यन्तः— साधकको यह अनुभव होने लगताहै ।

देवत्रा देवम् — देवताओंमें जो देवत्व अर्थात् विशेषता है ।

सूर्य्यम् — जिसके कारण देवताओंमें देवत्वहै, उसी सर्व शक्तिमान् परमात्माको — 'सूर्य्य'— कहतेहैं ।

उत्तमम्— एक पदार्थकी तुलना जब बहुतसोंसे कीजातीहै, तब —'तम' — का प्रयोग कियाजाताहै । यहाँ प्रकृति और जीवसे ईश्वरकी तुलना कीगईहै और यह सिद्ध कियागयाहै कि वह परमात्मा सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है ।

चतुर्थ अनुभव

ज्योतिः अगन्म[1]

ज्योतिस्वरूप परमात्माही सर्वश्रेष्ठ है। उसकी प्राप्तिही जीवन-मुक्ति है।

साधकका परमात्माके विषयमें अनुभव

साधक जब आत्म-ज्ञान प्राप्त करलेताहै, तब उसे यह अनुभव हुआकरताहै कि परमात्मा प्रकाश-स्वरूप है। साधकका अपना यहभी अनुभव है कि वह परमात्मा — 'ज्योतिस्वरूप' — सबमें समायाहुआहै और सबसे श्रेष्ठ है। उसकी प्राप्तिपर आनन्द प्राप्त हुआकरताहै। जब साधक प्रकृति से ऊपर उठकर अपने आपको देखलेताहै, तब प्रभुकी उत्तम ज्योतिका वह अनुभवकरने लगताहै और फिर परम आनन्दमें लीन होजाया करताहै, अर्थात् इस दशामें उसे परमात्माका साक्षात्कार होजाया करताहै। उसकी प्राप्ति ही जीवन-मुक्ति है।

उपस्थानका दूसरा मन्त्र

कार्य्य-कारण भावसे परमात्माका अस्तित्व

(सृष्टिकी रचनाही परमात्माका प्रतीक है)

ओ३म् उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्य्यम्।[2]

सामान्य अर्थ

हे परमात्मन्! आप सम्पूर्ण जगत्के नाथ और जाननेवाले हैं। आप वेदोंके उत्पादक और प्रकाशस्वरूप हैं। संसारके सबही पदार्थ पर्वत, नदियाँ आपकी परमसुन्दर महिमा को दिखानेकेलिये झण्डीका काम देरहेहैं।

शब्दार्थ[1]

ज्योति — ज्योति-स्वरूप परमेश्वर।

अगन्म — प्राप्तकरलियाहै। साक्षात्कार करलियाहै। (८)

विशेष व्याख्या

कार्य्य-कारणभावसे उस परमात्माके अस्तित्वका पता चलताहै। सृष्टिकी रचना उसके अस्तित्वका प्रमाण है। संसारके ये सारे जड़ और चेतन पदार्थ उस सर्वज्ञ और सर्वान्तयामी उपास्य परमात्माका यही परि- देरहेहैं कि वह सबमें समायाहुआहै। साधक उस महान् प्रभुकी लीला देखता हुआ मुग्ध होजाताहै और फिर उसके कानोंमें चारोंओरसे यही शब्द सुनाईदेतेहैं कि वह परमात्मा इस विश्वका प्राण है। सबकुछ उसमें समाया हुआहै और वह सबमें समायाहुआहै।

उपस्थानका तीसरा मन्त्र

(परमात्म-दर्शन)

भक्ति-भावके प्रभावसे जब साधकका दृष्टि-कोण बदलजाता
अर्थात् उसके अन्दरसे 'राग-द्वेष' समाप्त होजाताहै, तब उसे
यह सारा ब्रह्माण्डही ब्रह्ममय प्रतीत होनेलगताहै, अर्थात्
अपने अन्दर और बाहर सर्वत्र उसी एक
परमात्माका जलवा दीखपड़ताहै। यही
उसका— 'साक्षात्-दर्शन'— होना है।

शब्दार्थ

जातवेदसम् पद बनाहै — 'जातवेदः' — से, जिसके दो अर्थ होतेहैं
(१) सर्वज्ञ—वह सबही उत्पन्नहुये पदार्थोंको जानताहै; इसलिये सर्वज्ञ है
(२) सर्वान्तर्यामी—वह पदार्थोंमें समायाहुआहै; इसलिये 'सर्वान्तर्यामी' है

उदुत्यम् = उस।
देवम् = परमात्माको।
विश्वाय = संसारके सबही
केतवः = जड़-चेतन्य पदार्थ

दृशे = परिचय देनेकेलिये।
उद्वहन्ति = संकेत कररहेहैं।
सूर्य्यम् = वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा और सबमें समायाहुआहै

ओ३म् चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष ᳪ सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुश्च स्वाहा ॥३॥

पदच्छेद

ओ३म् + चित्रम् + देवानाम् + उद्गात् + अनीकम् + चक्षुः + मित्रस्य + वरुणस्य + अग्नेः + आप्रा + द्यौ + आ + पृथिवी + अन्तरिक्षम् । सूर्य्य + ᳪ + आत्मा + जगतः + तस्थुः + च + स्वाहा ॥

अन्वय

उद्गात्, देवानां अनीकम् चित्रम् , मित्रस्य चक्षुः वरुणस्य अग्नेः द्यौ आ पृथिवी अन्तरिक्षं जगतः तस्थुः च आप्रा सूर्य्यं आत्मा ॥

सरलार्थ

हे प्रभो ! आप दिव्य गुणयुक्त, अद्भुत और सर्वश्रेष्ठ हैं। वायु, वरुण अग्नि आदि विद्वनोंके ज्ञानदाता हैं। द्यु, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सूर्य्यके आधार हैं, और चर-अचर, जंगम-स्थावर, सबकी आत्मा हैं। आप हमें सामर्थ्य दें, ताकि हम सब सुखको प्राप्त कर सकें।

यौगिक व्याख्या

उदगात्, देवनाम् अनीकम् चित्रम्

भक्तिभावमें लवलीन होनेपर भक्तकी हृदय-गुहाका कोना-कोना जब भगवान्‌के दिव्य प्रकाशसे जगमगा उठताहै, तब उस भक्तका अज्ञान-जनित राग और द्वेष तो सब जातारहताहै, और अन्तःकरण भगवान्‌की उज्ज्वल तथा देदीप्यमान ज्योतिसे जगमगा उठताहै। उस दिव्य दृश्यको देखकर और

---

[1] उदगात्=हृदयसे; देवानाम् अनीकम्=देवताओंमें देवत्व = महापुरुषों में विशेषताएँ। चित्रम्=अद्भुतलीला।

भक्तिभावमें मग्नहोकर कहने लगताहै कि उस प्रभुकी लीला बड़ी अ
और आश्चर्यकारिणी है। भक्तके हृदयसे बस, एक यही ध्वनि नि
करतीहै कि महापुरुषोंमें जो विशेषता दीखपड़तीहै, वह उस महाप्र
शक्तिका ही अंश है और इसीके कारण वह परमात्मापर मुग्ध होजा
करताहै। भक्तके हृदयमें, आनन्द, आश्चर्य और उपासनाकी भावन
हिलोरें माराकरतीहैं और उसे यही जान पड़ताहै कि उपासकोंकी आत्मा
में भी जो बलहै, वह भी उस महाप्रभुका ही है।

मित्रस्य चक्षुः वरुणस्याग्ने द्यौ[1]

भक्तिभावकेकारण दृष्टिकोणके बदलतेही अर्थात् राग और द्वे
छुटाकारा पातेही, स्वार्थतो नष्ट होजाताहै और परोपकारकी भावनाएं जा
होउठतीहैं। सबही मित्रवत् दीखपड़तेहैं, यहाँतककि जड़ पदार्थभी सुख
प्रतीत होतेहैं। जो उमड़नेपर भयदायक प्रतीतहोताथा, वही जल अ
रस बनकर जीवन-शक्तिका जन्मदाता बनाहुआहै। जिस अग्निकी ल
शरीरको जलारहीथीं, वही अग्नि आज मार्ग-प्रदर्शकका कार्य्य कररहीं
जिस सूर्य्यकी किरणें आग्नेय बाण प्रतीतहोतीथीं, वही किरणें आज जी
ज्योतिका कार्य्य करनेमें संलग्न हैं।

आपृथिवी अन्तरिक्ष ꣳ जगतः तस्थुश्च आप्रा[2]

मनुष्यका दृष्टि-कोण बदलतेही अर्थात् मनुष्यपर ईश्वर-भक्तिका प्र
पड़तेही, यह सारा ब्रह्माण्ड पृथ्वीसे आकाशतक, जड़ और चेतन स
सुखकर प्रतीतहोने लगताहै। अब सबकुछ उसे ब्रह्मही ब्रह्म दीखाकरताहै

---

[1] मित्रस्य चक्षुः = मित्रवत् दीखपड़तेहैं। वरुणस्याग्नेः द्यौ=जल, अ
और सूर्य्यकी किरणेंभी।

[2] आपृथिवी=पृथ्वीसे लेकर। अन्तरिक्ष ꣳ = आकाशतक।
जगतः =प्राणीमात्र (भोग-योनियाँ और मुक्त योनियाँ)।
तस्थुः =जड़-पदार्थ। आप्रा = विद्यमान हैं।

सूर्य्य आत्मा

भक्तका दृष्टि-कोण बदलतेही उसे सारा संसार एक नवीनही प्रतीत होनेलगनाहै। प्रकृतिके एक-एक पदार्थमें भक्तको परमात्माकी ज्योति दीख पड़तीहै। जड़ और चेतन जगत्‌की आत्मा वह सूर्य्यरूप परमात्माही दीख पड़ताहै। भक्त उस दिव्य दृश्यको देखकर मुग्ध होजाताहै। भक्तिभावमें मग्नहोकर कृतकृत्य होरहाहै। अब वह अपने अन्दर और बाहर उस सूर्य्यरूप ज्योतिकोही देखरहाहै, जिसके दर्शनार्थ सम्पूर्ण जप, तप, ध्यान और साधना कररहाथा।

भक्तकी ईश्वर-स्तुति

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः
वेदैः सांग पदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततग्दातेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः॥

ईश-प्रार्थना

सब वेद पढ़ें, सुविचार बढ़ें,
बल पाय चढ़ें, सब ऊपरको।
अविरुद्ध रहें, ऋजु पन्थ गहें,
कुटुम्ब कहें बसुधाभरको।
दिन फेर पिता, वर दे सविता,
हम आर्य्य करें, भू मण्डलको।

इति ओ३म् तत्सत्

ॐ

परमात्माकी अद्भुत लीलाका

आन्तरिक जगत्

शरीररूपी कार्य्यालयमें आत्मरक्षार्थ वैज्ञानिक कार्य्योंको सम्पादितहोते देखकर किसका हृदय उसकी अद्भुत लीलासे मुग्ध नहीं होजाता? सच कहाहै:—

जलवा कोई देखे, अगर इकबार प्रभुका,
होजाय हमेशाको खरीदार उसका।

शारीरिक कार्य्यालयका दृश्य

१—आमाशयरूपी भट्टीमें रक्त, माँस, अनेक धातुएँ तैय्यार होतीहैं। इस भट्टीकी अग्निको चैतन्य रखनेकेलिए फेफड़ेरूपी दो स्थायी धोंकनियाँभी हैं।

२—शारीरिक मलोंको यथा समयतक रोकनेकेलिए मूत्राशय और मलाशय रूपी दो पात्र भी हैं। इनमें विशेषता यह है कि इन पात्रोंसे मलका बहिर्निस्सरणभी मनुष्यकी अपनी इच्छासे ही हुआकरताहै।

३—आमाशयिक श्लेष्मिका अत्यन्त कोमल होतेहुयेभी कठोरसे कठोर पदार्थ को पीसडालतीहै।

४—स्त्रियोंके उदरमें तो मूर्ति बनानेकाभी प्रबन्ध है। इस बच्चेदानीरूपी कार्य्यालयमें बच्चेकेलिये बिना श्वासलिएभी कई महीनोंतक जीवित रहने का सुप्रबन्ध है।

५—मस्तिष्कमें एक तार-घरभी है। जहाँ ज्ञानेन्द्रियरूपी पाँच बाबूभी बड़ी तत्परतासे कामकरतेरहतेहैं। उनपरभी नियन्त्रण करनेकेलिए बुद्धिरूपी मुख्याधिकारी नियत है। इस कार्य्यालयमें नेत्र रूपी दो केमरेभी लगेहुए हैं जो बड़े २ पदार्थोंका भी चित्र खींचतेरहतेहैं। ये केमरेभी

सुन्दरतासे पलकोंकेबीचमें सुरक्षित रखेहुयेहैं। इसी मस्तिष्करूपी कार्य्यालयमें कानरूपी दो फोनूग्राफभी लगेहुयेहैं जो सैकड़ों वर्षोंतक विना सूई बदलेही काम देतेरहतेहैं। वहींपर एक गायनालय भी खुलाहुआहै; परन्तु उसमें विशेषता यह है कि उसकी जिह्वारूपी एकही चावी है और धमनी-शिरारूपी एकही तार है, जो भिन्न २ स्वरोंको निकालतारहताहै। इसी कार्य्यालयमें मुँहरूपी चक्कीभी लगीहुईहैं, जहाँ गाला डालनेवाला जिह्वारूपी एक चतुर नौकरभी है, जिसकी चातुर्य्य प्रशंसनीय है।

६—इस शरीरमें सिंचाई करनेवाला बान्धभी है, जिससे सहस्रों नाड़ीरूपी नहरें निकली हुईहैं। सुन्दर रीतिसे सारे शरीरमें सिंचाई होती रहतीहै।

७—शरीरमें फेफड़ेरूपी एक चिकित्सालयभी है, जहाँ बहुतसी बीमारियोंकी सरलतापूर्वक चिकित्सा भी होतीरहतीहै।

८—शरीरमें हृदयरूपी एक घण्टा घरभी है, जहाँ समय बतानेकेलिये लगातार टिकटिक होतीरहतीहै।

९—शरीररूपी प्रासादकी रक्षार्थ प्राण-वायुरूपी एक सन्तरीभी द्वारपर खड़ा हुआहै, जो विना थके लगातार अन्दर और बाहर आता-जातारहताहै। सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि एकही शरीररूपी कार्य्यालयमें इतने भिन्न २ कार्य्य विना एक-दूसरेके कार्यमें अड़चन डाले होते रहतेहैं।

परमात्माकी अद्भुत लीलाका

वाह्य जगत्

इस ब्रह्माण्डमें जिधरभी दृष्टि डालिये, उधरही ईश्वरकी अद्भुत तथा आश्चर्य कारिणी रचनाका परिचय मिलताहै। सच कहाहै—

तेरी अपार महिमा कवि कौन गावे ?
शोभा अलौकिक विलोकि लुभाय जावे।
यह आश्चर्य कारिणी जगत् रचना तुम्हारी,
देती प्रमोद किसको नहीं नाथ भारी !

१—**मनुष्यको लीजिये**—सृष्टिके आदिसे लेकर आजतक किसीकाभी रंग-रूप नहीं मिलता। मनुष्य खातातो अन्न है; परन्तु अन्दरजाकर रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि और ओजमें वदलजाताहै। यहाँतककि उनका रंगभी आपसमें नहीं मिलता। मैल भी अनेक प्रकारके उत्पन्नहोतेहैं, जिनके शरीरसे बाहर निकलनेकेभी भिन्न २ मार्ग बनेहुयेहैं।

२—**मनुष्य की उत्पत्तिपर विचार कीजिये**—माताके गर्भमेंही उत्पत्ति और वहीं लालन-पालन। उसका निकासभी किधरसे ? और कितने छोटे मार्गसे ? बनावटतो बड़ीही विचित्र है। आँखें आगे तो कान बराबमें। पैर नीचे तो हाथ ऊपर।

३—**पृथ्वीकी रचनाको देखिये**—टुकड़े-टुकड़ेका प्रभाव भिन्न २ है। कहीं पहाड़ हैं, तो कहीं मैदान। कहीं खाने हैं, तो कहीं बगीचे। खानेभी कोई लोहेकी, तो कोई कोयलेकी।

४—**जलका प्रभाव देखिये**—जलभी कोई मीठा, तो कोई खारा। कोई तेलिया, तो कोई कड़वा। कोई दस्तावर, तो कोई कब्ज करनेवाला।

५—**पदार्थोंको लीजिये**—अनार, आम, जामुन, शरीफा लीजिये। फिर इनके स्वादको देखिये, कितने भिन्न २ हैं। एक प्रकारके पदार्थोंमेंभी भिन्नता—'**खट्टे पदार्थ लीजिये**', दही, आम, नींबू, जामुन, आँवला आदि। आश्चर्य तो यह है कि सबके स्वादोंमें भिन्नता; और सुनिये—नींबूमें रस खट्टा, तो बीज कड़ुवा।

६—**फूलोंको लीजिये** — कोई सुगन्धि देताहै, तो कोई नहीं। सुगन्धिमें भी अन्तर। चमेलीकी सुगन्धि गुलाबसे नहीं मिलती। फिर गुलाब के फूलोंमें सुगन्धि, तो पत्तों और टहनियोंमें नहीं।

ये सब बातें उस महाप्रभुकी अलौकिक बुद्धिकाही परिचय देरहीहैं। जोकोईभी उसकी महिमाका विचार करताहै, वही उसकी योग्यतापर मुग्ध होजाताहै।

उपस्थानका चौथा मन्त्र

दिव्य गुणोंकी प्राप्ति

स्वाधीनता, निर्भयता, आत्मविश्वास तथा स्वावलम्बन ही उपासनाकी दिव्य विशेषताएँ हैं।

ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्, पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतꣳ, शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥

शब्दार्थ

तत् चक्षुः—परमात्मा सबका मार्ग प्रदर्शक है; इसलिए उसे—'चक्षु'—कहाहै। वह सर्वद्रष्टा कहलाताहै। **देवहितम्**—विद्वानोंका शुभचिन्तक। **शुक्रम्**—शुद्ध और पवित्र। **पुरस्तात्**—पहिलेसे। **उच्चरत्**—उदयहुआहै। **शतं शरदः**—सौ वर्षतक। **शृणुयाम**—सुनतारहूँ। **अदीनाः**—निर्भय, स्वावलम्बी और आत्मविश्वासी।

भावार्थ

हे सर्वद्रष्टा भगवन् ! आप आदि-कालसेही विद्वानोंके हितार्थ शुद्ध स्वरूप हैं। हे भगवन् ! हम आपकी आज्ञासे सौ वर्षतक जीयें। अपने कानोंसे सौवर्षतक आपकी वेदवाणी सुनें। आँखोंसे सौ वर्षतक आपके रचे प्राकृतिक सौन्दर्यको देखें और जिह्वासे सौ वर्षतक आपके गुणोंका गुणानुवाद करें। कभीभी पराधीन न हों और यदि इससे भी अधिक आयु प्राप्त हो, तो भी इसी प्रकार हम अपना कर्तव्य पूरा करतेरहें।

यौगिक व्याख्या

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्

(हे सर्वद्रष्टा भगवन् ! आप आदिकालसेही विद्वानोंके हितार्थ शुद्धस्वरूप है)

भक्त ईश्वरकी विचित्र लीलाको देखकर उसके आनन्द स्वरूपमें मग्न होकर अपने आपकोभी भुलादेताहै। जब वह इस डुबकीसे ऊपर आताहै तब उसकी पुनः उस आनन्दको प्राप्तकरनेकी तीव्र इच्छा होनेलगतीहै। भक्त कहताहै कि वह महाप्रभु तो सबका मार्ग-प्रदर्शक है और उसमें तेज अद्वितीय है और चिरस्थायी है। वह महातेजस्वी प्रभु विद्वानोंका सदैवसे शुभ चिन्तक रहाहै।

पश्येम शरदः शतम् — इसलिये मेरी यह इच्छा है कि उस महाप्रभु का दर्शन सौ वर्षतक करताहीरहूँ और **शृणुयाम शरदः शतम्** — उस महा-प्रभुके गुणानुवादभी सौ वर्षतक सुनतारहूँ, तथा **प्रब्रवाम शरदः शतम्** —सौ वर्षतक उस महाप्रभुकी स्तुतिभी करतारहूँ; परन्तु सौ वर्षतक दर्शनादि करनेकेलिये सौ वर्षतक जीनाभी तो आवश्यक है; इसीलिये भक्त कहताहै कि—**जीवेम शरदः शतम्**—तेरी महती कृपासे मैं सौ वर्षतक जीताभी रहूं चाहे आयु —**भूयश्च शरदः शतात्**—सौ वर्षसे भी अधिक क्यों न होजाय परन्तु — **अदीनाः स्याम शरदः शतम्** — किसीका दीनहोकर न जीऊं।

दीनता तीन प्रकारकी हुआकरतीहै:—

१—आध्यात्मिक दीनता; २—मानसिक दीनता; ३—शारीरिक दीनता।

१—आध्यात्मिक दीनता — विषयोंकी आधिनता ही आध्यात्मिक दीनता कहलातीहै। मनुष्यको अपने मनपर स्वामी होना चाहिये, अर्थात् मनको वशीभूत रखनाचाहिये, ताकि वह निर्भय रहसके। निर्भयता मनुष्य में सबसे बड़ा गुण है।

२—मानसिक दीनता — दूसरोंके अधीन होना मानसिक दीनता कहलाँतीहै। इससे मनुष्यका स्वाभिमान जातारहताहै। स्वाभिमान जीवनमें बड़ा भारी गुण है। स्वाभिमानी तो मनुष्यको होनाही चाहिये

मनुष्य अपनी दासताकी बेड़ियोंको काटकर स्वाधीन जीवन व्यतीत करनेका प्रयत्नकरे; परन्तु वह स्वाधीनता भी धर्मानुकूल हो।

३—शारीरिक दीनता — दूसरोंके आश्रित जीना या आर्थिक संकट सहनाही शारीरिक दीनता कहलातीहै। मनुष्यको स्वतन्त्र और स्वावलम्बी तो होनाही चाहिये।

भक्तका अपना अनुभव बतलाताहै कि **'स्वाधीनता, निर्भयता, आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन'** ही उपासककी दिव्य विशेषताएँ हैं। ईश्वर-भक्तिकी यही देन है।

उपासना (ईश्वर-भक्ति) से
जीवन-मुक्तिकी प्राप्ति

ईश्वरोपासना इसलिये कीजातीहै कि मनुष्यके मनसे राग-द्वेष जातेरहें और उसका अन्तःकरण शुद्ध होजाय; परन्तु—'राग' – दूर होताहै, **'वैराग्यसे'** और — **'द्वेष'** — दूरहोताहै —**'अभ्याससे'**। वैराग्य आताहै पवित्रता से और पवित्रता आतीहै ईश्वरीय नियमोंका जीवनमें यथार्थ प्रयोग करनेसे। नियमोंका प्रयोग उसी दशामें सम्भव है जबकि मनुष्य —**'प्रकृति, जीव और ईश्वर'** के स्वरूपको और उनके गुणोंको भली भाँति समझले।

फिर उपासना करते-करते भक्त इस निर्णयपर पहुँच जाया करताहै कि ईश्वर प्रकृतिसे उत्तम है। जो उत्तम है उससेही राग अर्थात् प्रेम होना चाहिये और जो घटिया है उससे वैराग्य। इस प्रकार साँसारिक राग दूर होकर सबको अपने सदृश समझलेनाही उपासना का प्रसाद है। इस बात का बारम्बार अभ्यास करनेसे द्वेष जातारहताहै। **'ईश्वरोपासना'** मनुष्यको **आन्तरिक सदाचारी, परोपकारी और छलकपटसे रहित'** — बना दिया करतीहै। सच कहाहै—

हुआ ध्यानमें ईश्वरके जो मग्न, उसे कोई क्लेश लगा न रहा।
परमात्माको जब आत्मामें, लिया देख ज्ञानकी आँखोंसे।
पारहुआ भव-सागरसे, अब कोई क्लेश लगा न रहा॥

गायत्री मन्त्र

(विश्वामित्र ऋषि हैं; सविता देवताहै और गायत्री छन्द है)

गायत्री मन्त्रमें स्तुति, उपासना और प्रार्थना तीनोंही विद्यमान हैं।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः[1] **(स्तुति)**

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि **(उपासना)**

धियो यो नः प्रचोदयात्। **(प्रार्थना)**

सरलार्थ

हे प्राणदाता, दुःख विनाशक, सुख-स्वरूप परमात्मन्! आप सकल जगत्-उत्पादक सर्वश्रेष्ठ, पाप-विनाशक और दिव्य गुणोंके भण्डार हैं। हम आपका ध्यान धरतेहैं। आप हमारी बुद्धिको सन्मार्गमें प्रेरितकीजिये।

भावार्थ

सर्वव्यापक परमात्मा जो पूजने योग्य हैं, उनके विशुद्ध तेजको हम प्राप्त करें, अर्थात् हमारा अन्तःकरण निर्मल बुद्धि विशारद और प्रकाशित हो। उस विशुद्धतेजकी प्राप्तिकेलिये ब्रह्मचर्य का साधन और तपस्वी जीवन होना चाहिये। ब्रह्मचर्य्य-बलकी प्राप्तिपरही हमारी बुद्धि सत्पथपर चल सकतीहै अर्थात् हममें सत्पथपर चलनेका सहास हो सकता है।

---

[1]**ओ३म्** — परमात्माका मुख्य नाम है। **भूः**=सत्; **भुवः** = चित्; **स्वः**=आनन्द=वह परम-प्रभु-परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है।

सवितुः — सबका प्रेरक अर्थात् सबपर नियन्त्रण करनेवाला।

देवस्य — परमात्माके। **तत्** = उस।

बरेण्यम्— वरने योग्य = पूजा करने योग्य = स्वीकार करने योग्य।

भर्गः — विशुद्ध तेज। **धीमहि** = प्राप्तकरें = धारण करें।

गायत्री मन्त्रकी महिमा

गाय + त्री

(शारीरिक, मानसिक और दैवी तापोंसे मुक्तकरनेवाली महाशक्ति)

'गायत्री' शब्द बनाहै — 'गाय + त्री' — से। 'गाय' का अर्थ होता है — 'शरीर' और — 'त्री' — का अर्थ होताहै — 'तारनेवाली अर्थात् उद्धार करनेवाली'—इसलिये —'गायत्री'—का अर्थ हुआ —'जिसकी आराधना करनेसे मनुष्य तीनों तापोंसे मुक्त होकर सच्चे आनन्दको प्राप्तकरले।'

इस गायत्री मन्त्र में ईश्वरकी 'स्तुति, उपासना और प्रार्थना' तीनोंही हैं। प्रार्थनामें बुद्धिकीही मांगकीहै, जो सबही कार्य्योंको सुधारनेवाली है; वे चाहें लौकिक हों या पारलौकिक; इसीलिये इस मन्त्रकी महिमा बहुत बढ़ गईहै। जीवन को सफल बनाने वाली यह —'गायत्रीमाता'— ही है।

हे ईश्वर ! दयानिधे ! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादि कर्मणा धर्मार्थ काम-मोक्षाणाम् सद्य सिद्धिर्भवेन्नः। हे दयानिधे ईश्वर ! जो-जो उतम काम हम करतेहैं, वे सब आपकी कृपासेही कियाकरतेहैं। जप, उपासनादि कर्म सब आपकेही अर्पण हैं। वह बुद्धि हमें प्रदानकीजिये जिससे 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' में सिद्धि प्राप्तहो।

यौगिक भावार्थ

(आनन्द प्राप्तिमें गायत्री जापही मुख्य साधन है ।)

शुभ संस्कारोंकी जाग्रतिपर उस महाप्रभुके एकही बारके दर्शनसे जीवन बदलजाया करताहै; आत्मा जगमगा उठतीहै और अज्ञानका नाशहो प्रकाशकी ज्योति जगमगाने लगतीहै। फिर ऐसे व्यक्तिका जीवन भी दूसरोंकेलिये पथप्रदर्शकका कार्य्य करने लगताहै।

सच्चे आनन्दकी प्राप्तिकेलिये महर्षियोंने घोर तपस्याकी है। फिर भला एक साधारण व्यक्ति केवल मौखिक बातोंसेही उस आनन्दको प्राप्त करनाचाहे, तो यह केवल उसकी भूल है। इस भगवद्भक्तिके आनन्द को 'वैराग्य और अभ्यास' की सहायतासे ही प्राप्तकरना पड़ताहै। यही गायत्री मन्त्र में बतलाया गयाहै।

उस सर्वव्यापी प्रभुकी प्रेरणा सब जगह चलरहीहै; परन्तु उसे प्राप्त करनेकेलिये शुद्ध, निर्मल और प्रकाशयुक्त परिपूर्ण हृदयभीतो होना चाहिये। वीणाकी तारें परस्पर एक स्वर नहोनेतक, जैसे उस वीणासे कभीभी आवाज नहीं निकालाकरतीहै, वैसेही हृत्तन्त्रीकी तारें — 'मन, बुद्धि और आत्मा'- महाप्रभु (सवितादेव) के साथ जबतक मेल नहीं खातीं, तबतक प्रभु-प्रेरणा की झँकार समझमें आयाही नहीं करतीहै। यदि — 'मन, बुद्धि और आत्मा' — तीनों समस्वर होजायें, तो प्रभु-प्रेरणा तुरन्तही समझमें आसकतीहै। अन्धकार और प्रकाश साथ-साथ नहीं रहसकते। उपासक जब गायत्रीद्वारा प्राप्तकियेहुये प्रकाशकी सहायतासे उस सविता देवकेसाथ समस्वर होजाताहै, तब वह शीघ्रही सच्चे आनन्दको प्राप्त कर लियाकरताहै।

उपसंहार

(प्रभुके चरणोंमें नमस्कार)

ओ३म् नमः शम्भवाय च, मयोभवाय च, नमः शंकराय च, मयस्कराय च; नमः शिवाय च शिवतराय च ।

शब्दार्थ

शम्भवाय=कल्याणदाता प्रभुकेलिए । **मयोभवाय**=आनन्दस्वरूप प्रभुकेलिए । **शंकराय**=शान्ति प्रदान करनेवाले प्रभुकेलिये । **मयस्कराय**=आनन्ददेनेवाले प्रभुकेलिए । **शिवाय**=कल्याणरूप प्रभुकेलिए । **शिवतराय**=अत्यन्त मंगलरूप प्रभुकेलिए । **नमः**=नमस्कारहो ।

सरलार्थ

शान्ति देनेवाले और आनन्द देनेवाले परमात्माको हम शीश झुकाते हैं । भला करनेवाले और सुखस्वरूप प्रभुको हम नमस्कार करतेहैं । आनन्द स्वरूप कल्याणदाता प्रभुको हम प्रणाम करतेहैं ।

भावार्थ

साधक जब अपने प्रत्येक कार्यमें महाप्रभु परमात्मासे साक्षात् प्रेरणा (आदेश) पानेलगताहै, तब उसे यह अनुभव होनेलगताहै कि मुझे मेरे सारे कार्योंमें शक्ति और प्रेरणा उस महाप्रभुसेही मिलरहीहै । अब उसकी समझमें यहभी आजाताहै कि कर्म करतेहुयेभी वह कर्मोंका कर्त्ता नहीं हैं । वह तो केवल निमित मात्रही है । अन्तमें इसीलिए उपासक परमात्माकी दया और उपकारको यादकरताहुआ यही कहतारहताहै कि हे प्रभो ! यह सबकुछ तेरीही देन है । फिर नम्रतासे उसके चरणोंमें शीश झुकादेताहै और कहताहै कि मेरे पास नम्र नमस्कारके अतिरिक्त प्रत्युत्तरमें देनेकेलिए कुछभी नहीं है ।

ॐ

वैदिक सन्ध्यान्तर्गत

अन्तिम समर्पण
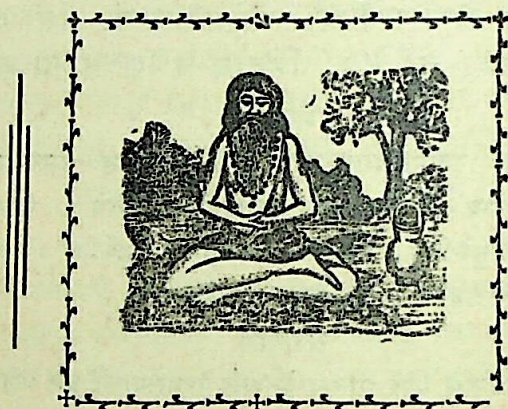
(नम्र नमस्कार)

सन्ध्यारूपी यज्ञका आरम्भ —'शन्नोदेवी'— रूपमें शान्तिकी कामनाकेसाथ आरम्भहुआ, और समाप्तिभी —'नमः'— (नमन) शब्दकेसाथ हुई। कितनी सुन्दर भावनासेयुक्त इस—'देव-यज्ञरूपी सन्ध्याका'— निर्माण हुआ है।

साधक अपना —'नम्र नमस्कार'— चरणोंमें रखकर कृतार्थ हो जाताहै और फिर यही कहताहै—

ओ३म् शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

हे प्रभो ! हमें आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक शान्ति प्रदान कीजिये।

ओ३म् तत्सत् !

ओ३म्

वैदिक सन्ध्या

मानव-जीवन में सफलताका अचूक साधन

वैदिक सन्ध्या मनुष्यकेलिए जहाँ उसकी आन्तरिक शुद्धिका कारण बन आत्म-ज्ञान-प्राप्तिका साधन बनजातीहै, वहाँ मनुष्यको व्यावहारिक शिक्षादेकर उसे जोवनके प्रत्येक कार्य्यमें सफल भी बनादेतीहै। बस, इतना कहना ही पर्याप्त है कि सन्ध्या एक ऐसा अलौकिक विधान है कि मनुष्य इसके नियमानुकूल चल कर अपनें लौकिक जीवनको ही पार-लौकिक जीवनका साधन बना सकताहै।

गायत्री मन्त्र

१२४ पृष्ठपर, फुट-नोटका शेषाङ्ग

धियो यो नः प्रचोदयात् .... **(प्रार्थना)**

यः = जो (परमपिता परमात्मा)। **नः** = हमारी।

धियः = बुद्धियोंको। **प्रचोदयात्** = प्रेरितकरे।

हे प्रभो ! हमें सुबुद्धि दीजिये, ताकि हम सदैव सत्कर्मही करतेरहें। (६)

वैदिक सन्ध्या

(प्रत्येक कार्य्यकी सफलता वैदिक सन्ध्यान्तर्गत निहित है)

प्रत्येक मनुष्य चाहे वह किसीभी विचारका अनुयायी है, और कि भी देशका निवासी है, यही चाहताहै कि जो काम उसने अपने हा लेरखाहै, उसमें उसे सफलता प्राप्तहो। बच्चेसे लेकर बूढेतक किसी में एकभी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा, जो यह चाहताहो कि उसका को कार्य्य बिगड़ जाय। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह व्यापारी है, चाहे राज या वैज्ञानिक, अपने प्रत्येक कार्य्यमें मनोवाञ्छित फल ही चाहा करताहै।

मानव-जीवनको सफल बनानेकेलिये सृष्टिके आदिसेलेकर अ महापुरुष अनेकानेक रीतियोंसे प्रयत्न करतेभी रहे हैं और उनमें उन्हें सफ भी किसी सीमातक प्राप्त होतीरहीहै; परन्तु सर्वसाधारणके हितार्थ ईश्व आदेशोंका संग्रह जैसा सुन्दर प्राकृतिक नियमानुकूल आधुनिक का कर्मवीर योगिराज श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीने कियाहै, वैसा सुन्दर अनुभव पूर्णरूपसे सन्मार्ग, अबतक संसारके सामने नहीं आयाथा। पाठ लाभार्थ उस मार्गका उल्लेख आपके विचारार्थ कियाजारहाहै। यदि आपका मार्ग-प्रदर्शन करसके, तो इसे दूसरों तकभी पहुँचानेका कष्ट उठावें

प्रत्येक कार्य्यकी सफलताके लिये ६ बातें आवश्यक हैं :—

१—सफलताकेप्रति कर्त्ताकी हार्दिक इच्छा;

२—उसकी अपनी योग्यता;

३—पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति;

४—ईश्वरीय सहायता;

५—अनुभव-वृद्धिका साधन;

६—शारीरिक नीरोगता।

ईश्वरीय प्रथम आदेश

(कार्य्यमें सफलताकेलिये कर्त्ताकी हार्दिक इच्छा)

ओ३म् शन्नोदेवी ... ... अभिस्रवन्तु नः ।

हे दयानिधे ! मेरी शुभ कामनाओंकी पूर्तिकेलिये मुझपर आनन्दकी वर्षा कीजिये ।

भारतवर्षका प्राचीन साहित्य साराही पद्यरूपमें लिखाहुआहै । पद्यके रचयिताको कवि कहतेहैं । कवि अपने विषयको रोचक बनानेकेलिये चार बातोंका आश्रय लियाकरताहै :—

१—अलंकार; २—रूपक; ३—अतिशयोक्ति; ४—उपमा ।

वेद-वाणीभी पद्य रूपमें उल्लिखित है । ईश्वरीय आदेशभी अलंकारात्मक देव-वाणीमें हैं । एक समय था, जबकि भारतवर्षके निवासी काव्यकी विशेषताओंसे भली प्रकार परिचित थे । आज जन-साधारणकी उनके प्रति अनभिज्ञताही उनके दुःखोंका कारण बनीहुईहै ।

इस वेद-मन्त्रमें ईश्वरसे प्रार्थना कीगईहै कि मुझपर आनन्दकी वर्षा कीजिये । आनन्द मनुष्यको उसी समय आया करताहै, जबकि उसे अपने कार्यमें सफलता प्राप्तहो । **'प्रत्येक कार्य्यमें सफलता'** तो उस कार्य्यके सम्पादककी—**'हार्दिक इच्छापर'**—निर्भर है । जो कार्य्य मनलगाकर किया जाताहै, उसमें उसे सफलता होतीही है ।

महर्षि कहतेहैं कि मनुष्योंकेप्रति यह एक ईश्वरीय आदेश है — **'हे मनुष्यो ! कोई भी काम क्यों करो ? उसे मन लगाकर करो । तुम्हें उसमें सफलता अवश्य प्राप्त होगी'** ।

उपरोक्त आदेशसे यह सिद्धान्त स्थिर होताहै कि अपना काम करते हुये मनुष्यको दूसरे कामोंका ध्यान छोड़देना चाहिये । अपनी सारी शक्ति अपने हस्तगत कार्य्यपरही जुटादेनी चाहिये। इसेही— **'चित्तकी एकाग्रता'**— कहतेहैं । **एकाग्रता ही प्रत्येक कार्यमें सफलताकी कुञ्जी है ।** एकाग्रचित्त व्यक्ति ही मनोवाञ्छित फल पायाकरताहै ।

ईश्वरीय द्वितीय आदेश

(कार्य्यकर्त्ताकी अपनी योग्यता)

प्रत्येक कार्य्यमें सफलता मनकी एकाग्रतापर ही निर्भर नहीं है, अपितु कार्य्यकेकर्त्ताकी योग्यतापर भी निर्भर है। कार्य्य कियेजातेहैं इन्द्रियोंके द्वारा; इसलिये इन्द्रियोंका — **'बलवान्, यशस्वी और पवित्र'** — होना परमावश्यक है।

एक अयोग्य व्यक्ति, किसीभी कार्य्यमें मन लगाकर जुटजानेपरभी, सफलहोता नहीं देखा गया। कार्य्य सबही इन्द्रियोंकी सहायतासे सम्पा हुआकरतेहैं; इसलिये महर्षिने सन्ध्यान्तर्गत —**'अंग-स्पर्शका मन्त्र'**— सम्मिलितकर इस भावकी पूर्ति कीहै।

अंग-स्पर्श का मन्त्र

ओ३म् वाक् वाक् ... ... करतलकरपृष्ठे

(साधक अपनी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंको स्पर्शकरताहै)

मन्त्र से तात्पर्य

हे प्रभो ! मेरी इन्द्रियोंको बलवान् बनाइये। इन्द्रियोंके बल होनेसेही मनुष्यको — **'धन, बल, और विद्या'** — की प्राप्ति हुआकर परन्तु ज्यों-ज्यों यह बढ़तेजातेहैं, त्यों-त्यों मनुष्य अपने जीवन दूर हटकर कठिनाइयोंमें पड़ता भी जाताहै, क्योंकि धन, बल और वि दो-दो प्रयोग हुआकरतेहैं :—

१—सदुपयोग; २—दुरुपयोग

मनुष्य अपनी शक्तिका सदुपयोगतो परमार्थ-भावकी उत्पत्तिपर ही कियाकरताहै।

१—धनकेद्वारा—निर्धनोंकी सहायता कीजासकतीहै। देशकी उन्नतिके लिये बड़े २ औद्योगिक व्यवसाय चलाये जासकतेहैं। देशोन्नतिके लिये धनको नाना प्रकारके अच्छे-अच्छे कार्य्योंमें लगाया जासकताहै।

२—बलकेद्वारा—निर्बलोंकी सहायता कीजासकतीहै। इसकेद्वारा आपत्ति कालमें देश और जातिकी रक्षा कीजासकतीहै।

३—बुद्धिकेद्वारा —सत्पथविचलित व्यक्तियोंको अपने ज्ञान और अनुभव द्वारा सत्पथपर लायाभी जासकताहै।

—०ः०ः०—

स्वार्थके बशीभूतहुआ मनुष्य अपने — 'धन, बल और विद्या' —का दुरुपयोग भी करसकताहै :—

१—धनकेद्वारा— दुराचारियों और धूर्तोंकी सहायता करके सज्जनोंको कष्ट पहुँचाया जासकताहै।

२—बलकेद्वारा — असहाय और दुर्बल व्यक्तियोंकेसाथ अत्याचारभी किया जासकताहै।

३—बुद्धिके द्वारा — भोले-भाले अपरिचित व्यक्तियोंको अपनी वाक्य चतुराईसे ठगाभी जासकताहै और युक्ति-युक्त वचनोंसे मनुष्योंमें भेद-भाव भी कराया जासकताहै।

काम-क्रोधादिकी स्वार्थ-वृत्तियाँ मनुष्यमें स्वाभाविक होनेकेकारण अधिक काम कियाकरतीहैं; इसलिये इन्द्रियोंको केवल बलवान बनानाही जीवनकी सफलताकेलिये कोई पर्याप्त साधन नहीं हैं। सम्भव है कि मनुष्य इन्द्रियों द्वारा उनका दुरुपयोगकर जीवन-लक्ष्यसे भ्रष्ट होजाय; इसलिये जीवनकी सफलताकेलिये महर्षिने यह कहतेहुये कि—'जहाँ इन्द्रियोंको बलवान बनाओ, वहाँ उन्हें यशस्वी भी बनाओ' — अंग-स्पर्शका दूसरा मन्त्र सन्ध्यान्तर्गत सम्मिलितकर संसारका बड़ा भारी उपकार कियाहै।

मार्जन-मंत्र

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि ... ... खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र

इन्द्रियोंको दुवारा छूनेसे यह तात्पर्य्य है कि हे प्रभो ! मेरी इन्द्रियोंको जहाँ बलवान बनानेकी कृपाकरें, वहाँ उनमें यह शक्ति भी प्रदानकीजिये कि वे —'यशस्वी'— हों।

मनुष्य अपनी इन्द्रियोंकेद्वारा संचित पूँजी —'धन, बल और बुद्धि'-को अपने और देशकेलिये सदुपयोगमें लाकरही —'यश'— 'कमासकताहै, अर्थात् लोगोंकी शुभभावनाओंको जीतसकताहै। धनके सदुपयोगसे 'धर्मात्मा' बलके सदुपयोगसे 'वीर' और बुद्धिके सदुपयोगसे 'महात्मा' कहलाने लगा करताहै; परन्तु यह आदेशभी जीवन-लक्ष्य प्राप्तिमें अर्थात् मनुष्यको पूर्ण योग्य बनानेमें असमर्थ है, क्योंकि इन शक्तियोंके सदुपयोगसे भी यह सम्भावना होसकतीहै कि मनुष्य अपने परमार्थ-भावकी पूर्तिकरनेकी अपेक्षा अपने स्वार्थ-भावकी पूर्ति अधिक करले।

स्वार्थयुक्त भावना

मेरी नेत्रों देखी एक बात मुझे याद है कि एक वकील महोदय एक नगरमें किसी संस्थाके प्रधान बनेहुयेथे। घरपर पर्य्याप्त स्थान न होनेके कारण आप संस्थाके मन्दिरमें ही रहाकरतेथे। सभामें चन्दा तो एकरुपया मासिक देते; परन्तु लाभ दस पन्द्रह रुपये माहवारका उठालिया करतेथे। वकील महोदयके, मन्दिरमें रहनेके कारण, अपने मुकदमेंवालों कोभी मन्दिर में ही ठहरालिया करतेथे। मुकदमें प्रायः उनके पास किसानोंके हुआकरतेथे। उनकी सहानुभूति प्राप्त करनेकेलिए उनके पशुओंको भी मन्दिरके आँगनमें ही बन्धवा दियाकरतेथे। इससे एक लाभ उन्हें ईंधनकाभी होजायाकरता था। इस प्रकार ईंधन का खर्चभी पाँच-सात, रुपये बचजायाकरताथा।

लोगोंके सामने निस्वार्थ-भावसे सेवाकरनेकी डींगभी हाँका करतेथे। नागरिक लोग तो उनके इस दूषित चरित्रसे परिचितहोचुकेथे; परन्तु भोलेभाले ग्रामीण उन्हें धर्मका अवतार समझ, उनसे अपने यहाँ धर्म-प्रचारार्थ प्रार्थना भी कियाकरतेथे। ये वकील महोदय जबकभी कोई उपदेशक महोदय उस नगरमें आजाते, तब उसे धर्म-प्रचारार्थ ग्रामोंमें लेजायाकरतेथे और प्रचारके पश्चात् उपदेशक महोदयसे यहभी कहलवादिया करतेथे कि यदि आपलोगोंको शहरमें आकर किसी प्रकारकी सहायताकी आवश्यकता हो, तो वकील साहिब सेवाकेलिए उपस्थित हैं। इसपर लोग वकील महोदयको धर्मका अवतार समझ अपने प्रत्येक कार्य्यमें उनकी सम्मति लेनेलगे। इसका परिणाम यह निकला कि वकील साहिबकी वकालत खूब चेतगई। उन्होंने बारह वर्ष तक ऐसा प्रयत्नकिया कि किसीको प्रधान बननेही नहीं दिया।

लोगोंकी समझमें जब वकील साहिबका गोरख-धन्धा आगया, तबतो लोगोंने उन्हें पछाड़नेका प्रयत्नकिया और सफलभी होगये; परन्तु यह बात वकील साहिबको अच्छी नहीं लगी। संस्थाके उच्चाधिकारियोंसे मिलकर और पशु-बलका प्रयोगकर पारस्परिक सिरफुड़ाई करवाडाली। यहाँतककि दोनों पार्टियोंको अदालत जानापड़ा।

ऐसा ऊपरी दिखावेका यश स्वार्थसे लिप्तरहनेकेकारण जीवनके उच्च-लक्ष्यसे मनुष्यको गिरादिया करताहै। ऐसे प्रलोभनोंसे बचनेकेलिये और सच्ची योग्यता प्राप्तकरनेकेलियेही —'अंग-स्पर्शके तीसरे मन्त्र'— की आवश्यकता पड़ी, जो सन्ध्यान्तर्गत प्राणायामके रूपमें विद्यमान है। वस्तुतः 'प्राणायाम' जहाँ शरीरिक नीरोगता का प्रदाता है, वहाँ सामाजिक सुधार और मानसिक कुचेष्टाओंका समूल नाशक भी है।

प्राणायाम मन्त्र

ओ३म् भूः, ओ३म् भुवः, ओ३म् स्वः, ओ३म् महः,
ओ३म् जनः, ओ३म् तपः, ओ३म् सत्यम् ।

जिससे आशय है—हे प्रभो ! मेरी इन्द्रियोंको पवित्र कीजिये।

'**प्राणायाम**' शब्द बना है —'**प्राण+आयाम**'—से । '**प्राण**' व[ह] शक्ति हैं, जिसकी सहायतासे इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य्य करतीरहतीहैं, औ[र] '**आयाम**' कहतेहैं —'**वशमें करने**'– को; इसलिये '**प्राणायाम**' का अर्थ हु[आ] —'**इन्द्रियोंको वशमें रखना**'–– अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्नकिये ऐश्व[र्य] को उचितरूपसे काममें लाना । ऐसा केवल उसी समय होसकताहै, जब[कि] स्थूल-प्राणका परिवर्तन सूक्ष्म-प्राणसे होजाय । ऐसी स्थिति उत्पन्न होनेपर[ही] स्वार्थ-भावभी परमार्थ-भावमें बदल जायाकरताहै । प्राणायामकी सिद्धिपर[ही] स्वार्थ-त्याग हुआकरताहै । साधकका स्वार्थ-त्याग होतेही मनकी मलीनता[ए] जातीरहतीहै ।

महर्षिने योग्यता प्राप्तिकेलिए अंग–स्पर्शके तीन मन्त्रोंका सन्ध्यान्तर्ग[त] प्रयोगकर जन-साधारणका बड़ाही उपकार कियाहै । मानव जीवनमें ज[ब] तक मनुष्य स्वार्थ-त्यागी, परोपकारी और ईश्वर-भक्त नहीं बनता, तबत[क] उसका पारलौकिक जीवन तो क्या ? लौकिक जीवनभी सफल नहीं होता।

यह समझतेहुये कि अपने कार्य्यमें सफलताकी इच्छा मनुष्यमात्र[में] होतीहै, और सफलता इन्द्रियोंकी योग्यतापर आश्रित है, महर्षिने विश्[व] कल्याणकी भावनासे प्रेरितहो सन्ध्यान्तर्गत —'**जगदुत्पत्तिका मन्त्र**'— औ[र] सम्मिलितकर, जहाँ एक जिज्ञासुकी शंका-निवृत्ति कीहै, वहाँ अपनी उदार[ता] का भी परिचय दियाहै । महर्षिका प्रेम केवल आर्य्य पुरुषोंतकही सीमि[त] नहीं था; वे तो प्राणीमात्रके शुभ चिन्तक थे ।

अघमर्षण मन्त्र

योग्यताकी पुष्टिमें जगदुत्पत्तिका वर्णन

ओ३म् ऋतञ्च सत्यम् .... मथोस्वः

इस मन्त्रमें जगत्की उत्पत्ति, पालन-पोषण और प्रलयकी व्याख्या कीहै और इसमें यहभी जतलायाहै कि प्रलयके पश्चात्भी यह सृष्टि-क्रम चलताही रहताहै अर्थात् इसी प्रकार सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन-पोषण और प्रलय होता है। यह तो है एक रूपक। इस मंत्रसे इस बातका आदेश मिलताहै कि ईश्वरीय नियम अटल हैं और अपरिवर्तनीय। वह परमपिता परमात्मा पूर्ण और अनन्त है; इसलिए उसके आदेश भी पूर्ण और अनन्त होनेकेकारण विश्वभरमें सबके ऊपर, हर समय, समान रूपसेही लागू रहतेहैं।

उपरोक्त जगदुत्पत्तिका मन्त्र इस बातका द्योतक है कि हर व्यक्तिका अपने-अपने कार्य्योंमें सफलता प्राप्तिकेलिए उस कार्य्यके अनुकूल योग्यता भी प्राप्त करनीही चाहिये। एक व्यापारीको जहाँ व्यापार सम्बन्धी नियमोंमें दक्षहोना आवश्यक है, वहाँ एक राजनीतिज्ञका राजनैतिक नियमों में दक्षहोना अनिवार्य्य है, और ऐसेही एक धार्मिक पुरुषको धर्म सम्बन्धी योग्यता प्राप्तकरनी परमावश्यक हैं।

किसी कार्य्यकी सफलताकेलिये जहाँ मनकी एकाग्रता अनिवार्य्य है, वहाँ उस कार्य्यमें योग्यहोना भी प्रत्येक व्यक्तिके लिए चाहे वह किसीभी देश का निवासी क्यों न हो ? परमावश्यक है। यही इस जगदुत्पत्ति का आशय भी है।

ईश्वरीय तृतीय आदेश
(पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति)

योऽस्मान् द्वेष्टियं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।

न हम किसीसे द्वेषकरें । न कोई हमसे द्वेषकरे । सभी मित्र-भावसे रहें ।

मनुष्यमें चाहे कामकरनेकी–'हार्दिक इच्छा'–भी है और कामकरनेकी उसमें 'योग्यता' भी है; परन्तु यदि वह यह नहीं जानता कि उस–'योग्यता का सही प्रयोग'–क्या है ? तोभी उस व्यक्तिको उस कार्य्यमें सफलता प्राप्त नहीं हुआकरतीहै। कार्य्यमें सफलता बहुतकुछ—'पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति'—पर निर्भर है ।

यह तृतीय आदेश —'मनसा परिक्रमा मन्त्र'—के नामसे प्रसिद्ध है जिसमें ६ मन्त्र हैं और प्रत्येक मन्त्र एक-एक दिशाका प्रतीक है, जो इस बातका द्योतक है कि मनुष्य चाहे किसीभी जगह विश्वमें क्यों न रहताहो ? और उसका किसीसेभी सम्पर्क क्यों न पड़े ? उसे उसकेसाथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करनाही चाहिये, क्योंकि–'सबके साथ यथायोग्य प्रेमपूर्वक व्यवहार करना ही'— मानव-जीवनमें सफलताकी कुञ्जी है ।

मनसा-परिक्रमाके मन्त्रोंमें–'भुजंगादि, विषधारी तथा क्रूर स्वभाववाले पशु-पक्षियोंसेभी'–प्रेमका व्यवहार करनेका आदेश कियागयाहै । यह 'उपमा' है —'अलंकृत' । यह इस बातका द्योतक है कि संसारमें दो प्रकारके मनुष्य होतेहैं, जिनके साथ मनुष्यको अपने कार्य्य निमित्त सम्पर्कमें आना पड़ताहै—

१—शिक्षित या अशिक्षित; २—विद्वान् या मूर्ख;
३—गम्भीर या चञ्चल; ४—नम्र या उग्रप्रकृति वाले ।

चाहे इनमेंसे अच्छोंसे काम पड़े या बुरोंसे । आपका व्यवहार ऐसा सुन्दर होना चाहिये कि उनके हृदयोंपर आपके प्रेमकी छाप लगजाय, अर्थात् आपके सामने चाहे किसीभी श्रेणीका मनुष्य आये, वह आपके व्यवहारसे सन्तुष्ट होकर सदैव आपका शुभ चिन्तक ही बनारहे ।

प्राय: मनुष्य नहीं समझते कि उन्हें अपनेसे सम्बन्धित व्यक्तियोंके साथ कैसा व्यवहार करनाचाहिये; इसीकारण उन्हें बड़ी २ क्षतियाँ उठानी पड़ाकरतीहैं। सद्-व्यवहार सम्बन्धी एक घटना मुझे याद आरही है जिसे आपकी जानकारीकेलिए यहाँ लेखबद्ध कररहाहूँ।

'एक व्यापारी किसी साहूकारकेपास गया। मार्गमें उसने एक दलाल से उसकी दुकानका पताभी पूछलिया। जब वह साहूकारकेपास पहुँचा, तब उसने उसकी सेवा सुश्रुषाभी की और उसे सामान खरीदनेमें हर प्रकारकी सहायताभी दी। वह व्यापारी साहूकारसे इतना प्रसन्नहुआ कि शेष मालभी उसीकेद्वारा खरीदकिया। पूर्वकथित दलालको यह मालूमहोनेपर कि पक्षी हाथसे निकलगया। उसने उस व्यापारीको अपने साहूकारके पक्षमें लानेका भरसक प्रयत्न किया; परन्तु व्यापारी अपने साहूकारके प्रेम और सहानुभूतिसे इतना प्रभावित होचुकाथा कि उसने दलालकी बातोंपर ध्यानही नहीं दिया।

थोड़ेसे प्रेम और सहानुभूतिने इस व्यापारीको सदैवकेलिए साहूकारकी ओर खींचलिया। यदि वह साहूकार उसकेसाथ ऐसा सुन्दर व्यवहार न करता, तो वह दलालकी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें अवश्य आजाता और साहूकार उस लाभसे हाथ धोबैठता, जो इसे इस समय व्यापारीसे हुआ। इसलिए किसीभी कार्य्यकेकरनेकी हार्दिक इच्छा होतेहुये और तत्सम्बन्धी योग्यता होतेहुयेभी, प्रेम और सहानुभूतिके बिना कार्य्यमें सफलता प्राप्त नहीं हुआकरतीहै; अत: मनुष्यको व्यवहार कुशल होना भी अनिवार्य्य है।

ईश्वरीय चतुर्थ आदेश

(प्रत्येक कार्य्यमें ईश्वरीय सहायताभी अनिवार्य्य है)

चाहे किसी कार्य्यके करनेमें मनुष्यकी 'हार्दिक इच्छा' भी है और उस कार्य्यके करनेकी, उसमें 'योग्यता' भी है; तथा सम्बन्धित व्यक्तियोंसे 'प्रेम और सहानुभूति' भी वर्तताहै; अपितु उसे —ईश्वरीय सहायता'— प्राप्त नहीं हुईहै; तो भी उस कार्यमें इच्छित फलकी प्राप्ति नहीं होगी; इसीलिए महर्षिने सन्ध्यामें जनसाधारणके उपकारार्थ–'उपस्थान मंत्र'–को लियाहै।

उपस्थान मन्त्र

ओ३म् उद्वयम् .... ज्योतिरुत्तमम् ।
ओ३म् उदुत्यम् .... सूर्य्यम् ।
ओ३म् चित्रम् .... स्वाहा ।
ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितम् .... शतात् ।

भावार्थ

हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! हम लोग आपकी शरणमें है। सभी विद्याओंकी प्राप्तिकेलिए आपकी उपासना करतेहैं। आप हमारे हृदयोंमें प्रकाश कीजिए, ताकि सौ वर्षतक या इसके उपरान्त भी शुभ कार्य्योंके पूरा करनेकेलिए—(१) हमारा शरीर स्वस्थ रहे; (२) इन्द्रियाँ बलवान, यशस्वी और पवित्र हों; (३) आत्मा आनन्दित हो। मन शान्त और स्थिर रहे।

उपासनाके मन्त्रोंमें—'**ईश्वरकी सत्ता, उसकी शक्ति और उसकेपास पहुँचनेके साधन**'—बतलायेगयेहैं। ईश्वरीय सहायताकी प्राप्तिकेलिए सबसे प्रथम यह विश्वास रखनापड़ताहै कि वह महाप्रभु—'**सर्वव्यापक**'—है और '**न्यायकारी**'—भी है। जब ये दोनों बातें मनुष्य सच्चे रूपसे मानलेताहै, तब उसे सहायता स्वतः ही मिलनेलगतीहै।

मनुष्य कहते तो हैं कि — '**ईश्वर सर्वव्यापी और न्यायकारी**' — हैं; परन्तु क्रियात्मकरूपसे इसे नहीं मानते। मनुष्य जिस समय कोई अशुभ कार्य करताहै, उस समय जन-अपवादके भयसे, या राज्य-भयसे उसे गुप्त रूपसे करनेकी चेष्टा कियाकरताहै और उसमें प्रायः सफलभी होजाताहै। यदि उस समय उसे यह विश्वास हो कि ईश्वर यहाँ भी उपस्थित है और उससे कोई बात छुपाई भी नहीं जासकती और बुरे कर्मोंका भोगभी भोगना ही पड़ताहै, तो वह कभीभी उसे करनेकेलिए तैयार नहीं होगा, क्योंकि— '**दुःखसे वैराग्य और सुखसे प्रेम**' — मनुष्यका स्वाभाविक गुण है।

वेदोंमें भी ईश्वरको जीवका सखा कहाहै। वही सच्चा मित्र भी है, क्योंकि मनुष्यतो अपने मित्रोंके दोषोंकी अवहेलना और गुणोंकी प्रशंसा कियाकरताहै; परन्तु ईश्वर एक पक्षपात रहित मित्र है। वह सदैव अपने नियमोंके अनुकूलही चलाकरताहै; इसीलिए मनुष्यको अच्छे कर्मोंका फल सुख और बुरे कर्मोंका फल दुःख मिलाकरता है। जो मनुष्य दुःख भोगना नहीं चाहता, उसे अपना जीवन ईश्वरीय आदेशोंके अनुकूल बनालेना चाहिये। बस, ईश्वर उपासनाका यही एक सच्चा मार्ग भी है।

ऐसा करते-करते उस साधकका मन स्थिर और अन्तःकरण पवित्र होजाया करताहै। **'स्थिर मनसे और पवित्र अन्तःकरणसे कियेहुये कर्मका फल भी अच्छा ही होताहै।** यही उस ईश्वरसे मेल करनेकी रीति भी है। फिर उस ईश्वरीय राज्यकी सभी सुविधाओंसे लाभ उठानेका अधिकार उस साधकको होजाया करताहै।

आप देखतेहैं कि एक साधारण राज्य कर्मचारीसे मेल होजानेपरभी मनुष्य अपनी शक्तितुल्य व्यक्तियोंको नहीं गिनाकरताहै; फिर भला उसका मेल यदि राजाओंके भी राजा उस महाप्रभु परमात्मासे होजाय, तो फिर कहनाही क्या है? इस दशामें फिर वह तो निर्भय होजाया करताहै। निर्भयताही मनुष्यको प्रत्येक कार्यमें सफल भी वनाया करतीहै। इसीका नाम —**'ईश्वर-निष्ठ निर्भयता'**—है, जिसकी प्राप्तिकर मनुष्य शारीरिक, मानसिक और दैवी आपत्तियोंसे बचजाया करताहै; परन्तु यह निर्भयता —**'पुरुषार्थ, प्रयत्न, त्याग और भक्तिसे'** —ही प्राप्त हुआ करतीहै।

प्रत्येक कार्यमें सफलताकेलिए ईश्वरीय सहायताकी प्राप्तिभी अनिवार्य है। ईश्वर-भक्तिसेही मनुष्य व्यवहारमें छल-कपटसे रहित बनाकरताहै। व्यवहार कुशलको सफलताकेलिए छलकपटसेरहित होनाही चाहिये।

ईश्वरीय पञ्चम आदेश

(अपने व्यवसाय सम्बन्धी अनुभव-वृद्धिका प्रयत्न)

जबतक मनुष्य अपने कार्य्यमें अनुभवको बढ़ाता नहीं, तबतक चाहे—

१—उस कार्य्यके करनेमें उसकी 'हार्दिक-इच्छा' भी क्यों नहो, अर्थात् वह मन लगाकर कार्य्यभी क्यों न करताहो ?

२—उस कार्य्य सम्वन्धमें उसकी—'योग्यता'—भी कितनीही क्यों न हो? अर्थात् उसने इन्द्रियोंको वलवान् बनाकर धन, वल और विद्या भी क्यों न प्राप्तकरलीहो ? और शुद्ध हृदयसे जाति और देशकी उन्नतिमें उनका सहृदयतासे प्रयोग भी क्यों न कियाहो ?

३—उसका सम्वन्धित व्यक्तियोंके साथ अपना व्यवहार भी चाहे कितना ही अच्छा क्यों न रहाहो ? अर्थात् सवकी— 'सहानुभूति और प्रेम'—उसके साथ क्यों न हो ? चाहे सवही उसकी सफलताके इच्छुक हों?

४—वह ईश्वर-भक्त भी क्यों न हो ? अर्थात्—'स्वार्थ-त्यागी, परोपकारी और सदाचारी'—भी क्यों न हो, या यों कहिये कि उसके सबही कार्य्य छल-कपटसे रहित क्यों न होतेहों —

फिरभी उसकी भावी उन्नति रुक जाया करतीहै यदि उसकी अपने—'व्यवसाय सम्बन्धी अनुभव-वृद्धि' — न हुई; इसलिये सन्ध्यान्तर्गत—'गायत्री मन्त्र'—का महर्षिद्वारा सम्मिलित कियाजाना उचित ही है।

गायत्री मन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः .... प्रचोदयात्

इस मन्त्रमें ईश्वरसे प्रार्थना कीगईहै कि हे प्रभो ! हमें बुद्धि प्रदान कीजिये। बुद्धिही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। किसी कार्य्यके बिगड़नेसे पूर्व उस मनुष्यकी बुद्धिही बिगड़ाकरतीहै। सच कहाहै — 'विनाशकाले विपरीत बुद्धि' — दुर्भाग्यका चक्कर चलनेसे पूर्व मनुष्यकी बुद्धि बिगड़जाया करती है, परन्तु बुद्धिके ठीक रहतेहुये मनुष्यका कोईभी कार्य्य नहीं बिगड़ताहै।

बुद्धि बढ़ानेके तीन साधन

१—देशाटन — (देश देशान्तरोंका भ्रमण);

२—अनुभवी व्यक्तियोंका सत्संग; ३—स्वाध्याय।

(देशाटन अर्थात् देश-देशान्तरोंका भ्रमण)

देशाटनद्वारा मनुष्य अपने कार्य्यका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करसकताहै चाहे वह कार्य्य —'व्यापारिक हो, राजनैतिक या धार्मिक'— और अपने हस्तगत व्यवसायको उन्नतिकी शिखरपर पहुँचासकताहै; परन्तु यह रीति है बहुत मँहगी और कठिन। प्रत्येक व्यक्तिकेलिये यह साधन सरल नहीं।

अनुभवी व्यक्तियोंका सत्संग

सत्संगकी महिमा अपार है। किसी समयतो यह बहुत लाभप्रद था; परन्तु अब जबकि समयमें बहुत परिवर्तन होआयाहै; सत्संगद्वारा लाभ उठाने वालोंके बहुत कम अनुकूल पड़ताहै। सत्संग है बहुत अच्छी चीज़, क्योंकि दूसरोंका वर्षोंका अनुभव सत्संगीको दिनोंमें प्राप्त होजाया करताहै; परन्तु ऐसे व्यक्ति जो—'आन्तरिक सदाचारी, स्वार्थ-त्यागी, परोपकारी और ईश्वर-भक्त' हों, मिलने कठिन हैं। प्रायः सत्संगसे लाभ कम और समय अधिक व्यय होजाया करताहै, क्योंकि सत्संगसे लाभका होना एक साथ पारस्परिक समान स्वार्थमय भावोंकी पूर्तिपर निर्भर है।

स्वाध्याय

१	२
आत्म-चिन्तन (अपने कर्तव्यपर विचार)	महापुरुषोंद्वारा लिखित पुस्तकोंका स्वयं अध्ययन

आत्म-चिन्तन

मनुष्य सायङ्काल अपने दैनिक शुभाशुभ कर्मोंपर एकबार दृष्टिडाल, उनमेंसे अशुभ कर्मोंपर, पश्चातापकर, उन्हें त्यागनेका प्रयत्न करतारहे। वह अवश्य एकदिन अपने लौकिक तथा पारलौकिक जीवनमें सफल होजायेगा।

महापुरुषोंद्वारा लिखित पुस्तकोंका
स्वयं अध्ययन

अपने-अपने व्यवसायानुकूल महापुरुषोंद्वारा लिखित पुस्तकोंका स्वाध्याय अवश्य करनाचाहिये। अपनी २ आवश्यकतानुकूल —'**व्यापारी, राजनैतिक तथा धार्मिक पुस्तकोंका संग्रह**'—अनुभव-वृद्धिकेलिये बड़ा हितकर प्रमाणित हुआकरताहै। स्वाध्यायही मनुष्यको अनुभवशील बना, मौखिक रूपसे ऊँचा उठादिया करताहै। जो व्यक्ति नित्य नियमानुकूल–'**स्वाध्याय**' करता रहताहै, वही अपने–'**अनुभवको**'–बढ़ाकर सफलता प्राप्तकिया करताहै।

ईश्वरीय षष्ठं आदेश
(शारीरिक नीरोगता)

जीवनमें पूर्ण सफलता प्राप्तिकेलिये एक बात और भी है, और वह है — '**शारीरिक नीरोगता**' — रोगग्रसित मनुष्यकेलिये — '**धन, बल और विद्या**' — सबही निष्फल होतेहैं। संसारकी जितनीभी भाषाएं हैं, यदि उनपर वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार कियाजाय, तो —'**संस्कृत भाषा ही स्वास्थ्य-प्रदायिनी**'— प्रतीतहोतीहै, और इसीलिये ईश्वरीय पाँचों आदेश देववाणी संस्कृतमेंही वर्णित हैं।

संस्कृत भाषाका स्वास्थ्यसे बड़ा गहरा सम्बन्ध है। शरीरमें दो प्रकारकी शक्तियाँ काम करतीहैं :–(१) '**रक्तकी शक्ति** (२) **वायुकी शक्ति** वैज्ञानिक रूपसे ४० सेर भुक्तान्नमेंसे एक सेर रक्त और उससे दो छटांक माँस बनाकरताहै। माँस बनते समय जो मैल बनताहै, उसे ही त्रिदोष (वात, पित्त और कफ) कहतेहैं। इस त्रिदोषके समान रहनेपरही मनुष्य नीरोग रह सकताहै।

हमारे शरीरमें नाड़ी-जालके दो भेद हैं — (१) **स्थूल** (२) **सूक्ष्म**। स्थूल-नाड़ियाँ तो त्वचाकेसाथ एक दूसरीसे सटीहुई साफ दीखपड़तीहैं। ये मनुष्यके दैनिक कार्य्योंमें व्ययहुई शक्तिकी पूर्तिकरनेमेंही लगीरहतीहैं

परन्तु सूक्ष्म-नाडियाँ वट-वृक्षकी जटाओंकी भाँति एक ओरतो सटीहुईहैं और दूसरी ओर अधर लटकरहीहैं, जो निम्नलिखित प्रकारसे हैं।

१—आज्ञा-चक्रपर अर्थात् मस्तिष्कमें	.... २	....	क्ष और ह।
२—विशुद्धि-चक्रपर अर्थात् कण्ठकूपमें	.... १६	....	अ से अः तक।
३—अनाहत-चक्रपर अर्थात् हृदयमें	.... १२	....	क से ठ तक।
४—मणिपुर-चक्रपर अर्थात् नाभिमें	.... १०	....	ड से फ तक।
५—स्वाधिष्ठान-चक्रपर अर्थात् पेडूपर	.... ६	....	ब से ल तक।
६—मूलाधार-चक्रपर अर्थात् गुदामें	.... ४	....	व, स, ष, श।

षट्-चक्र-चित्र
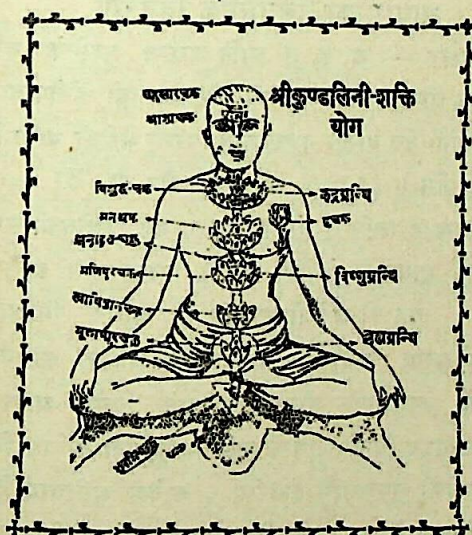
प्राण-वायु जिस समय उपरोक्त वट-वृक्ष जटा तुल्य नाड़ियोंमेंसे रक्त को लेकर भ्रमणाकरताहै, उस समय रक्त तो मार्गमें ही व्यय होजाताहै और वायु उन नाड़ियोंके सिरोंपर जाकर आँगारिक वायुका रूप धारण करलेताहै। इस आँगारिक वायुके लौटते समय ऊपरसे आतीहुई प्राण-वायुसे टकरा कर नाद उत्पन्न हुआकरताहै। यह नाद अपने साथ २ उस त्रिदोषकोभी ऊपर उठालातीहै। फिर नाद तो भिन्न २ अक्षरोंका रूप धारण करलेताहै जिनके ठीक उच्चारणपरही मनुष्यकी नीरोगता आश्रित है, क्योंकि प्रत्येक अक्षर अखण्ड ध्वनिको प्रकट करताहुआ शरीरान्तर्गत त्रिदोषके स्थलों में से गमनकरताहुआ सीधा अपने उच्चारण स्थलपरही पहुँचाकरताहै, जिसके कारण त्रिदोष तो समान होजाता हैं और शरीर स्वस्थ रहने लगताहै।

भाषाओंका तुलनात्मक विवरण

संस्कृतमें अक्षर — 'अ, इ, उ' आदि अखण्ड ध्वनिके रूपमें होनेके कारण वात्त, पित्त और कफका आपसमें मिश्रण नहीं होनेपाता; इसीलिये यह स्वास्थ्य-प्रदायिनी देव-बाणी कहलातीहै; परन्तु अंग्रेजी भाषा के अक्षरोंमें यह बात नहीं है, जैसे ए (A) = अ + इ; और बी (B) = ब + इ इत्यादि। इनमें अखण्ड ध्वनि न होनेके कारण यह त्रिदोषको समान रखनेमें असमर्थ है। उर्दू भाषा तो रोगोंकी जड़ है, उदाहरणतः अलिफ= अ+ ल + इ + फ। यह तो अंग्रेजी भाषासे भी अधिक मिश्रित रूपमें है, इसीलिये यह उर्दू भाषा त्रिदोषकी गड़बड़ीका अधिक साधन बनीहुईहै। अतः मनुष्यमात्रके कल्याणार्थ जीवन सफलताके नियम अखण्ड ध्वनियों द्वारा बनेहुये स्वास्थ्यप्रद हिन्दी-भाषाके अक्षर-समूहमेंही वर्णित कियेगयेहैं।

प्रत्येक कार्य्यकी सफलतामें ईश्वरीय ६ आदेश अनिवार्य हैं, क्योंकि ये बातें प्रकृतिके अनुकूल हैं। इनके विना पूर्ण हुये कोई आदमी भी न तो लौकिक कार्य्योंमें, और न पारलौकिक कार्य्योंमें सफलता प्राप्त करसकताहै। इनके अभावमें शान्तितो किसीको प्राप्त होतीही नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह हिन्दु है, या मुसलमान; ईसाई है, या और कोई मतावलम्बी । यदि वह सफलता चाहताहै, तो उसे पूर्वोक्त ईश्वरीय छओं आदेशोंका पालनकरना अनिवार्य्य है । मनुष्य जितनी भी अधिक दृढ़तासे इन नियमोंका पालनकरताहै, वह उतनाही अपने कार्य्योंमें सफलभी होजाताहै ।

मनुष्य प्रातःकालसे सायङ्कालतक कुछ न कुछ कामतो करताही रहता है । प्रातःकाल — 'रात्रि और दिनका सन्धि-काल' — है, और सायङ्काल — दिन और रात्रिका सन्धि-काल' — इसीलिये प्रातःकाल और सायङ्काल के सन्धि-कालकोही — 'सन्ध्या' — कहतेहैं । प्रातःकाल प्रत्येक मनुष्यको अपने करने योग्य कार्य्योंकी सूची बनालेनी चाहिये और फिर सायङ्काल उन कियेहुये कार्य्योंकी सफलता और असफलतापर विचार करलेना चाहिये । वह यह भी विचार करलियाकरे कि कौनसे आदेशकी पूर्ति न होनेकेकारण उसके कार्य्यमें असफलता रहीहै ? ताकि दूसरे दिन उस प्रकारकी पुनरावृत्ति न हो । इस शैलीका नाम ही—'सन्ध्या'— दियागयाहै या यों कहिये कि इन ६ ईश्वरीय आदेशोंको ही 'सन्ध्या' कहागयाहै ।

प्रत्येक मनुष्य चाहे वह किसी भी विचारका अनुयायीहै, उसको अपनी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नतिकेलिये यह आवश्यक है कि वह महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट—'सन्ध्या'--रूपी मार्गका अवलम्बन करे, ताकि वह अपने जीवनको सफल बनासके । इस वैदिक सन्ध्याके अन्तर्गत — 'प्राणायाम' — भी है, जो अपनी विशेषताओंके कारण मनुष्य का लौकिक जीवनही नहीं, बल्कि पारलौकिक जीवनभी सफल बनादेताहै ।

जिस महर्षिने हमें इतना सुन्दर जीवन-लक्ष्य-प्राप्तिका अस्त्र पकड़ा दियाहै, हम उस महर्षिके ऋणी हैं, और यह ऋण उसी दशामें उतर सकताहै जब कि इस सन्ध्याको हम अपने जीवनका अंग बनालें और फिर दूसरोंकोभी अपने आचारणसे सच्ची तत्सम्बन्धी शिक्षा प्रदान करासकें ।

ओ३म् तत्सत् ।

महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती

संसारमें बड़े-बड़े सुधारकों और महापुरुषोंके जन्मका कारण तत्कालीन परिस्थितियाँही हुआकरतीहैं। श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीका जन्म भी अठारहवीं शदाब्दिकी गिरतीहुई वैदिक संस्कृतिही कहा जासकताहै। उस समय हिन्दु-जाति ईश्वरसे विमुख होरहीथी। ईश्वरोपासानका स्थान देवी-देवताओंकी पूजाने लेलियाथा। महात्माओं और विद्वानोंके स्थानमें ढोंगी पुजने लगगये थे। अनेक ऐसी परिस्थितियाँ आगईथीं, जिन्होंने महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जैसे धार्मिक क्रान्तिकारीको जन्म दिया।

महर्षिका जन्म काठियावाड़के अन्तर्गत मोरवी राज्यके एक नगर टंकारामें औदिच्य ब्राह्मण-कुलमें हुआथा। १४ वर्षकी आयुमें ही शिवरात्रिके अवसरपर आपको आत्म-ज्ञानका प्रादुभाव होआयाथा। आपने पैतृक सम्पत्ति पर लातमार, संन्यास ग्रहणकर तपस्याका जीवन व्यतीतकरना आरम्भकर दियाथा। फिर स्वामी विरजानन्दजीका द्वार खटखटाया और तीन वर्षतक इस अद्भुत गुरुके चरणोंमें बैठकर अष्टाध्यायी और महाभाष्यकी शिक्षा प्राप्त कर वेदार्थ करनेकी कुञ्जी प्राप्तकरली। तदन्तर अपना शेष जीवन वेदप्रचार करने तथा मानव-जातिके उद्धारकेलिये पाखण्डका खण्डनकर प्राचीन आर्य्य संस्कृतिके प्रचारमें लगादिया।

भारतका यह दुर्भाग्य था कि जोघपुरकी वेश्याके षड़यन्त्रमें फंसकर महाराजके ही विश्वासपात्र रसोइये लालची जगन्नाथने बारीक पिसाहुआ काँच दूधमें मिलाकर उन्हें पिलादिया। इतना होतेहुयेभी महर्षिने उसे कुछ न कहकर केवल भागजानेकेलिये आदेश दिया। यह थी महर्षिकी उदाहरणीय उदारता। महर्षि इतने उदार हृदय थे कि अपने घातकको भी पीडित देखना नहीं चाहतेथे। महर्षिने वैदिक प्रचारको स्थायीरूप देनेकेलिये आर्यसमाजकी स्थापनाकर वैदिक उद्देश्योंको आर्य समाजके नियमोंमें सम्मलितकर देशकेलिये एक सच्चा आदर्श छोड़गये। सच कहाहै—

यह मत कहो जगत्में, कर सकता क्या अकेला।
लाखोंमें काम करता, है शूरमा अकेला॥
था कुल जगत् विरोधी, तिसपर ऋषि दयानन्द।
वैदिक धर्मका झण्डा, फहरा गया अकेला॥

आर्य्य समाजके नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्यासे जाने जातेहैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार- सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्त्ता है। उसीकी उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है। वेदका पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना और उनके अनुकूल अपना आचरण बनाना सब आर्योंका परम धर्म है।

४—सत्यको ग्रहणकरने और असत्यको छोड़नेमें सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्यको विचारकरके करने चाहिये।

६—संसारका उपकार करना इस समाजका मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्याका नाश और विद्याकी वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येकको अपनीही उन्नतिसे सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्योंको सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालनेमें परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकरी नियममें सब स्वतन्त्र रहें।

ओ३म् तत्सत्

मनुष्य पूर्ण नीरोग कैसे हो ?

सम्पूर्ण पुस्तक	१४।)	आडरकेसाथ
डाक व्यय	२।)	दो रुपये पेशगी
कुल	१६॥)	आने चाहियें।

यह वह पुस्तक है जिसकी लाखों प्रतियाँ लोगोंके हाथोंमें अबतक जा चुकीहैं। इसके अन्दर जोकुछ उल्लिखित है, वह भलीप्रकार अनुभव करने के पश्चात् लेखबद्ध कियागयाहै। सहस्रों प्रशंसा पत्र इसपर अबतक प्राप्त हो चुकेहैं। आपभी जिस समय इसे एक बार अध्ययनकर अपने प्रयोगमें लाकर देखलेगें, उस समय इसकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा कियेबिना न रह सकेंगे। यह वह अनुपम ग्रन्थ है—जिसे प्रत्येक ग्रहस्थीको अपने पास रखना ही चाहिये, ताकि कठिन से कठिन समयका भी मुकाबला किया जासके। सच कहाहै कि इलाज करवानेसे परहेज बेहतर है। मानव-जीवन, नीरोगता सेही, सुखमय बनसकताहै और इस विषयमें इस पुस्तककी एक एक बात समय पड़नेपर एक सच्चे मित्रका काम देतीहै। बस, इतना कहनाही पर्याप्त है कि आपभी इसकी सेवाओंसे वञ्चित न रहिये। इसकी उपयोगिता अनुभव करनेसे ही स्पष्ट होगी। इस सम्बन्धकी सहस्रों पुस्तकोंका यह एक पुस्तकही मुकाबला करनेमें पर्याप्त है। रहा मूल्य सम्बन्धमें, वह तो इतना कम है कि यदि आपने किसी एक औषधिको भी तैय्यार करलिया, तो उसमें ही पुस्तक का मूल्य निकल आयेगा। यह कोई पुस्तककी प्रशंसा नहीं है बल्कि मानवताकेनाते आपके कल्याणार्थ एक शुभ-सन्देश है। अब जैसा आप उचित समझें, कीजिये। मैं तो केवल इतना कहना ही पर्याप्त समझताहूँ कि पृथ्वी रत्नोंसे भरी हुईहै; परन्तु मिलते उसीको हैं, जिसकी प्रारब्ध अच्छी होतीहै। इति अलम्।

पुस्तक मिलनेका पता—

पं० हजारीलाल शर्मा, मुहल्ला बीरबल, अलवर (राजस्थान)।

मनुष्य पूर्ण नीरोग कैसे हो ?

प्रथम तीन भाग	— मूल्य ७)		सम्पूर्ण १४।)
चौथा पाँचवा भाग	— मूल्य ५)		डाकखर्च २।)
छटा भाग	— मूल्य २।)		कुल १६॥)

लेखक — स्वामी योगानन्द सरस्वती, आर्य संन्यासी ।

प्राचीनकालसे जब आधुनिक कालकी स्वास्थ्य सम्बन्धमें तुलना की जातीहै, तब इतिहासकी साक्षीपर यही निर्णय देनापड़ताहै कि जहाँ प्राचीन कालमें कोईही रोगी होताथा, वहाँ यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आधुनिक कालमें कोईही व्यक्ति रोगरहित दीखपड़ताहै। इसका एक कारण तो स्पष्ट यही है कि देशमें खाद्यसामग्री विक्रेताओंकी दूषित मनोवृत्तिके कारण कोईभी शुद्ध सामग्री सरलतापूर्वक उपलब्ध नहीं होती। दूसरा कारण भी स्पष्ट है कि हमारा भोजन सम्बन्धी परिचय न होनेके कारण हमारे खान-पान, रहन-सहन, और व्यवहार सभी दूषित होचुकेहैं। सबसे निकृष्ट बात यह है कि हमारे अधिकांश चिकित्सोंकी व्यापारी मनोवृत्तिने जनताके स्वास्थ्य की अर्थी निकाल डालीहै। वैद्य और डाक्टरोंका देशकेप्रति जहाँ पवित्र कर्तव्य यह होना चाहिये था कि वे अपने अनुभवों, व्याख्यानों, लेखों तथा पुस्तकोंद्वारा जनताको इस विषयसे परिचित कराकर आधुनिक कालकी बढ़तीहुई रोग-संख्याका अन्त करदेते; वहाँ रोगियोंसे व्यापारिक तथा व्यावसायिक दृष्टिकोण रखनेके कारण, रोगोंका समूल नष्ट होनातो दूर रहा, नये २ रोगोंकी संख्या नित्यप्रति बढ़तीही जारहीहै। इसका परिणाम तो स्पष्ट है कि देश नित्यप्रति स्वास्थ्यमें गिरताही जारहाहै। स्वतन्त्र भारतको इसलिये सर्वप्रथम अपने स्वास्थ्य-सुधारकी योजना बनानी चाहिये।

इस अभावकी पूर्तिकेलिएही —'मनुष्यपूर्ण नीरोग कैसे हो?'— सम्पादित कीगईहैं। इस पुस्तकके ६ भाग हैं, जिनमेंसे—

१—**प्रथम तीन भागोंमें** यह समझाया गयाहै कि शरीरमें वायु और रक्तके मिश्रणसे कौन कौनसे मल उत्पन्न होतेहैं और वे यदि स्वाभाविक मार्गों

से न निकले, तो फिर वे कहाँ २ रुकते हैं और कौन २ से रोग उत्पन्न होतेहैं। वे रोग जल, वायु, सूर्यप्रकाश, आसन-चिकित्सा और अनुभूत ओषधियोंसे कैसे दूर होसकतेहैं। चित्रों सहित प्रश्नोत्तर रूपमें पुरुष, स्त्री और बच्चोंके रोगोंके लक्षण, कारण तथा प्रयोग-विधियोंतक वर्णित हैं स्त्रियोंके तो मासिक धर्मसे लेकर बच्चोंकी उत्पत्तितक सब बताया हुआ है। गर्भमें लड़का लाना चाहते हो या लड़की और यदि भूलसे लड़की की जगह लड़का या लड़केकी जगह लड़की आगईहै, तो फिर उसका गर्भ मेंही परिवर्तन कैसे कियाजाय। लड़का या लड़की किस रूपकी और किन गुणोंसे सम्पन्न बनाना चाहते हो ? ऐसा कैसे हो ? पुस्तकके तीनों भाग एकही जिल्दमें हैं। पृष्ठ ५०० के लगभग। मूल्य ७) है।

२—चौथे और पाँचवें भागमें—भोजन और उसका आयुर्वेदिक तथा वैज्ञानिक विश्लेषण और मिश्रण हर प्रकृति वालेकेलिये इतनी सुन्दर रीतिसे देश, काल, आयु और व्यवसायका ध्यान रखते हुये सम्पादित कियागयाहै कि मनुष्य यदि उन्हें समझकर अपने जीवनका अंग बनाले, तो फिर कभी रोगी होही नहीं। इन्हीं भागोंमें पुरुष स्त्रीके गुप्त रोगों तथा अमानुषिक विषय-भोगोंद्वारा उत्पन्नहुये रोगोंका विवरण तथा उनकी चिचित्सा भी दीगई हैं, ताकि एक निराशायुक्त व्यक्तिभी स्वस्थ हो, जीवनका पुन: आनन्द उठासके। यह बहुतही महत्वपूर्ण भाग है। विवरण चित्रों सहित दियागयाहै। पृष्ठ संख्या लगभग ३५० और मूल्य केवल ५)। दोनों भाग एकही जिल्दमें हैं।

३—पुस्तकका छटा भाग—'ब्रह्मचर्य रक्षा ही जीवन है'—के नामसे है। इसमें ब्रह्मचर्यका महत्त्व और तत्सम्बन्धी चिकित्सा-विवरण भी है।

सम्पूर्ण पुस्तक १४।) डाकखर्च २।) कुल १६॥) आडरकेसाथ दो रुपये पेशगी आने चाहिये। पत्र व्यवहारकेलिए जवाबी पत्र होना चाहिये।

पुस्तक मिलनेका पता—

पं० हजारीलाल शर्मा, मुहल्ला बीरबल, अलवर (राजस्थान)।

ब्रह्मचर्य्यरक्षा ही जीवन है
(विद्यार्थियोंकेलिए अमूल्य रत्न)
मूल्य १।)

लेखक—स्वामी योगानन्द सरस्वती, आर्य्य संन्यासी

ब्रह्मचर्यके महत्वको केवल भारतवर्षके प्राचीन ऋषि और महर्षियोंने ही समझाथा। इसकी रक्षाकरनेमें उन्होंने अपनी सारी शक्तिका प्रयोग कर विश्वमें अपना मान ऊँचाकर दिखायाथा। सारा विश्व इसीलिए उन्हें अपना गुरु मानता था। एक ब्रह्मचारीही एक योग्य विद्यार्थी बनसकताहै। ब्रह्मचर्य-व्रतधारीका खान-पान, रहन-सहन और व्यवहार सबही सरल और सरस होनेचाहियें उसका। अपना जीवन सादा और विचार उच्च हों। जबसे हमने ब्रह्मचर्यकी महिमाको भुलादियाहै, तबसे हमारी परमपरागत विशेषतायें भी सबही नष्ट होगईहैं।

वर्तमान स्वतन्त्र भारतको पुनः अपना गौरव प्राप्त करनेकेलिए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनाचाहिये। ऐसा सत्संग तथा सद्-ग्रन्थोंके स्वाध्याय से ही सम्भव होसकताहै। शारीरिक और मानसिक सबही शक्तियां ब्रह्म-चर्यपर आश्रित हैं। प्रत्येक विद्यार्थीको वर्तमान वातावरणमें सत्संग तो दुर्लभ है। हां, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय अवश्य लाभप्रद है, परन्तु उनमें भी केवल वे ही ग्रन्थ उसे पढ़ने चाहियें जो उसके चरित्रका सुधार करसकें। इस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये ही—'ब्रह्मचर्य्य रक्षा ही जीवन है'—लिखीगई है, जिसमें एक विद्यार्थीकेलिये—

१—आहार, व्यायाम और व्यवहार सम्बन्धमें पूरी तरह समझाया गयाहै;

(अ) भोजन सम्बन्धी बातें — क्यों खाओ ?, क्या खाओ ? कब खाओ ? किनता खाओं ? और कैसे खाओ ?

(आ) भोजनमेंसे रस बनानेकेलिए व्यायाम सम्बन्धी बातें। व्यायामके भेद; उनके करनेकी विधियाँ चित्रों सहित; और उनसे लाभ और हानियाँ।

२—व्ययामका चित्रोंद्वारा ऐसा सुन्दर विवरण दियागयाहै कि उनका अभ्यासकर, प्रत्येक विद्यार्थी भुक्तान्नमेंसे रस और मलोंका पृथक्करण कर, मलोंको स्वाभाविक मार्गोंसे निकाल सकताहै और रसको वीर्यमें परिवर्तितकर अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियोंका विकास करसकताहै। फिर भुक्तान्नमेंसे उत्पन्नहुई शक्तिका विवरण—

१—सदुपयोग और दुरुपयोग; २—लाभ और हानियाँ।

३—वीर्यकी उत्पत्ति, रक्षा और उसकी वृद्धिके सरलातिसरल साधन चित्रों सहित समझाये गयेहैं। दूषित वातावरणमें रहकर अपनी अमानुषिक क्रीडाओंके फलस्वरूप उत्पन्नहुये स्वप्नदोषादि रोगोंकेकारण और उनकी सफलचिकित्सा दीहुईहै, ताकि बच्चे पुनः अपनी पूर्व-स्थिति प्राप्त करसकें।

सप्त-श्लोकी यौगिक गीता

मूल्य १)

लेखक—स्वामी योगानन्द सरस्वती, आर्य्य संन्यासी

लौकिक तथा यौगिक व्याख्या

भगवद्भक्तिकी प्राप्ति

समस्त भगवद्गीतामेंसे केवल वे सात श्लोक लियेगयेहैं जिनका लौकिक अर्थ तो भगवद्भक्तिका एक आदर्श स्थापित करताहै और यौगिक अर्थ आत्म-भावके उच्चादर्शको प्राप्तकरने की साधना बतलाताहै। एक साधक इस सप्त श्लोकी गीता-द्वारा जीवन-मुक्तितक पहुँचनेमें सफल होसकताहै।

पुस्तकें मिलनेका पता—

पं० हजारीलाल शर्मा, मुहल्ला बीरबल, अलवर (राजस्थान)।

श्रीमद्भगवद्गीताका
एक आदर्श तथा अनुपम यौगिक भाष्य

श्रीमद्भगवद्गीता जगतका एक सर्वश्रेष्ठ धर्म-ग्रन्थ है। इसमें जिस ज्ञानकी व्याख्या कीहै, वही ज्ञान सर्वश्रेष्ठ और ग्राह्य है, क्योंकि वह किसीन किसी रूपमें सबही धर्म-ग्रन्थोंमें विद्यमान है। मैंने भी इसे सार्वभौमिक धर्म ग्रन्थ समझतेहुये श्रीगीताको यौगिक रूप देकर, मार्गविचलित व्यक्तियोंके कल्याणार्थ लौकिकभावोंकी व्याख्या करतेहुये इसके अन्तर्गत अबतकके यौगिक गुप्त रहस्यमय भावोंको प्रत्यक्षकर उनपर राजनैतिक, व्यावहारिक, ऐतिहासिक भक्तिभावात्मक, छन्दात्मक तथा तात्त्विक भावोंका संपुट दियाहै, ताकि श्रीमद्भगवद्गीताका यह 'यौगिक भाष्य' एक योगीकेलिये योगशास्त्र, ऐतिहासिककेलिये इतिहास, वैज्ञानिककेलिये विज्ञान, भगवद्भक्तके लिये उसके प्रीतमकी प्रेमभरी वाणी और साधुकेलिये सदाचारकी कुञ्जी प्रमाणित हो।

श्रीमद्भगवद्गीता बहुमूल्य रत्नोंकी एक अनन्त और अगाध खान है, जिसमेंसे यौगिक भाष्यरूपी रत्न पाठकोंकी सेवामें सादर समर्पितकर यह दर्शायाहै कि इस खानमेंसे एक-दो रत्न निकालनेपरभी एक दरिद्र धनी, एक मन्द बुद्धि ज्ञानी, एक कर्मचारी राजनैतिज्ञ और एक भगवद्विमुख भगवद्भक्त कैसे बनजाया करताहै ? श्रीगीता रहस्यमय शिक्षाओंका ऐसा अक्षय भण्डार है कि अबतक सहस्रों टीकाएँ लिखीजानेपरभी इसकेलिये ऐसा समय कभी नहीं आयेगा, जबकि इसपर किसी नई टीकाकी आवश्यकता ही न रहेगी। इस ग्रन्थकेप्रति मेरा प्रयत्नतो केवल इतनाही है कि यदि मेरी यह प्रस्तुत व्याख्या स्वतन्त्र भारतकी राजनैतिक, धार्मिक, व्यापारिक तथा आध्यात्मिक संस्थाओंके मार्ग-विचलित व्यक्तियोंके नैतिक उत्थानमें सहायक बनकर और उन्हें उनके कर्त्तव्यका पाठ पढ़ा उनके जीवनकी बिखरी हुई असुविधाओंको दूर करसके, तो मैं अपने आपको कृतकृत्य समझूँगा।

यह माना इल्म अच्छा, दवा अच्छी, तबीब अच्छा।
होगा रोग उसीका दूर, है जिसका नसीब अच्छा॥

पाठकोंकी सेवामें सप्रेम उपहार

श्रीमद्भगवद्गीताका द्वितीय अध्याय

(लेखक—स्वामी योगानन्द सरस्वती)

श्रीमद्भगवद्गीताका प्रथमोऽध्यायतो केवल यौगिक परिभाषाओंकाही परिचायक है। श्रीगीताका मुख्य विषय तो द्वितीयोऽध्यायसेही आरम्भ होताहै; परन्तु इतना कहनेसे कोई यह न समझ बैठे कि फिर प्रथमोऽध्यायका अध्ययन सारसहित है; यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं कि श्रीगीताशास्त्रका यौगिक मूल-स्रोततो प्रथमोऽध्यायसेही आरम्भहोताहै, जिसके अवलोकन किये विना श्रीगीताके विषयका समझलेना बड़ाही कष्टसाध्य बनजाताहै।

सूक्ष्म-दृष्टिसे यदि विचाराजाय, तो श्रीगीताकी द्वितीयोऽध्यायके –'भक्ति-भावात्मक, तात्त्विक और लौकिक'– विवेचनाने श्रीगीताके यौगिक भाष्यको इतना सरल, रोचक तथा हृदयाकर्षक बनादियाहै कि इस द्वितीय अध्यायके अध्ययनसे लौकिक जीवन बड़ाही सुलभ बनजायेगा। अभीतक श्रीगीता शास्त्रका इससे सुन्दर मोहक भाष्य आपके सामने नहीं आयाहोगा। यह प्रस्तुत भाष्य जहाँ लौकिक असुविधाओंको दूरकरनेमें सफलहोगा, वहाँ पारलौकिक जीवन शैलीको भी बड़ाही सरल बनादेगा।

श्रीगीताके अन्तर्गत इस द्वितीय अध्यायके भाष्यसे एक निराशावादीके लिये जहाँ आशा और असफल साधककेलिये जहाँ सफलता प्राप्त होगी, वहाँ एक योग-भ्रष्टकेलिये जीवन-मुक्तिका मार्ग सुलभ बनजायेगा। एक दिन पाठकका अनुभवही इस बातका साक्षीहोगा कि इस द्वितीय अध्यायका सात रुपये मूल्यतो यदि इसके एक-एक शब्दपर नौछावर कर दियाजाय, तो भी पाठक इसके द्वारा पहुँचायेहुये लाभसे उऋण न होगा; इसलिये इस कथनका वास्तविक अनुभव करनेकेलिये एक प्रति अवश्य मंगालीजिये।

द्वितीय अध्याय का मूल्य ७) डाक व्यय पृथक्

ग्रन्थ मँगानेका पता —

पं० हजारीलाल शर्मा, मुहल्ला बीरबल, अलवर (राजस्थान)।

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायका

राजनैतिक, ऐतिहासिक, भक्तिभावात्मक, छन्दात्मक, तात्त्विक तथा यौगिक सचित्र अनुपम भाष्य भी पाठकोंकी सेवामें सादर समर्पित।

मूल्य ७) पृष्ट संख्या अनुमानित ४८०

शरणागत अर्जुनने जब भगवान् श्रीकृष्णसे अपनी शोक-निवृत्तका ऐकान्तिक उपाय पूछा, तब उन्होंने अर्जुनको ममतामोहरूपी कीचड़से निकालनेकेलिये उसके अन्तःकरणसे मोह-जनित अविद्याका आवरण हटाकर मुसकरातेहुये उसे तीन बड़े सिद्धान्त समझाये —

१—'आत्मा'— अमर है और सर्वव्यापक है;

२—'देह' — नाशवान और क्षणभंगुर है;

३—'स्वधर्माचरणका त्यागकरना'—कभीभी उचित नहीं है।

भगवान्‌ने उपरोक्त सिद्धान्तोंकी व्याख्या करतेहुये अर्जुनसे कहा कि जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियोंकी बाह्य विषयोंसे और मनको आन्तरिक वासनाओंसे हटालेताहै, उसका बुद्धि-पक्ष प्रवल बनकर उसे सुख-दुःखादिका भान नहीं रहाकरता और फिर वह गुण, कर्म और स्वभावमें परमात्माकेही सदृश वनजाया करताहै; परन्तु ऐसी स्थिति साधककी केवल उस समयतकही रहा करतीहै, जवतककि वह भगवद्भक्तिमें तल्लीन रहताहै। भगवद्भक्ति स्वधर्माचरणको निष्कामभावसे सम्पादित करनेपरही उपलब्ध हुआकरतीहै और इसीके अन्तर्गत राष्ट्र-प्रेमकी भावनाभी निहित है।

भगवान् श्रीकृष्णने राष्ट्र-प्रेमकी भावनाओंको जाग्रत करनेकेलिये अपने सखा अर्जुनके बहाने मनुष्यमात्रको स्वधर्माचरणका स्वार्थरहित सम्पादन करनेकी शिक्षा इस द्वितीय अध्यायमेंही दीहै। इस अध्यायका यौगिक भाष्य करते समय, इसीलिये, मैंनेभी राजनैतिक, धार्मिक व्यावहारिक तात्त्विक तथा आध्यात्मिक संस्थाओंके मार्ग-विचलित व्यक्तियोंको उनके नैतिक कर्तव्यकी ओर प्रवृत्त करनेका भरसक प्रयत्न कियाहै, ताकि राष्ट्र हरप्रकार शक्ति-सम्पन्न बनताही चलाजाय।

शुभ सन्देश

श्रीमद्भगवद्गीताका अनुपम यौगिक भाष्य

लौकिक, राजनैतिक, भक्तिभावात्मक, छन्दात्मक तथा तात्त्विक व्याख्या सहित

अठारह अध्याय केवल तेरह जिल्दोंमें

लेखक—स्वामी योगानन्द सरस्वती

स्थाई ग्राहक बननेपर

(प्रति तीसरे महीने पुस्तकाकारमें ग्राहकोंकी सेवामें अगले भाग भी पहुँचते रहें)

पहला अध्याय	मूल्य ५)		सातवाँ-आठवाँ अध्याय	मूल्य ७
दूसरा अध्याय	मूल्य ७)		नवाँ-दशवाँ अध्याय	मूल्य ७
तीसरा अध्याय	मूल्य ५)		ग्यारवाँ अध्याय	मूल्य ५
चौथा अध्याय	मूल्य ३)		बारहवाँ अध्याय	मूल्य ५
पाँचवाँ अध्याय	मूल्य ४)		चौदहवाँ-पन्द्रहवाँ अध्याय	मूल्य ५
छटा अध्याय	मूल्य ५)		सोलहवाँ-सत्रहवाँ अध्याय	मूल्य ५

अठारहवाँ अध्याय .... मूल्य ७)

सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीताके अनुपम यौगिक भाष्यका मूल्य ७०

पुस्तकोंकेलिये हर जगह योग्य तथा अनुभवी प्रचारकोंकी आवश्यकता है। सेवायें योग्यतानुसार की जावेंगी।

पत्र व्यवहारका पता—

पं० हजारीलाल शर्मा मुहल्ला बीरबल, अलवर (राजस्थान)

लेखक—
स्वामी योगानन्द सरस्वती,
आर्य्य संन्यासी ।

प्रकाशक—
पं० हजारीलाल शर्मा,
मुहल्ला बीरबल, अलवर ।

नोट—पुस्तकें मँगाने वाले भी अपना पता साफ-साफ लिखें। आर्डरके साथ-साथ २) का मनीआर्डर आना भी आवश्यक है। शेष दामों की वी. पी. करली जाती है।

याद रहे—

"पुस्तक-प्रचार एक स्थाई प्रचार है, जो हर समय सही रूपमें आवश्यक सन्देश सुनाता रहताहै; इसलिये शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शिक्षा प्राप्तिकेलिये ऐसा साहित्य अपने पास रखना और दूसरोंको देशकी भावी उन्नतिकेलिये ऐसे साहित्यके रखनेकी सम्मतिदेना भी पुन्यसे खाली नहीं।"

पुस्तकें मँगानेका पता—
पं० हजारीलाल शर्मा, मुहल्ला बीरबल, अलवर (राजस्थान)।

पुस्तकें मिलनेका पता—

पं० हजारीलाल शर्मा
मुहल्ला बीरबल,
अलवर (राजस्थान)
Alwar.

मुद्रक—भारत प्रिंटिंग प्रेस, रामगञ्ज, अलवर।

पुस्तकें मिलनेका पता—
पं० हजारीलाल शर्मा
मुहल्ला बीरबल,
अलवर (राजस्थान)
Alwar.

❀ ओ३म् ❀

सन्ध्या-रहस्य
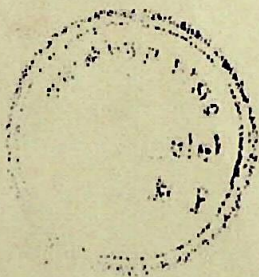
दीनदयालु,
एम० एससी०

❀ ओ३म् ❀

संध्या-रहस्य

अर्थात्

संध्या मन्त्रों का दार्शनिक, वैज्ञानिक, अनुभवात्मक

भाषानुवाद,

जिसमें

प्राणायाम की विशेष क्रिया

और

अध्यात्म एवं वाह्य जगत तथा अणु रचना, एवं प्राण और मन की सृष्टि का संक्षिप्त विवरण है।

लेखकः—

दीनदयालु, एम० एससी.
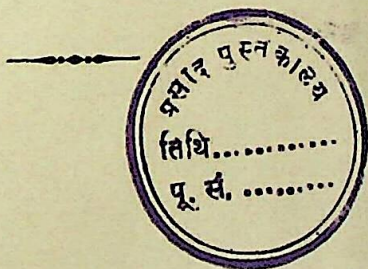
प्रथमावृत्ति 1000 } सन् १९४२ मूल्य १)

प्रकाशकः—दीनदयालु सोनी,
आर्ष स्वाध्याय सदन
G2/34 कनॉट सरकस
नई दिल्ली।
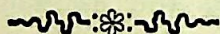
मुद्रकः—
गोएडल्स प्रेस,
कनॉट सरकस, नई दिल्ली।
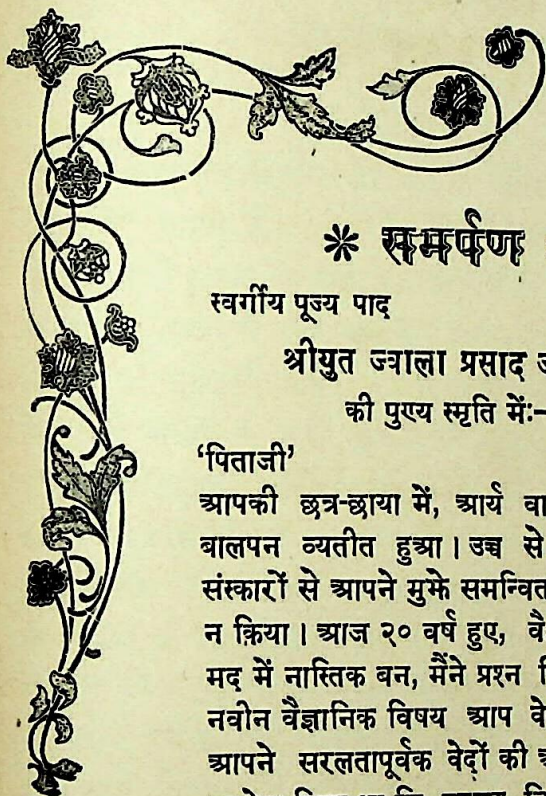
* समर्पण *

स्वर्गीय पूज्य पाद

श्रीयुत ज्वाला प्रसाद जी बैंकर

की पुण्य स्मृति में:—

'पिताजी'

आपकी छत्र-छाया में, आर्य वातावण में, मेरा बालपन व्यतीत हुआ। उच्च से उच्च शिक्षा, तथा संस्कारों से आपने मुझे समन्वित करने हेतु, क्या न किया। आज २० वर्ष हुए, वैज्ञानिक शिक्षा के मद में नास्तिक बन, मैंने प्रश्न किया था कि कोई नवीन वैज्ञानिक विषय आप वेदों में दिखावें। आपने सरलतापूर्वक वेदों की ओर लक्ष्य करके आदेश किया था कि पढ़कर, निज सन्तुष्टि स्वयं ही मैं क्यों न करलूँ। उसी क्षण से वह प्रेरणा मेरे साथ है। आपने मेरे जीवन के उपवन को जिस रस से सींचा है उसके लिये इस जीवन में तो मैं उऋण न हो सका—केवल श्रद्धाँजली रूप यह पुष्प आपकी स्मृति में समर्पित है।

आपका प्रिय पुत्र—

दीनदयालु

प्रस्तावना

श्रीयुत दीनदयालु जी सोनी M. Sc. का लिखा हुआ सन्ध्या-रहस्य मेरे सामने है। पुस्तक के देखने से प्रकट होता है कि लेखक ने सन्ध्या के मन्त्रों के, आधिभौतिक आदि दृष्टि से, अनेक प्रकार के अर्थ किये हैं। अनेक शब्दों के अर्थों के खोलने के लिये भी पर्याप्त सामग्री पुस्तक में संग्रह की गई है। चाहे मन्त्रों के अर्थों पर विचार करें, चाहे शब्दार्थों पर, प्रत्येक से लेखक का गवेषणा पूर्ण परिश्रम प्रकट होता है। यद्यपि एक प्रकार की दृष्टि से सन्ध्या ईश्वरोपासना का प्रारम्भिक कृत्य है और उसमें प्रयुक्त मन्त्रों के अर्थ भी ऐसे ही होने चाहियें, तो भी ऐसे अर्थों के साथ यदि दूसरे प्रकार के पदार्थों का ज्ञान भी मनुष्य को हो जावे, तो इससे भी उसकी ज्ञान वृद्धि ही होगी। इसी दृष्टि से मैंने इस रहस्य को देखा और उपयोगी पाया। मुझे विश्वास है कि अन्यों को भी उसकी उपयोगिता प्रकट होगी। इन्हीं शब्दों के साथ पुस्तक जनता के सन्मुख उपस्थित करते हुए आशा की जाती है कि बहु संख्यक पाठक इस से लाभ उठाकर लेखक का उत्साह बढ़ावेंगे।

रामगढ़
२०-७-४२

नारायण स्वामी
(भूतपूर्व प्रधान—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा)

धन्यवाद

इस पुस्तक के लिखने में और यत्र-तत्र संशोधन एवं प्रमाणादि संकलित करने में, मुझे श्री पं० सत्यकाम जी भारद्वाज M. B., B. S., M. D., Zeug तथा श्री पं० चन्द्रभानु जी सिद्धान्तभूषण, पुरोहित आर्य समाज, नई देहली, से यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई है। इन विद्वानों की कृपा का मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

दीनदयालु

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
१	१६	नदी, तीर,	नदी तीर,
७	३	कुँडलिनी	कुंडलिनी
८	१५	श्रोत	स्रोत
२६	१६	धारण	धारणा,
३२	२२	तप-पंज	तप-पुंज
४८	८	व	वा
५६	१५	भूतानि	भूतानि'—
५८	१	ंत्र	मंत्र
५६	१२	भुवनाः	भुवना
६०	१	संगित	संगति
६०	१४	शतपंथ	शतपथ
६१	२१	सम्यक	सम्यक्
६६	१५	गृहणाति	गृह्णाति
६८	१०	समुदात्	समुद्रात्
७१	१३	सृषटि	सृष्टि
७२	१७	प्राण और मन	मन और प्राण
८०	१३	अभिद्ध	अभि-इद्ध
८१	७	जीवन	जीव
८६	१६	विद्ध	बिद्ध

६६	१४	विशिष्ठ	विशिष्ट
१०४	७	परः कृष्णं	परः+कृष्णं
१०६	६	मिश्रत	मिश्रित
१०६	८	(आदित्य) में देकर	(आदित्य) रूप देकर
१०६	१४	भूमौ	भूमो
११३	१०	आदित्यौ	आदित्यो
११५	५	चद्र	चुद्र
१२१	१४	वसु	वसु
१३४	११	और और	और
१३५	११	रढ़ी	रीढ़
१३५	१५	सम्राज्य	साम्राज्य
१५५	१०	सत गुण	सत्वगुण

॥ ओ३म् ॥

※ सन्ध्या से पूर्व वक्तव्य ※

स्तुतिसन्ध्योपासना को ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। स्तुति गुण गान को कहते हैं। ईश्वर के गुण गान से ईश्वर जैसे गुणों का स्वभावतः उदय स्तुति करने वाले में होने लगता है। ईश्वरीय गुणों के गाने से मनुष्य का मन धीमे २ ईश्वर की ओर खिंचता है। उपासना, समीप बैठने को कहते हैं। सांसारिक उलझनों में फंसे रहने से मनुष्य का मन स्थिर नहीं रहता, इष्ट पदार्थ तक पहुंचना उसे कठिन हो जाता है। ऐसा चंचल मन ईश्वर जैसे गुह्य विषय के चिन्तन से भाग २ कर विषयान्तरों में जाता रहता है। अतः सन्ध्या और उपासना मन्त्रों द्वारा हम कुछ विचार-धारायें इस प्रकार की उत्पन्न करते हैं कि मन भिन्न २ विषयों से ईश्वर की ओर लौटाया जा सके। बार २ के अभ्यास से मन और बुद्धि, सात्विक (प्रकाशमय) भक्ति और ज्ञान का आश्रय लेने लगते हैं। यही मनुष्य का ईश्वर के समीप ठहरना अर्थात् ईश्वर की उपासना है, क्योंकि जीवों के प्रति स्नेह और ज्ञान यह दोनों ही ईश्वर के गुण हैं।

एकान्त शुद्ध स्थान में कुछएक मिनट टहल कर अथवा उपवन, नदी, तीर, अरण्य, गुफ़ा, व पर्वत स्थान में प्रातः, सायं

वा अन्य किसी भी समय, प्राकृतिक दृश्यों के सुखद, दिव्य, तथा मनोहर अनुभव को मन में लाओ। फिर बैठ कर उस अनुभव को, अर्थात् सुख की प्रतीति को मन से त्याग कर उस सुख के अन्तःतल में मन को ठहरने दो, सुख को अलग खड़ा रक्खो। क्षणमात्र निज सत्ता में ठहरो—तुरन्त सुख के ठीक परली ओर निज सत्ता के अन्तःपटल में एक कल्पनातीत अदृश्य ईश्वर के प्रति मानसिक प्रणाम करो। बार २ सुखद अनुभव को, प्राकृतिक दृश्यों से कभी मन्त्रार्थों से, संगृहीत करो। तथा उन्हें मानसिक झटके से बार २ अलग खड़ा करके अपना दृश्य बना लो मानों सुख तुमसे अलग तुम्हें दिखाई देता हो। धीमे २ सुख भाव विलीन होने लगेगा, तभी निज सत्ता में ठहर कर ठीक परली ओर सुखद अनुभव तथा निज सत्ता में व्याप्त अन्तःतल स्थित, अदृश्य कल्पना अतीत ईश्वर को मानसिक प्रणाम प्रेमपूर्वक करो। इसी प्रकार दिन भर की चिन्ताओं और दुःख के भावों को संगृहीत कर अलग खड़ा करके उन्हें, स्वयं तटस्थ होकर, इकट्ठे रूप में देखो, तथा ठीक परली ओर ईश्वर को पूर्ववत् प्रणाम करो।

सात्विक, राजसी, तथा तामसी—प्राकृतिक गुणों के प्रति हमारी अनुकूल व प्रतिकूल वृत्तियों का उदयमात्र, सुख दुःख हैं। अतः दोनों को समभाव से अपने से पृथक् देखो, तथा ठीक परली ओर, गाढ़तम अन्धकार में, जहाँ कल्पना नहीं रहती—एक क्षण स्थिर रह कर—अदृश्य को प्रेमपूर्वक अपना

स्वामी, पिता, माता, पत्नी, भ्राता, पुत्र आदि प्रत्येक रूप में तथा अनेक रूप में वरण करो। यदि अदृश्य में मानसिक भक्ति से इष्ट को अलंकृत करो और अलंकार का, यदि कोई रूप, ध्यान में, दीखे, तो उसे सुखात्मक अनुभव मान कर, कल्पनागत, प्राकृतिक दृश्यमात्र समझो। अतः उसे भी झटके से अलग खड़ा कर दो और उसके परली ओर अदृश्य में, अन्तःतल में, निराकार ईश्वर के साथ सहचारी भाव से रहे आओ। उपासना का प्रारम्भ हुआ जानो।

उपासना मन्त्र, अर्थ और भावना के साथ ही, मन को ईश्वर तक पहुंचाने में सहायक तथा फलदायक होते हैं। मन्त्रों द्वारा उपासना, परम उत्कृष्ट तथा अनन्त रूपवाली—प्रत्येक मनुष्य के निज २ स्वभाव के अनुकूल भिन्न २ होती है। अतः मन्त्रों को निज दैवी सम्पत्ति जान कर, अपने अनुकूल, अनुभव में लाओ।

* ओ३म् की व्याख्या *

योग दर्शन समाधिपाद सूत्र २७–२८ में कहा है :—

"तस्य वाचकः प्रणवः",

"तज्जपस्तदर्थ भावनम्"।

अर्थात्—'ओ३म्' उस सर्वज्ञ ईश्वर की व्याख्या करने वाला नाम है। इस 'ओ३म' का जप, अर्थ और मानसिक अनुभव के साथ करना चाहिये।

छन्दोग्य उपनिषद् में लिखा है:—

'ओ३म्' इति एतद् अक्षरं उद्गीथं उपासीत्, 'ओ३म्' इति हि उद्गायति, तस्य उपव्याख्यानम्…स एष रसानाॐरसतमः परमः॥ (छां० प्र० १ खं० १ मन्त्र १–३)

'ओ३म्' यह अक्षर—अविनाशी ब्रह्म का द्योतक है। यह उद्गीथ है—इसी का उच्च स्वर से गान किया जाता है। इस 'ओ३म्' की व्याख्या ऐसे जानों कि 'ओ३म्' ब्रह्म ही "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, औषधि, पुरुष, शरीर, वाणी, ऋक् (ज्ञान), तथा क्रम प्राप्त 'साम' अर्थात् उपासना" इन सब आनन्दवर्धक रसों में अन्तिम रस है। यही सबसे सूक्ष्म रसों का भी रस है।

ओ३म्—"अ, उ, म, ~" इन चार मात्राओं का समुदाय,

चतुष्पाद् ब्रह्म अर्थात् अविनाशी ब्रह्म की चार कलाओं की उपासना का साँकेतिक शब्द है। 'ओ३म्' का जो अर्थ मांडूक्य उपनिषद् के आधार पर मिलता है तथा जिसके अनुसार, 'ओ३म्' की चारों मात्राओं का जो योगी उपासना द्वारा, ब्रह्म के चार पाद-स्वरूप, चार अवस्थाओं में साक्षात् करता है—उसका विस्तृत सविस्तार वर्णन आगे नक्शे में देखें।

'ओ३म्' की उपासना हेतु—अ, उ, म, ~ इन चारों पादों के विवेचन को ध्यान में रख लेना अति आवश्यक है। जागृत अवस्था में जो कार्य होते देखे सुने जायं, उनका सदा आदि मूल ईश्वर को जानना 'अ' की उपासना होगी। इसी प्रकार सूक्ष्म परमाणुओं में सूक्ष्म क्रियाओं के आधार का, मंत्र व बुद्धि द्वारा ध्यान 'उ' की उपासना होगी। गहन सुषुप्ति में नित्य हम 'म' रूप ब्रह्म से साक्षात् करते हैं। योगीजन अहंकार आदि अन्तः करणों को शान्त वाहिता रूप में देख 'म' रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं। उपासना मानो, ईश्वरीय गुणों का अति समीप से अनुभव करना है, और तद्गुण अनुरूप बनने के हेतु स्तुति, सन्ध्योपासना का विधान है।

॥ ओ३म् ॥

अथ आचमन मन्त्रः,

**ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ १ ॥**

(ओ३म्) हे विराट् स्वरूप, हिरण्यगर्भ, विज्ञानमय, आनन्द दाता प्रभो, (देवीः) आपकी दिव्य शक्तियें जो इस प्रकृति में व्याप्त हैं तथा कुँडलिनी शक्ति* (नः) हमारे हेतु (शम्) सुख शान्ति की देनेवाली (भवन्तु) हों। (आपः)† यह अन्तरिक्ष में गमन करने वाले पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, जल, वायु, अग्नि, विद्युत, किरण, आदि तथा इस पृथ्वी पर उपलब्ध जल धारायें व हृदयाकाश से उदित ज्ञान धारायें और हमारे मानसिक विचार तथा सत्कर्म आदि;‡ (अभिष्टये पीतये भवन्तु) इष्ट पदार्थों की प्राप्ति करावें (शंयोः)¶ तथा भय रोग आदि दूर करके (नः अभिस्रवन्तु) हमारे चारों ओर (अपने २ दिव्य गुण ऐश्वर्य सहित) सुख तथा शांति की वर्षा करें।

---

* केनउपनि० (३–१२); † निघंटु (१–३), (१–१२), नि० दै० (१२–४–३५); ‡ उ० को० (४–२०८); ¶ नि० नै० (अ० ४ पाद ३ खंड २१)

मन्त्र सम्बन्धी विचार धारा:—

(शम्) सुख की खोज में अहो, प्राणीवर्ग भटक रहे हैं। स्थूल विषयों से सुख की (अभिष्टये) अभिलाषा बुझती नहीं। यदि सुख मिलता भी है तो स्थूल विषयों का विनाश और उनकी परिमितता उलटा क्लेश देने लगते हैं। सन्तोष भी नहीं होता। जो सूक्ष्मतर आनन्द निरन्तर अमर, शीतल सुगन्ध समीर, वा नदी तीर पर जलधारा से मिलता है वह स्मृति में तो स्थायी दीखता है। अतः सुख हेतु, हे प्रभो, स्थूल पदार्थों को त्याग कर, हम आपकी (देवी आपः) दिव्य बहती हुई शक्तियों का वरण करते हैं जो प्रेमानन्द रूप रस पीने का (नः) हमें सुलभ अवसर देती हैं। हमारी इच्छायें क्यों न पूर्ण होंगी यदि हम आपकी दिव्य, अनन्त जीवन रस, की धाराओं को सुख प्राप्ति हेतु वरण करें। अहो वाह्य संसार में—यहाँ मेरे इस शरीर में—मेरी समस्त इन्द्रियों में ही तो—यह जीवन रस का प्रवाह बह रहा है। सुख दुःख वाह्य संसार के वाह्य संसार में रहे आओ परन्तु मुझमें तो सुख का श्रोत ही बह रहा है। विषय शरीर के वाहर रहे आनन्द तो मेरा ही था, मुझमें ही उदय हुआ था। हे प्रभो आपकी (देवी) दिव्य शक्तियाँ यहाँ इस शरीर में ही, मेरे मन में ही, मेरी आत्मा में ही (अभिस्रवन्तुनः) सुख वर्षा कर रही हैं। केवल मेरी इच्छायें व्यर्थ वीचमें कूद कर उस सुख को ढक लेती हैं। क्यों न मेरी इच्छायें स्थूल वाह्य विषयों से हट जावें ताकि मेरा मन तद्बन्धन से छूट कर सुखधारा से स्रावित रहे। भला यदि मन वाह्य विषयों पर

भागता ही है, तो फिर यह बाह्य विषय—मेरी अभिलाषाओं के ध्येय (आपः) विस्तृत हों, एक देशीय न हों, अनन्त में ग्राह्य हों, फिर तो, बाह्य और भीतरी, विषय और मन, दोनों का अनन्तता में मेल होगा ही। आपकी दिव्यता ही तो अनुभव में आयेगी। मैंने आज सुख की अभिलाषा हेतु, इस ब्रह्म यज्ञ में, (देवीः) दिव्य शक्तियों का, चाहे वह बाह्य प्रकृति में हों, अथवा शरीरस्थ इन्द्रियों में हों, आह्वान किया है। अतः जो विकार, नश्वरता, थकान आदि, सुख से मुझे वंचित करते रहे हैं इन्हें दूर करूँ। पवित्रता और अमरत्व आओ, प्रथम मेरी इन्द्रियों को दिव्य बनाओ। इस शरीर में, इन इन्द्रियों को ही तो मैंने सुख का साधन जाना है। आओ इनकी सहायता से किंचित्, विश्व की विभूतियों का साक्षात् करें। वह बाह्य और आन्तरिक विभूतियाँ ही तो सुख की वर्षा करेंगी। सुना है 'ओ३म्' तू ही इन दिव्य शक्तियों का आधार और स्रोत है, तेरा साक्षात् ही तो इन्हें भी सुलभ कर देता है। अतः चलें, पग २ करके, ब्रह्म दर्शन की ओर, जिस से सांसारिक भय दूर हो और शान्ति का विस्तार हो।

इस मन्त्र 'शन्नो देवी' द्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक तीनों दुःखों की मानों शान्ति कर, ३ बार आचमन करने के उपरान्त, शान्ति रस का पान करते हुए, यश और बल की प्राप्ति के हेतु अङ्ग स्पर्श द्वारा, अब मानसिक भावना जाग्रत करते हैं।

—❀—

अथ अङ्ग स्पर्श मन्त्राः

ओ३म् वाक् वाक् । ओ३म् प्राणः प्राणः । ओ३म् चक्षुः चक्षुः । ओ३म् श्रोत्रं श्रोत्रम् । ओ३म् नाभिः । ओ३म् हृदयम् । ओ३म् कण्ठः । ओ३म् शिरः । ओ३म् बाहुभ्यां यशोबलम् । ओ३म् करतल करपृष्ठे ॥ २ ॥

वाणी-रसना, दोनों नासिका छिद्र, दोनों चक्षु व श्रोत्र, नाभि, हृदय, कण्ठ, शिर, दोनों बाहु, तथा हथेली और हाथ का पृष्ठ भाग—इन अङ्गों में मानसिक क्रिया द्वारा बल संचार करो। उपरोक्त मन्त्रों सहित भिन्न २ अङ्गों का स्पर्श करते हुए, यह भाव रहे कि इनका प्रयोग हमें यश और बल का देने हारा हो।

—:o:—

अथ मार्जन मंत्राः

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि । ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः । ओ३म् स्वः पुनातु कंठे । ओ३म् महः पुनातु हृदये । ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम् । ओ३म् तपः पुनातु पादयोः । ओ३म् सत्यं पुनातु पुनः शिरसि । ओ३म् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

—:o:—

(इस मन्त्र से सिर पर जल डालना)

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि ।

अर्थ–'भूः' प्राण स्वरूप परमात्मा शिर में पवित्रता उत्पन्न करे।

भावना :—

जिस प्रकार प्राण वायु रक्त से सम्बद्ध हो अग्नि उत्पन्न करता है, तथा अन्नादि को पचा कर शरीर का पालन करता है, वैसे ही इस विश्व का प्राण (भूः)* वह परमपिता 'ओ३म्' परमात्मा है, वही इस चराचर जगत को पालन, पोषण, और धारण करता है। तदनुकूल हमारे शिर में भी यह पवित्र विचार उदय होते रहें कि हम निज बल, बुद्धि, और उद्योग द्वारा, अपना और अपने आश्रित जगत का पालन करें।

—:o:—

(इस मंत्र से नेत्रों पर जल छिड़कना)

ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः।

अर्थ—भुवः मल दोष विकार दूर करने के हेतु, ईश्वर की कृपा से, हमारे नेत्रों में पवित्रता हो।

भावार्थ :—

भुवः* (अन्तरिक्ष) सब जगत की शुद्धि का स्थान है। भुवः (प्रजापति)†—वृद्ध, रोगी और जीर्ण शरीर को नष्ट कर नव जीवन प्राणी को देता है। भुवः* (अपान वायु) शरीर से मल को दूर

---

* तैत्ति॰ उप॰ वल्ली १·अनुवाक ५–६।

† 'भुवः' प्रजापति-प्रजाम् अजनयत्। श॰ २–१–४–१३।

कर उसे शुद्ध करता है। इसी प्रकार, हे प्रभो, आप उत्पत्ति और विनाश के हेतु हैं, आपकी कृपा से शुभ और अशुभ विषय हम ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं—उनमें से मन द्वारा अशुभ विषयों का त्याग करके और शुभ विषयों का ग्रहण करके, पवित्र आचरण करते हुए, हम नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों को सफल करें।

—:o:—

(इस मंत्र द्वारा कंठ से जल लगावें)

ओ३म् स्वः पुनातु कण्ठे।

अर्थ—स्वः* सुख स्वरूप परमात्मा कंठ को पवित्र करे।

भावार्थ:—

परमात्मा ही सुख स्वरूप है; वही निज विभूतियों से साँसारिक पदार्थों को हमारे प्रति सुख मय बनाता है। इधर कंठस्थ वायु ही, तड़ित होकर हमें भिन्न २ शब्दों के बोलने में समर्थ करती है। एतदर्थ हमारी वाणी मधुर हो, सब को सुखमय प्रतीत हो। हमारे कंठ में, सब जगत के मूल कारण सुख स्वरूप 'ओ३म् स्वः' परमात्मा का जप होता रहे। यही कंठ की पवित्रता है।

—:o:—

(इस मंत्र से हृदय से जल स्पर्श करें)

ओ३म् महः पुनातु हृदये।

* तैत्ति० उप० वल्ली १ अनुवाक ५–६।

अर्थ—वह महान (महः) †परमात्मा हृदय को पवित्र करे।

भावार्थः—

ईश्वर की महानता ने इस जगत को अतिक्रम किया हुआ है। उसकी महत्ता को ध्यान में रख हमारा हृदय (संकीर्ण) संकुचित पथ में न रहे। विशाल क्षेत्र में उसकी कृपा से, हमारा आत्मिक बल—हमें, निज कर्त्तव्य पालन हेतु अग्रसर करे। "क्षौद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ परन्तप"*—हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर, हे परं तपस्वी जीव तू उठ, और विशालतर क्षेत्र में अपने कर्त्तव्य का पालन कर।

—:o:—

(इस मंत्र से नाभि कुन्ड में जल स्पर्श करे)

ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम्।

अर्थ—सृष्टि का उत्पादक, पिता परमात्मा, नाभि को पवित्र करे।

भावार्थः—

नाभिकेन्द्र, छोटी अन्तड़ियों द्वारा रस, रक्त, वीर्य आदि की उत्पत्ति का स्थान है। जिस प्रकार इस जगत को उत्पन्न और नष्ट करते हुए परमात्मा सदा शुद्ध और निर्विकार रहता है, उसी भांति सात्विक अन्न रस और वीर्य से, अंगों को पुष्ट कर हम, भी सात्विक आहार विहार और पवित्र आचरण सदा किया करें;

† तै० उप० वल्ली १ अनु० ५-६। * गीता अ० २ श्लोक ३।

और संसार में रहते हुए भी संसार के बन्धनों में न फँसें।

—:o:—

(इस मंत्र से दोनों पैरों से जल स्पर्श करें)

ओ३म् तपः पुनातुः पादयोः।

अर्थ—तपोमय परमात्मा (तपः) दोनों पैरों में पवित्रता करे।

भावार्थ :—

ईश्वर का ज्ञानमय ही तप है। उसने ज्ञानमय तप द्वारा ही, जीवों की मुक्ति हेतु, यह सृष्टि रचना की है। तदनुकूल ज्ञान पूर्वक परोपकार और कर्त्तव्य पालन‡ हेतु, हम भी सदा उद्यत रहें। हमारे पैरों में बल हो। निज पैरों हम खड़े हों, तथा निज अभीष्ट सिद्धि और अन्यों के कल्याण हेतु, हम सदा बुद्धि पूर्वक कार्य करने के हेतु तत्पर हों। निज सामर्थ्य से सब का कल्याण करें।

—:o:—

भूः (पालन), भुवः (शुद्धि), स्वः (सुख रूप), महः (महान), जनः (उत्पादक), तपः (ज्ञानमय क्रिया का स्रोत), इन छः ईश्वरीय गुणों का आह्वान करते हुए, हमने तद् गुणानुकूल इस लोक में सुख प्राप्ति हेतु व्यवहार करने का निश्चय किया। अब इस नश्वर जगत में, 'सत्य अनुभव द्वारा, सत्य-स्थिर-उस पर ब्रह्म की प्राप्ति, और सत्य—अक्षय सुख की प्राप्ति हो' इस हेतु,

‡ तै० उ० वल्ली १ अनुवाक ६।

अन्तिम ध्येय 'सत्य' द्वारा शिर की पवित्रता की पुनः प्रार्थना करते हुए शिर से पुनः एक बार जल स्पर्श करें।

ओ३म् सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ।

अर्थ—सत्य स्वरूप परमात्मा शिर को फिर पवित्र करें।

सत्य स्वरूप ब्रह्म ही इस जगत को भिन्न भिन्न रूप से पालन करता, विनाश करता, सुखमय बनाता, महान् बनाता, तथा नित नई सृष्टि रचता और जीवों के कल्याण हेतु प्रकृति को क्रिया शील बनाता है। एतदर्थ शुभ आचरण करते हुए हम भी सत्य विचारों को जन्म दें; उन कार्यों का ही सम्पादन करें जो सदा स्थिर सुख के देने हारे हों।

(इस मन्त्र से सब शरीर पर जल छिड़कना)

ओ३म् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

अर्थ—आकाश के समान व्याप्त ब्रह्म सब जगह पवित्र करे।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश सर्वत्र व्याप्त, समस्त जगत को धारण करता है, एवं ब्रह्म भी इस चराचर सृष्टि को निज व्याप्ति द्वारा उत्पन्न ❀ तथा धारण करता है। वही ब्रह्म-शक्ति सर्वत्र प्रतिभासित होती है। उस ब्रह्म-शक्ति का सर्वत्र दर्शन ही विकारों को दूर और मन को निर्मल करता है। मुक्त जीव सर्वत्र विचरण करते इसी "खं ब्रह्म" ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करते हैं।

❀ व्याप्ति—निजशक्ति उद्भवम्-आधेय शक्तियोगः । सां० ५-२९ ।

प्राणायाम

योगदर्शन में कहा है कि "प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य"। प्राण वायु‡ (श्वास वायु) के बाहर निकालने तथा भीतर रोके रखने से मन एकाग्र होता है। योग के आठ अङ्गों में से प्राणायाम भी एक अङ्ग है। वस्तुतः प्राणायाम का अर्थ 'प्राणशक्ति' का वश में करना है। प्राणशक्ति इस शरीर में "प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान" पंचधा वर्तमान है। कोई कोई आचार्य प्राण के पाँच और भेद बतलाकर १० प्राणों का वर्णन करते हैं। वे शेष पाँच प्राण यह हैं—देवदत्त (Sensation) धनंजय (Motor), कृकल (कंठ), कूर्म (कश्यप-ज्ञान सम्पादक), नाग (कुण्डलिनी), जिसने प्राण शक्ति को वश में कर लिया उसके अपरिमित बल और ऐश्वर्य का क्या ठिकाना—ब्रह्मचर्यादि यम नियम यदि साथ में पालन किये हों, तो मनुष्य का इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण निश्चित ही है। योग दर्शन में संकेत मात्र, केवल इतना भर कह दिया है कि, श्वास प्रश्वास की गति रोकने से मन एकाग्र होता है। इतना कह कर 'प्राणायाम'—प्राण को किस प्रकार वश में किया जावे—इस विषय को गुह्य रहस्य जान कर स्पष्ट नहीं किया है। ठीक ही है, असंयमी, तामसिक आहार विहार युक्त, अधिकतर प्राणी यदि प्राणायाम

‡ यो० द० पाद १ सूत्र ३४।

जैसी रहस्यमयी क्रिया को करने लगें, तो वे अपना नाश ही कर डालें। एतदर्थ, यह विद्या, केवल स्वाध्यायरत, सदाचरणयुक्त, मुमुक्षु जनों के हित उपादेय है। अतः, सात्विक आहार विहार और यम नियम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर भक्ति)—इन व्रतों का जो पालन करते हैं, उन्हें ही प्राणायाम की गूढ़तम क्रियाओं में प्रवेश करना चाहिये। साधारण क्रिया तो सभी कर सकते हैं। पाठकों के लाभ हेतु, साधारण क्रिया तथा विशेष क्रिया साँकेतिक रूप में, दोनों ही हम यहाँ लिख देते हैं। विशेष क्रिया द्वारा कम से कम योगी को ब्रह्म की अनन्तता, महद् ऐश्वर्य और अनन्त विभूतियों की किरण मात्र का आभास मिलता है, एतदर्थ हम यहाँ उसे भी कुछ कुछ लिखेंगे। तथापि यह ध्यान रहे कि प्राणायाम की विशेष क्रियाओं से प्रबल विद्युत् वेग का शरीर में आक्रमण होता है जो उसे धारण करने में यम नियम, जैसे बल से समर्थ हों वे ही उधर जाने की हिम्मत करें, अन्यथा हानि संभव ही नहीं, अनिवार्य है।

प्राणायाम की साधारण क्रिया

चार साधारण क्रिया हैं, (१) रेचक, (२) पूरक, (३) वाह्याभ्यंतर वृत्ति), (४) निरोध परिणाम।

१. रेचक—नाभि के निम्न भाग को ऊपर कुछ आकर्षित कर प्रश्वास को धीमे २ बाहर जाने दो (निकालो मत)—यदि

प्रश्वास के होते हुए शब्द पर 'ओ३म्' का अनुमान करते हुए अथवा 'ओ३म् भूः' सहित प्रश्वास पर, यदि ध्यान रखा जावेगा तो पूर्ण प्रश्वास वाहर निकल जावेगा। फिर फेफड़े में रिक्त स्थान में हलकी गर्मी का अनुमान कर उसे रक्त प्रवाह के साथ २ सारे शरीर में थके हुए अंग भाग को पुनर्जीवित करते हुए अनुभव करते रहो। किसी भी रोग ग्रस्त अंग में, ध्यान सहित, इस फेफड़े की गर्मी को, जो रक्त में श्वास वायु के संयोग से उत्पन्न हुई थी—जाने दो —उसे 'भूः' प्राणशक्ति पुनर्जीवित कर रही है। रेचक प्राणायाम समाप्त हुआ—इसमें संख्या का (काल निश्चित करने हेतु) कोई २ विधान करते हैं, पर वह ध्यान में बाधक है। हाँ, प्रारम्भ में प्राणायाम के समय को बढ़ाने का अभ्यास करने के हेतु भले ही इस संख्या के नियम से श्वास बाहर रोके रहें। ध्यान पूर्वक 'भूः' के अर्थ सहित, प्रश्वास और प्राणशक्ति पर संयम करने से प्राणायाम का समय स्वयमेव बढ़ता है। सुख पूर्वक जब श्वास की लेने की इच्छा उठे तभी रेचक समाप्त होगया। श्वास को धीमे धीमे आने दो 'कुम्भक वा पूरक' प्राणायाम प्रारम्भ हो गया। प्रश्वास की पूर्णता तक 'ओ३म् भूः' की केवल एक आवृत्ति का रेचक में अभ्यास डालो। फिर जब फेफड़े में स्थित 'गर्मी'—प्राण, पर ध्यान हो तो "ओ३म् भूः" का उच्चारण न हो केवल इस गर्मी-प्राण द्वारा "ओ३म् भूः" का—परिपालन आदि रूप क्रिया का साक्षात् अनुभव करो। प्रश्वास वा श्वास वायु को प्राण नहीं कहते—यह वायु तो उस

फेफड़े में उत्पन्न होने वाली गर्मी तक आपको पहुंचा देगी वह गर्मी ही आप का ग्राह्य 'प्राण' है। इसी गर्मी की गति को पहिले होता हुआ विना प्रयत्न देखते रहो, यह ही "ओ३म् भूः" का साक्षात अनुभव भी प्राप्त करावेगी। धीमे धीमे इसकी गति विधि पर ध्यान देते २ आपका मन भी एकाग्र होगा और शीघ्र ही यह (गर्मी) प्राण स्वयमेव आपके हाथ में—अर्थात् वश में हो जायगा। यह गर्मी ही, अन्न का उदर में, रक्त संचार के साथ २, पाचन करती है अतः 'रेचक' इस प्राणायाय का नाम है।

२. पूरक वा कुम्भक प्राणायाम

सुख पूर्वक श्वास को धीमे २ "ओ३म् भुवः" के साथ भीतर फेफड़े में आने दो। मुख से वा कण्ठ से, वा मन से भी, निज प्रयत्न से, 'ओ३म् भुवः' का उच्चारण नहीं किया जायगा। वरंच, श्वास भीतर आते हुए—मानों 'ओ३म् भुवः' यह नाद हो रहा है—इस भाँति सुना जायगा। श्वास के नाद पर अथवा जिस श्वास नाली के स्थान विशेष पर श्वास वायु स्पर्श कर रहा है, वहाँ, उस श्वास के नाली के उस स्पृश्य स्थान विशेष पर ही, मन को लगाये रहने से श्वास आता ही आता चला जायगा। साधारण श्वास से लगभग दूना वायु फेफड़े तथा उदर को पूरा २ भरता जायगा। पूर्ण होने से कुछ पूर्व, श्वास का आना बन्द हो जावे तब "ओ३म् भुवः" का "रक्त शुद्धि रूप" साक्षात् जो फेफड़े में कार्य हो रहा है उस कार्य में मन लगाओ। जो गरमी फेफड़े में

रक्त के अन्न भाग और श्वास वायु सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न हो रही है वह 'भूः' प्राण रूप से रक्त में जा रही है। परन्तु अन्न भाग का भस्मीभूत परिणाम-दूषित वायु फेफड़े में बनता जा रहा है। इसे बाहर फेंकने का प्रयत्न भीतर हो रहा है। मल के पृथक होने में अपान वायु का कार्य है। मल को थके अंग भाग से रक्त में फेंकना सर्वत्र शरीर में हो रहा है। प्राणवायु (Oxygen) को फेफड़े में आया पाकर, दूषित रक्त का फेफड़े में चारों ओर से खिंच कर आना अपान वायु है। अतः फेफड़े में दूषित रक्त से युक्त जो प्रेरणा उस मल के निवारण हेतु आ रही है वह प्राण का दूसरा रूप अर्थात् अपान है। यदि श्वास बाहर अधिक रोका जावे तो शरीर में घबराहट पैदा होती है मानों भीतर से पम्प द्वारा वायु बाहर निकाली जा चुकी हो और रिक्त स्थान में वायु खिंच रही हो। यह खिंचना ही 'अपान' प्राण का रूप है। श्वास न मिलने पर दम घुटना— रक्त में दूषित और अन्न भाग की बहुलता के कारण होने लगता है, यही 'अपान' मृत्यु है—'भुवः' है। रिक्त स्थान में, वायु को खींचने का अर्थात् रक्त शुद्धि के हेतु जो प्रयत्न 'फेफड़े' में हो रहा है, वही अनुभव से देखो 'ओ३म् भुवः' का यही जप है। उच्चारण 'ओ३म् भुवः' का न करें अपान वायु की क्रिया को होते देखें। यही अर्थ सहित 'ओ३म् भुवः' की भावना पूर्ण उपासना है। यह 'घबराहट' जैसा अपान प्राण का कार्य फेफड़े में संचित दिखाई दिया है। वास्तव में अंग प्रत्यंग में, शुद्ध

रक्त में, दूषित तथा नष्ट भ्रष्ट थके हुए अंग-मल का गिर कर फेफड़े में खिंच आना रूप, अपान वायु का कार्य निरन्तर हो रहा है; स्थान २ पर उसे होते देखो। अपान वायु से तड़ित श्वास वायु को बाहर फेंकना, उदान वायु का कार्य है। सम अवस्था का अंग प्रत्यंग में धारण होना वा शुद्ध होने पर रोम-हर्ष, यह समान व व्यान वायु के कार्य हैं। इस प्रकार पूरक वा कुम्भक समाप्त हुआ। क्रमशः श्वास बाहर फेंक 'ओ३म् स्वः' तथा पुनः भीतर खींच 'ओ३म् महः' के अनुभव के साथ रेचक व कुम्भक का अभ्यास करो। भूः, भुवः, स्वः महः, जनः, तपः, सत्यम्—इन व्याहृतियों के अर्थ, प्राणायाम में प्रयोग हेतु, आगे दिये हैं वहाँ से लेना—

रेचक वा कुम्भक में स्वयं दृष्टा बन कर होती हुई क्रियाओं को ध्यान से देखना उत्कृष्ट है, स्वयं प्रयत्न करना हेय है। इस प्रकार करते २ प्राणायाम का अभ्यास बढ़ता है—मन विचलित न हो कर एकाग्र होता है। प्राण शक्ति पर भी धीमे २ कुछ अधिकार होने लगता है।

—:o:—

बाह्याभ्यन्तर वृत्ति और निरोध परिणाम प्राणायाम

बाह्याभ्यन्तर वृत्ति और निरोध परिणाम — प्राणायामों में—बाहर जाती श्वास को जाने न देना, तथा भीतर आती

श्वास को आने न देना बाह्याभ्यन्तर वृत्ति है। तथा किसी भी श्वास-प्रश्वास की अवस्था में, अचानक यथावत् रोक कर, श्वास व प्रश्वास की होती हुई गति को तुरन्त बन्द कर, आगे न होने देना, निरोध परिणाम प्राणायाम है। यही गीता में कहे, प्राण की अपान में तथा अपान की प्राण में * आहुति देना है, और प्राण-अपान की गति का रुद्ध करना है। इस अभ्यास को सुख पूर्वक करने के हेतु, प्राण और अपान इन दोनों का शरीर, में साक्षात् अनुभव अति सहायक होता है, क्योंकि रोकने का क्रियात्मक युद्ध, नासिका छिद्र में अति कठिन तथा प्रयत्न का परिणाम होने से, हेय है। यदि जहाँ प्राण-अपान उदय हो रहे हैं, वहीं मानसिक ध्यान द्वारा उनको अनुभव किया जावे, तथा तैजस परमात्म विभूति में मन को रोक लिया जावे, तो यह प्राण की प्राण में आहुति देना रूप यज्ञ † है। इस क्रिया से धौंकनी जैसे युद्ध की आवश्यकता नहीं रहती। विशेष अभ्यास से यह क्रिया सुगम हो जाती है। मन तुरन्त शान्त होने लगता है। और इन दोनों क्रियाओं के फलरूप, प्राणायाम का समय अति अधिक होकर, दीर्घ काल तक ध्यान सुलभ हो जाता है। इस क्रिया को दूसरी प्रकार से सरल करने का उपाय विशेष प्राणायाम की क्रिया के व्याख्यान में आगे लिखेंगे। यह विशेष क्रिया, केवल यम नियम के अभ्यासी, सदाचारी, सात्विक

---

* गीता अध्याय ४ श्लोक २९

† गीता अध्याय ४ श्लोक ३०

आहारी, उपासक करें।

—:o:—

प्राणायाम का रहस्य और विशेष क्रिया

श्वास प्रश्वास की रस्सी के सहारे चल कर, प्राणरूप सूक्ष्म तेज के, गाढ़तम-रहस्य भरे क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है। पहिले नासा छिद्र में होकर जो श्वास आता जाता है, उस पर ध्यान दो। समभाव से आते जाते श्वास को देखते रहो। केवल ओ३म् की आते जाते ध्वनि अनुमान करो। नासिका की नाली के जिस भाग पर श्वास छूता है, उसे अनुभव करो। फिर भिन्न २ नासिका नाली के प्रदेशों पर श्वास वायु को छूता हुआ अनुभव करो। अभ्यास के लिये भिन्न २ गन्ध लेकर नासिका प्रदेश के कौन २ भाग पर कौन २ गन्धवायु छूता है यह अनुभव करके—उसी अभ्यास को स्मृति की सहायता से श्वास-प्रश्वास के समय—विना गन्ध की सहायता के दोहराओ। यहाँ तक ग्राह्य विषय अर्थात् दिव्य गन्ध सम्बन्धी सिद्धि का अभ्यास हुआ। अब जिस नासिका छिद्र में वायु चलता हो उससे विपरीत नासिका छिद्र में, केवल स्मृति की सहायता से विपरीत नासिका छिद्र के भिन्न २ भागों पर वायु स्पर्श का अनुभव करो। इस प्रकार शीघ्र ही जिस भी नासिका छिद्र से जिस स्थान पर इच्छानुकूल चाहें श्वास-प्रश्वास आ जायेगा। अब श्वास-प्रश्वास

की गतिको सम करो, फिर क्रमशः दाहिने बायें नासा छिद्र से स्मृति और स्पर्श के अनुमान पूर्वक, श्वास-प्रश्वास को क्रमित करो, कि, दायें फिर बायें, फिर दायें फिर बायें, नासा छिद्र से बार २ श्वास-प्रश्वास क्रमशः आवे जावे । इसी अभ्यास को पुनः दाहिने से श्वास ले प्रश्वास छोड़, फिर क्रमशः बायें नासा छिद्र से श्वास-प्रश्वास ले और छोड़ कर, बार २ दृढ़ करो । पुनः दोनों से सम श्वास प्रश्वास आने जाने दो । फलतः श्वास-प्रश्वास पर आपका इच्छा-स्वत्व प्राप्त होगा । अभ्यास दृढ़ हो जाने पर, श्वास-प्रश्वास रूप रस्सी को छोड़ दो । मन में दिमाग़ से ले मूलाधार तक रीढ़ की हड्डी को, विचार की गति का क्षेत्र बनाओ । मूलाधार को (श्वास गति में फेफड़े की भाँति) विचार का गन्तव्य क्षेत्र बनाओ; अथवा अधिक अच्छा हो यदि भ्रकुटी (नेत्र और नासिका के संयोग स्थान) को ध्यानगति का क्रीड़ास्थल बनाओ । प्रारम्भ में श्वास गति से, ध्यान की गति की समता करो । दाहिने श्वास प्रश्वास को—पिंगला नालिका में ध्यान की ऊर्ध्व अधोगति समझो । बाँये श्वास-प्रश्वास का इसी प्रकार सहचार ईडा नालिका के सहारे, ध्यान की ऊर्ध्व अधोगति से करो । श्वास-प्रश्वास पर से ध्यान हटा, ईडा व पिंगला के किनारे ध्यान द्वारा क्रमवार कभी दाहिनी ओर कभी बाईं ओर तो कभी ऊर्ध्वगति कभी अधोगति करते हुए अर्थात् अनेक रूप से, क्रम, समय, तथा समता पर ध्यान रखते हुए इस मनोगति का अभ्यास करो । दाहिनी

ओर से बाईं ओर वा बाईं ओर से दाहिनी ओर जाते समय मूलाधार के मोड़ पर घूम कर आओ जावो। इस प्रकार समक्रिया के अभ्यास के साथ साथ, श्वास-प्रश्वास, स्वयमेव, अधिकृत चलते रहेंगे, उन पर ध्यान देने की आवश्यकता न रहेगी। अब मूलाधार तक श्वास रूप गति ईडा पिगंला के दोनों ओर से—साथ साथ आने दो और दोनों को मूलाधार पर घूम कर दूसरी ओर से अर्थात ईडा वाली ध्यान गति को पिंगला की ओर से, तथा पिंगला वाली को ईडा की ओर से जाने दो। फिर इसकी विरुद्ध क्रिया करो। इन दोनों क्रियाओं का क्रम वार अभ्यास करो। पुनः मूलाधार तक दोनों ईडा पिंगला की राह श्वासरूप ध्यान गति को लाओ, और उसी मार्ग वापिस ले जाओ। यहाँ ध्यान योग्य बात यह है कि ऊर्ध्व गति में रिक्त स्थान के फैलने रूप * अनुभव को होने दो, तथाच ध्यान की अधोगति में रिक्त स्थान के भरने† का अनुभव होने दो। इस भाँति मूलाधार में वा त्रिकुटी में प्राणाग्नि में अपान रूप समिधा, एवं अपानाग्नि में प्राणरूप समिधा की आहुति द्वारा तेज प्रकट होगा। सम और क्रमशः गति, जो प्रत्येक उपरोक्त गतिक्रम में अभ्यास गत होती जावेंगी—ध्यान रूप मनोगति को, विद्युत् रूप में बदलती जावेंगी, जिसकी बैटरी त्रिकुटी व मूलाधार चक्र को जानो। यह बैटरी इतने मनोमय तेज से भर

* Wave of rarefaction

† Wave of compression

जायगी कि इसमें से विद्यूत् (चिनगारी जैसे रूप में)—कहीं भी झटक कर जाने के योग्य होगी। मूलाधार चक्र में, यदि रोहित-लाल वर्ण वाली, तेज अग्नि पर ध्यान दिया जावे, तो उसके केन्द्रीय अन्तः तल में, नीलमय तेज का पुंज प्रकट होगा। यदि इसमें मन को डुबकी दे दी जाय, कि वह इस तेज के अन्तः तल में जा बैठे, तो यह नील तेज रीढ़ की हड्डी के केन्द्रीय भाग सुषुम्णा नाल में उठकर—क़दम २ पर—भिन्न २ चक्रों पर, उछल कर पहुंचेगा। इस नील तेज का क्रमशः चक्र २ पर उछल कर पात होना, मानों उस केन्द्र को प्रज्वलित करना है। केन्द्र का प्रज्वलित होना, मानों केन्द्रस्थ विश्व और अन्तर्जगत की दिव्य अनन्त विभूतियों को प्रकाशित करना है। यहां संयम की आवश्यकता होती है, नहीं तो यह मूलाधार में बैठी उमा रूप प्रकृति की देवी (दिव्य शक्ति का भंडार) कुंडलिनी, तड़ित हो मनुष्य के जिस भाग पर भी गिरेगी, उसी अंग को झुलसा डालेगी। इसी भांति, पर इससे कम हानिकारक, त्रिकुटी को क्षेत्र मान कर मन की ऊर्ध्व-अधोगति का क्रमशः अभ्यास है। इस अभ्यास में कुंडलिनी के तड़ित व कुपित होने की आशंका कम है। किसी भी केन्द्र में प्राण वा विद्युत् का संयम अनोखे सूक्ष्म प्रकृति के खेलों को, स्फुट करता है। यह सिद्धि का मार्ग है। साधु चारी सज्जन ही केवल इसे अपनावें। भारी से भारी चमत्कार इस मार्ग में मिलते हैं, जो ईश्वर की दिव्यता में प्रगाढ़ श्रद्धा व भक्ति, साधूओं के हृदय में उत्पन्न करते हैं। साधु लोग

इन्हें बड़ा पावर हाउस समझ कर दूर रहते, सीधे २ ओ३म की राह चले जाते हैं। किंचित भी अज्ञानयुत पुरुष, चमत्कारों के उपवन में फँस, वासनाओं के शिकार बन, नष्ट हो जाते हैं; और पुनः जन्मजन्मान्तर के लिये ऐश्वर्य-मद-मोह-विषय जंजाल में अपने संचित योग-क्षेम को नष्ट कर लेते हैं। इति।

—:o:—

प्राणायाम के योग्य सप्त व्याहृतिओं के अनुभवजन्य अर्थ, भावना सहित।

"ओ३म् भूः" (ओ३म् भूः पुनातु शिरसि)

प्रश्वास के उपरान्त-प्राणवायु (औक्सिजन) द्वारा, फेफड़े में शुद्ध हुए रक्त का शरीर में संचार होता हुआ अनुभव करो, रक्त प्राणवायु से मिल कर, गरमी (अग्नि) का शरीर में संचार करता है, इस अग्नि द्वारा अंग-प्रत्यंग में बल उत्पन्न होता है। अतः तुम भी इस अग्नि-संचार द्वारा अंग-प्रत्यंग में नवजीवन उत्पन्न होते देखो। यह नवजीवन (प्राण) ही—जो एक रस रूप शरीर में, प्रश्वास के उपरान्त, बहने लगा है "भूः" प्राण स्वरूप ईश्वर है। इसके समीप मन को ठहराओ। विशेषतया शिर में प्रश्वास के उपरान्त जाते हुए शुद्ध रक्त से मस्तिष्क के थके अंग में नवजीवन आने दो। मस्तिष्क को ढीला छोड़ो। यदि सुविधा हो तो प्राणशक्ति की पालन रूप क्रिया का विवेचन इस सृष्टि में करो।

"ओ३म् भुवः" (ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः)

श्वास भीतर आने दो। दूषित रक्त फेफड़े में इकट्ठा हो गया है। वहां श्वास वायु (औक्सिसजन) से युक्त हो, रक्त का मल भस्म होकर पृथक हो रहा है। नेत्रों में मन को ठहराओ। नेत्रों को ढीला होने दो। शरीर में से मल को दूर होते अनुभव करो। निज कर्मों में से दोष को देखो। उस दोष को मन से दूर होने दो। ढीले नेत्रों में फिर शुद्ध मन को ठहरने दो। "भुवः" मृत्यु (नाश) है। भुवः ही अन्तरिक्ष में होने वाला वह ईश्वरीय नियम है, जो शुद्धि हेतु मल को दूर करता है। जैसे प्रश्वास की दूषित वायु का वृक्षों द्वारा शुद्ध होना। पृथ्वी में मूत्र पुरीष आदि को गला कर पौदों में अन्न का उत्पन्न होना। फेफड़े में भी यही शुद्धि की क्रिया हुई है। ग्राह्य विषयों में से दूषित (नश्वरता रूप) विषयों का त्याग—नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, संयमित मन की सहायता से होने देना चाहिये। विषयों के दोष का—ध्यान में—जब मन से त्याग हो रहा हो, तब ध्यानावस्थित पुरुष 'भुवः' रूप अन्तर्यामी परमात्मा का मानो साक्षात् कर रहा है—यह धारणा बलवती करो। 'भुव':-मृत्यु के उपरान्त—जीव भी 'भुवः'—अन्तरिक्ष में पूर्व जन्म के अनुभव द्वारा दुःखदायी संस्कार को त्याग सुख हेतु नयी योजना का अपने बचे हुए संस्कारों में से निर्माण करता है और तदनुकूल नया जन्म लेता है। भुवः ही अपान है भुवः ही मृत्यु है भुवः ही अन्तरिक्ष (ख़ाली जगह) है जहां प्राण (भूः) खिंच कर पोल (vaccum) के कारण जाता

है। योग दर्शन में कहा है—'जात्यन्तर परिणामः प्रकृति आपूरात्'* अर्थात् प्रकृति खाली स्थान को भरती है इस सिद्धान्त से फल यह होता है कि अन्य योनि में जन्म (पुनर्जन्म) होता है।

—:०:—

"ओ३म् स्वः" (ओ३म् स्वः पुनातु कण्ठे)

'भुवः' की उपासना के उपरान्त शुद्धि हुई। शुद्ध होकर मन में हर्ष बढ़ रहा है। मन को कण्ठ में एकाग्र करो। शरीर शुद्धि के उपरान्त, मानों, आनन्द-स्फूर्ति की मन्द २ लहरें शरीर में उठती हुई आप देख रहे हो। इन लहरों को स्वयमेव उदय होने दो। कोई आभ्यन्तर प्रयत्न न करो। श्वास बाहर जाने दो। कण्ठ में संयम करते हुए शुभ कर्तव्य-कर्म सम्बन्धी नव योजनायें विचार में, चाहो तो, आने दो। उनमें सुख की मात्रा का सन्तुलन करो। स्वः का कंठ में जप होने दो। वाणी से न बोला जावे। इस सुखमय (स्वः) परमात्मा के निराकार रूप को कंठ में धारणा द्वारा जाग्रत करो और वहीं ठहरे रहो। मन विचलित होने पर उपरोक्त प्रकार 'स्वः' का जप, सुख का उदय, शुभ विचारों द्वारा भविष्य निर्माण—शुद्ध हुए रक्त द्वारा नव जीवन संचार—ये सब क्रियायें फिर से होने दो। कंठ में मन एकाग्र करो। श्वास बाहर जाने दो। इस प्रकार तीसरा प्राणायाम (रेचक) कंठ में धारण ध्यान द्वारा पूर्ण करो। यदि अभ्यास

---

* यो० द० पाद ४ सूत्र २

हो तो सुख की अनुभूति में एकसार तन्मय हो समाधि लगाओ।

—:o:—

ओ३म् महः (ओ३म् महः पुनातु हृदये)

श्वास भीतर लो। हृदय में धड़कन, फूलना तथा संकोच व हृदय की आकुंचन और प्रसारण गति के साथ २ रक्त का जाना आना होता है। हृदय में जो स्थिर केन्द्र है वहाँ मन को ले जाकर ठहरा दो, मानों तुम स्वयम् केन्द्र में बैठे हुए हो और इधर उधर हृदय-भाग नियमित गति कर रहे हैं। 'महः' शब्द की ध्वनि कण्ठ से प्रथम उदय करके, हृदय में होती हुई सुनो और उस केन्द्र में जहाँ तुम ठहर गये हुए—एक छोटे वृत्त वाले आकाश की कल्पना करो। इसका रंग गहरा नीला वा काला अनुमान द्वारा प्रतीत करो। इस नील आकाश की तह में मन को बैठने दो। आकाश का वृत्त (महः) महान होने लगेगा उसकी महत्ता में मन को भी विचरने दो। यही महः की उपासना द्वारा चौथा प्राणायाम समाप्त हुआ।

—:o:—

ओ३म् जनः (ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम्)

महान् आकाश की हृदयस्थ तह में मन को रख कर श्वास को बाहर जाने दो। श्वास बाहर जाते समय इस प्रकार ध्यान में लाओ मानों नाभि का नीचे का भाग ऊपर खिंच रहा है। नाभि में मन को ठहराओ। 'महः' वाली महान् आकाश की

स्मृति को पुनः मन में लाकर यह अनुभव करो कि उस आकाश के परली ओर से जीवन रस की धारायें उदय हो २ कर आकाशस्थ विश्व वृक्षों को जीवन रस दे रही हैं। निज शरीर में भी नवजीवन देनेवाले रसों को रक्तविन्दु में स्थित 'महः' आकाश के परली ओर से वह कर आता हुआ अनुभव करो। नाभि को ढीला रहने दो—महः आकाश से परली ओर, जहाँ से जीवन रस उदय होकर आकाश तक आ रहा है—मन को ले जाओ—मन को परली ओर डूबने दो—बार २ उस जीवन रस के समुद्र की तह में उसे डूबते जाने दो वहाँ जीवन रस, स्निग्ध, हलका नीला, वीर्यमय उदय होकर वह रहा है। इन धाराओं में मन का ठहराना मानो 'ओ३म् जनः' की उपासना है। श्वास आने दो पाँचवां प्राणायाम् हो चुका।

—:o:—

ओ३म् तपः (ओ३म् तपः पुनातु पादयोः)

नाभि के निम्न भाग में, जीवन रस—स्निग्ध वीर्य रस रूपी स्रोत का, हम ने अनुभव किया है। गुदा तथा इन्द्रिय के मध्यवर्ती स्थान में रीढ़ की हड्डी के नीचे की नोक से आधा अंगुल नीचे मूलाधार चक्र है, वहां आकाश में मन को ठहराओ। श्वास को आने दो, साथ ही, बल-वीर्य ऊपर को रीढ़ की हड्डी की मध्य नालिका (सुषुम्णा) में मानो ऊर्ध्व गति करना चाहता है यह भावना करो। मूलाधार के गहन तम आकाश में तप पुंज है,

जहां से जीवन रस की 'जनः' लोक की धारायें प्रभावित हो रही हैं। इस मूलाधार के गहनतम आकाश में तपती हुई सौम्य, सुखद, शान्तिप्रद, परन्तु तेजयुत हलकी २ अग्नि की ज्वालायें उठ रही हैं। इस अग्निपुंज के केन्द्र में अतिकृष्ण गहरा नीला संचित विद्युत् तेज है। अतः प्रथम वहां अपने जीवन रस को बहाने वाली, संचित वासनाओं को ज्ञान-दृष्टि से देखो फिर उन वासनाओं के केन्द्र में जो स्थिर सुख प्राप्ति व खोज की अन्तः वासना छिपी हुई है उसे खोज कर ज्ञान दृष्टि के समक्ष लाओ। जीवन रस बहाने वाली संचित वासनायें मूलाधार में प्रज्वलित सौम्य अग्नि की ज्वालायें हैं इन वासनाओं की ज्वालाओं के केन्द्र में अति कृष्ण उपरोक्त संचित गहरा नीला तेज ही सुख प्राप्ति की अन्तः भावना है। अतः ज्वालामय वासना क्षेत्र को विलीयमान होने दो और ज्ञान-दृष्टि को सुख-प्राप्ति की (नील वर्ण) अन्तः भावना में मिला दो। केन्द्र में बैठ वासनाओं का त्याग होने दो, अथवा मूलाधार के गहनतम (संस्कार समुदाय रूप) अति कृष्ण नील पुंज की तह में—"निज ज्ञान-दृष्टि संकोच कर"—निराधार बैठते जाने का अथक आत्मिक श्रम होने दो। संस्कार और वासनायें तुम्हें बार बार प्रकृति तल पर ऊपर उठावेंगी उनकी तह में भारी बन कर आत्म-भार से तुम बैठते जाओ। फल यह होगा कि वासनामय तथा सूक्ष्म व स्थूल शरीर, निश्चेष्टसा तुम्हें पृथक् पड़ा दिखाई देगा—तुम, तप-पंज, तेजोमय क्षेत्र में, आत्मज्ञान के भार

सहित, गहरी डुबकी प्रकृति-समुद्र में ले रहे होंगे। यह गहरी डुबकी ही, आत्मा के निज वृत्त में, ज्ञान और तपोबल सहित उठना है। तपोबल और ज्ञान-तेज वासनाओं को दग्ध कर, उन वासनाओं को विलीयमान बना कर, आपको वासनाओं से छुड़ा कर—निराधार बनाने में सहायक हैं। वासनाओं की लाल रंग की ज्वालाओं के अन्तः तल में, सुख प्राप्ति की अन्तः भावना रूप नील तपोमय पुंज है। इस स्थिति से आगे—अर्थात् वासनाओं के केन्द्रीभूत—सुख की अन्तः भावना (तपः) के क्षेत्र से, आत्मिकक्षेत्र में अर्थात्—'सत्यम्' में आपकी गति होगी।

आत्मज्ञान भार से आप अन्तः सुख भावना 'तपः' के बाह्य-प्रकृति उन्मुख-द्वार को छोड़ कर अन्तः सुख भावना के आत्मोन्मुख द्वार पर खड़े अपने को पायेंगे। अब यहाँ से आत्मज्ञान मात्र आप स्वयं निराधार होकर—दो ओर गति कर सकते हैं। या तो प्रकृति उन्मुख वासनाओं की अग्नि तक वापिस लौट कर जनः लोक में वासनाओं के अनुगत अपनी सृष्टि रच, फिर शरीर में आ जांय। या ईश्वरोन्मुख हो जाइये। निराधार तपः क्षेत्र से, आपको रीढ़ की हड्डी के सुषुम्णाद्वार से, आत्म जगत् में ऊर्ध्वगति करते हुए सत्य लोक तक यदि गति करना है—तो ईश्वरोन्मुख जाइये। प्रकृति में आत्मतल पर गहरी नीची डुबकी लगाने के बाद आत्म-जगत में ऊर्ध्वगति होगी।

मूलाधार की अग्नि को सुषुम्णा में न जाने देना, नहीं तो

वासनायें, विद्युत् तेज के साथ सुषुम्णा के चक्रों में सिद्धियों का क्षेत्र, वासनाओं की पूर्ति हेतु, प्रबल वेग से प्रज्वलित कर देंगी; और आप दीर्घकाल के लिये, चमत्कारपूर्ण प्रकृति के क्षेत्र में वासनाओं की पूर्ति करते, नई वासनायें उत्पन्न करते हुए—फंसे रहेंगे। यही योग भ्रष्ट होने का मार्ग है। अतः वासना की एक चिनगारी भी सुषुम्णा चक्रों की मैगज़ीन में न लगे। प्रथम इसलिये मूलाधार में ही—गहनतम अन्तःसुख की भावना तल पर, निराधार बैठने का अभ्यास करो यही आपकी 'तपः' स्वरूप ब्रह्म की उपासना है। तपःलोक में दृढ़ होकर, वासना रहित होने से कमाये हुए बल के साथ शुद्ध होकर, आत्मबल से आत्म जगत् में उठने की प्रेरणा ही आपको सुषुम्णा द्वार में ऊर्ध्वगति करावे। यही मूलाधारस्थ—आत्मज्ञान सहित—तपेश्वर ब्रह्मशक्ति 'तपः' अर्थात् उमा * (उ+म+अ) की उपासना द्वारा छठा प्राणायाम समाप्त हुआ। 'तपः' की उपासना, आत्मा का निराधार रहे आने का—वासनाओं के क्षेत्र में खिंचने से रुकने का, तथा अन्तःसुख भावना के तल पर जमे रहने का, अथक प्रयत्न है।

—:०:—

ओ३म् सत्यम् (ओ३म् सत्यम् पुनातु पुनः शिरसि)

स्थायी सुख के हेतु, वासनाओं के क्षेत्र में वापिस न जाओ—

* केन उपनि० खण्ड ३ मन्त्र १२।

वासना रहित बने रहो, और ईश्वरीय एक रस-ज्ञान आनन्द की गहरी श्वास आने दो। इसके पूर्व छठे प्राणायाम के पूर्ण होते समय, वासना रूपी दुर्गन्ध वायु का प्रश्वास बाहर जा चुका हो। तुम्हारे तपस्थल में अन्तःसुख भावना प्रकृति उन्मुख थी—ज्ञानघन और आनन्दमय अवस्था इसी तपस्थल—अर्थात् अन्तःसुख भावना का ईश्वरोन्मुख द्वार है। इस द्वार पर घनाघन आनन्दमय अमृत, ईश्वरीय स्नेह जल का, जी भर कर पान करो। वास्तव में ईश्वर का तप ज्ञानमय है। तुम्हें जो प्रकृति उन्मुख होने पर 'तपः' प्रतीत हुआ था वही आत्मोन्मुख होने पर ज्ञानघन आनन्दमय* प्रतीत होगा—इन दोनों अर्थात् तपः (क्रिया) और ज्ञान में व्याप्त अति सूक्ष्म—इन तप और ज्ञान की तलातल तह में, सत्य ब्रह्म का समुन्नत विस्तार है। वही अनन्त, अपरिमेय, अचिन्त्य—न ज्ञानघनं†—न अज्ञ, केवल आत्म प्रत्यय सार, शिव, शान्त, अद्वैत सत्य ब्रह्म है।

अतः तपस्थल के ईश्वरोन्मुख द्वार में, ज्ञानघन की अनन्त श्वासें जी भर कर लेने के उपरान्त—फिर उसी तपस्थल में निराधार, अन्तः सुख भावना में ईश्वरीय दर्शन हेतु प्यासे, आप उस ईश्वर की दया से, उसके सत्यामृत स्नेह-जल को पान करते हुए, जहाँ न सुख है न दुःख है उस ब्रह्म तक अर्थात् मुक्ति के हेतु, सुषुम्णा में ऊर्ध्वगति करो। मूलाधारस्थ नील

* माँडूक्य उपनि० मन्त्र ५। † माँडूक्य उपनि० मन्त्र ७।

आकाश में निराधार, तुम व्याकुल हो। गहरी से गहरी गहराई में तुम रहे आये हो। वहाँ निराधार रह कर निज एकमात्र ब्रह्म-आधार की भक्ति में—स्नेह जल द्वारा—जो तुम्हारे तपःस्थल के आत्मोन्मुख द्वार पर समीप ही बह रहा है—उस स्नेह जल द्वारा तुम स्नावित हुए हो। यह कह चुके हैं कि तपोमय और ज्ञानानन्दमय दोनों स्थलों के अन्तः-अन्तः तल में, एक सत्यमात्र, अनिर्वचनीय आधार है। ब्रह्माण्ड में—मूलाधार से, सुषुम्णा द्वार से जाकर, उसका प्रकाश (सत्यं) फैलने दो। तुममें यही प्रकाश (सत्यब्रह्म) व्याप्त है। सुषुम्णा द्वार से सत्यब्रह्म में होकर तुम्हीं प्रकाश के साथ रहे आये हो। रह रह कर आनन्दमय स्नेह जल पूर्ण इस दिव्य मनुष्य जन्म की श्वासें लो। स्नेहजल और तप तुम्हारे मनुष्य जन्म को सफल करने हेतु बहे हैं। स्नेहजल ने तुम्हें अन्तःसुख की भावना का संस्कार दिया था यह स्नेहजल उस सत्य प्रकाश का एक मधुरस है जिसका 'तपः' पुष्प है। इस सत्य में अनन्तता है और अमरत्व है। यदि सत्य प्रकाश के सहित तुम सुषुम्णा में उठो तो तभी उठना जब वासनायें तपोभूमि (मूलाधार) में तुम क्षीण कर चुके हो, नहीं तो, यदि अधिक वासनाभार के साथ सुषुम्णाद्वार में उठोगे तो ब्रह्माण्ड तक उन्नति न कर सकोगे, योगभ्रष्ट होगे, संसारचक्र में ही गिर पड़ोगे। उस समय फिर तुम्हें अघमर्षण आदि मन्त्रों से लेकर, सन्ध्याकाल में, गायत्री तक जाने का जो सन्ध्यामन्त्र आगे उपदेश करेंगे वह उपदेश, वासनाओं के क्षीण करने में

तुम्हारा सहायक होगा। फिर तुम इस सुषुम्णा मार्ग से सत्य ब्रह्म में चल कर ब्रह्माण्ड की (सहस्रार) सहस्र कलियों को सत्य प्रकाश के साथ भर देना। तुम्हारा ब्रह्माण्ड जो क्षुद्र वासनाओं की बुद्धि (दिमाग़) का बना है वह ब्रह्माण्ड उस अनन्त सत्य सहित, तुमको अनन्त सत्यलोक में, विस्तृत होने से रोक नहीं सकता, वह फट जायगा। तुम स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, मुक्त, सत्य ही सत्यलोक में आ गये हो, तुम्हें नमस्कार॥

पर हाँ, तुम अति सूक्ष्म किंचित् परोपकार की वासनायें तो कुछ न कुछ लिये ही हो—तुम्हारा जितना भर तप, निराधार रह कर मूलाधार क्षेत्र में हुआ होगा, वह वासनाओं को अत्यन्त दग्ध करके भी, वासनाओं की—चाहे परोपकार भावनाओं की—सत्तामात्र को, तुममें से विनष्ट न कर सका होगा। अतः एक सृष्टि-प्रलय उपरान्त, फिर परोपकार भावना से ही बँधे संसार-क्षेत्र में तुम अवतरित होगे। तब तुम्हें, सन्ध्या (मेल) हेतु—"शन्नोदेवीरभिष्टय"—सुख प्राप्ति की कामना—से आगे, सन्ध्या-मन्त्रों का अर्थात् अघमर्षणादि मन्त्रों से लेकर गायत्री पर्यन्त—अर्थ भावना सहित उपदेश फिर प्राप्त होगा। ताकि एक पूर्ण दृष्टि इस सृष्टि पर तुम फिर डाल सको, और पुनः उस सत्य ब्रह्म की प्राप्ति के मार्ग में तुम पर अभीष्ट सुख की ही वर्षा होती चले। अन्त में फिर तुम सुषुम्णा द्वार से शीघ्र ही ब्रह्माण्ड को फोड़ मुक्त हो जाना। इति 'सत्य' की उपासना सहित यह सप्तम और अन्तिम प्राणायाम् समाप्त हुआ॥

साधारण उपासकों के लिये वक्तव्य

यदि प्राणायाम करते समय उपरोक्त गहन विधि "भूः, भुवः, आदि की उपासना की, सुलभ न हो तो (१)—ओ३म् सहित 'भूः' आदि व्याहृतियों की शब्द मात्र, पुनः अर्थमात्र, पुनः भावमात्र उपासना किसी एक ही केन्द्र में करनी चाहिये। (२) दोनों भ्रकुटी और नासिका की जड़—इन तीनों के केन्द्र में माथे से लगभग तीन अंगुल भीतर शिर में—तृतीय नेत्र की कल्पना करो। यह नेत्र प्रकाशहीन देखो। वहीं व्याहृतियों के जप अर्थ तथा भाव सहित—श्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा प्राणायाम् होने दो (३) अथवा अन्य किसी केन्द्र (भूमि) में यथा नासिकाग्र, कण्ठकूप आदि में मन को ठहरा कर प्राणायाम और उपासना करो। (४) वा श्वास-प्रश्वास की वायु की गति के साथ २ मन को—द्रष्टा की हैसियत से—आने जाने दो। अथवा (५) व्याहृतियों के अर्थ स्वरूप—"भूः"=प्राणबल, "भुवः"=मन और शरीर की शुद्धि, "स्वः"=सुखरूप, "महः"=महान् विश्व में व्याप्त ब्रह्म, "जनः"=बनस्पति, विश्व, और प्राणिमात्र की उत्पत्ति करने वाली ईश्वरीय जनन शक्ति, 'तपः'=तेजोमय व्याप्त–तपेश्वर–ब्रह्म की प्रकृतिरूपिणी आदि शक्ति, और 'सत्यम्'=सत्यस्वरूप सदा एक रस ब्रह्म—इन सातों रूप में ईश्वर का ध्यान करके निज को तद्रूप—तद्गुणवान् बनने देने का अवसर देते रहो। साराँश यह कि प्राणायाम द्वारा—एक केन्द्र में

अथवा अन्य केन्द्रों में मन को एकाग्र करने के हेतु—किसी एक प्रकार से दृढ़ अभ्यास करना चाहिये। तब निज ज्ञानानुकूल आगे बढ़ना होता है। जहाँ २ किसी बात से मना किया है उसको न करना चाहिये विशेष कर शारीरिक प्रयत्न सब जगह वर्जित है। मन का वशीकरण—प्रयत्न शैथिल्य द्वारा—ध्येय है। इति।

प्राणायाम प्रकरण समाप्त।

—:o:—

अघमर्षण मन्त्रों में आये शब्दों के अर्थों पर एक दृष्टि

"ऋतम्" (सत्य वेद ज्ञान)

१. गति और प्राप्ति अर्थ वाले 'ऋ' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके 'ऋत' शब्द सिद्ध होता है। उणादि कोष भाषा में स्वा० दयानन्द जी लिखते हैं कि 'ऋच्छति'×—आत्मानं प्राप्नोति इति ऋतम्—यथार्थं वा' अर्थात् आत्मा को जो प्राप्त हो, वह 'ऋतं' है। यह यथार्थ सत्य वेद ज्ञान है।

ऋतम् (परिचरण=चारों ओर केन्द्र के गति, करनेवाला)

२. प्राप्ति,* गति अर्थक 'ऋ' धातु से 'ऋच्छ'† आदेश होकर लट लकार (वर्तमान काल में) 'ऋच्छति' शब्द प्रयुक्त

× उ० कोष पाद ३—८६। * धातुपाठ। † अष्टाध्यायी ७—३—७८।

होता है। यह 'ऋच्छति' शब्द निघंटु में गति* और परिचरण‡ कर्मों में गिनाया है। परिचरण कहते हैं किसी केन्द्र के चारों ओर गति करना। यह गति 'आश्रय पारायण और आधार' भावार्थ में होती है। अतः किसी केन्द्रीय (आकर्षण जैसे) आधार से केन्द्र के चारों ओर गति करने वाला—आश्रय पारायण पदार्थ—'ऋतं' है दृष्टान्त के हेतु सूर्य के चारों ओर गति करने वाली पृथ्वी। अणु के अङ्गभाग में 'केन्द्रीय विद्युत् भारयुत' Proton 'तम' कण के चारों ओर गतिशील विद्युत् परमाणु Electron 'रजकण' गति करता है। यह रजोगुणयुत विद्युत् परमाणु (Electron) ही ऋतं है।

ऋतं = जल

३. जीवों में अन्तः सुखभावना ही ऋतं‡ है जो 'आनन्द' वा सुख की प्राप्ति की ओर गति करती है। 'यस्य ज्ञानमयं तपः' 'तस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहोऽऽर्द्रमजायत' गोपथ ब्राह्मण के अनुसार—ऋतं ही वह स्नेह रूप जल है जो सृष्टि-निर्माण के समय ज्ञाममय तप करने वाले ब्रह्म के संतप्त ललाट से उत्पन्न होता है। जहाँ 'तपधारा' प्रकृति को क्रिया में नियुक्त करती है तो स्नेहरूप जलधारा ही जीवों में उनके कल्याण हेतु बह रही है। निघंटु में 'ऋतं' को 'जल'* के अर्थों

---

* निघंटु अ० २–१४। ‡ निघंटु अ० ३–५।

‡ ऋ (गति–प्रापणयोः) धातुपाठ। * निघंटु ६–१२, निरुक्त नैघंटुक काँड २–७–२५।

में गिनाया भी गया है। इसी स्नेहरूपी (जल) धारा का जीव में प्रकृति उन्मुख रूप 'अन्तः सुखभावना' है जो सुख प्राप्ति हेतु मन में ¶समस्त वासनाओं को उत्पन्न करती है।

ऋतं (मन-बुद्धि)

४. जै० उ० ३-३६-५ में स्पष्ट लिखा है 'मनोवा ऋतम्' मन ही ऋतम् है। निरुक्त में 'ऋत' शब्द की व्याख्या में यास्क मुनि जल, प्रज्ञा, धीति तथा बोध कराने वाली (बुद्धि) तथा मनुष्य की 'ज्योतिषः'× का उल्लेख करते हैं जिससे स्पष्ट 'ऋतं' शब्द मन, व बुद्धि के अर्थों में भी घटता है। 'ज्योतिषाम् ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' तथा 'यत्प्रज्ञानम् उतचेतो धृतिश्च यज्ज्योतिः अन्तः अमृतं प्रजासु तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इत्यादि वेदमन्त्रों से स्पष्ट है कि वह 'ज्योतिषः' शब्द मन के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। 'ऋच्छति'* वा आत्मानम् प्राप्नोति' अर्थात् जो आत्मा को प्राप्त हो वह मन ही है। तथा च ऋच्छति के अर्थ*-गति, इन्द्रिय प्रलय, व मूर्तिभाव में भी पाये जाने से और क्योंकि इन्द्रिय विलीन इसी मन में होती है, अतः मन ही ऋच्छति कर्मा ऋतं है।

¶ ऋतेन एव एनं स्वर्गं लोकं गमयन्ति ताँ० १८-२-९। × निरुक्त दै० अ० १०-४-३६। * उ० को० ३-८९। * धातुपाठ व्रश्चादय परस्मै भाषा पृ० २३-१२।

५. भोक्ता प्राण अग्नि* ही ऋतं है जो अन्न=रयि की प्राप्ति हेतु प्राणी को अन्न की ओर गति कराता है। प्राण ही जीव-आत्मा को प्राप्त होता है—यह ही जल का सूक्ष्मभाग 'ऋतं' प्राण है।‡

६. रजोगुण ही ऋतं है क्योंकि प्रकृति के तीन गुणों में गति सम्बन्धी चलनशील रजोगुण ही है।

ऋतं-शुक्लवर्ण, "प्रकाश किरण"

७. यदि गति और प्राप्ति अर्थ में ऋतं को शुक्ल किरण अर्थात् प्रकाश किरण† कहें तो भी उचित है क्योंकि प्रकाश किरण ही सब पदार्थों की ओर से गति करके उनकी यथावत् प्राप्ति आँखों को कराती है। निरुक्त दै० ७–७ में ऋतं के सदन अर्थात् किरणों के स्थान अन्तरिक्ष का उल्लेख है।

ऋतं (सृष्टि)

८. गति और प्राप्ति का स्थान यह सृष्टि भी 'ऋतं' है।

ऋतं (वीर्य)

९. ऋतं वीर्य को भी कहते हैं जो गर्भाशयस्थ रज की ओर आकर्षित हो गति करता है। निरुक्त ३–१–४ (ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्)।

---

* अग्निः वा ऋतं तै० १–५–५–१।
‡ छाँ० ६–६–३। † छाँ० १–६–५।

अतः ऋतं के अर्थ क्रमशः प्रकरणानुसार (१) सृष्टि, (२) वेदज्ञान, (३) मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार वा विचारधारा, (४) प्राण, (५) स्नेहरूप जल और अन्तः सुखभावना, (६) रजोगुण, (७) गतिशील (Electron) ऋणात्मक चिन्ह द्वारा कथित (Negative) विद्युत् परमाणु, (८) शुक्लवर्ण प्रकाशकिरण, (९) वीर्य।

—:o:—

'सत्यम्' शब्द के अर्थ

१. सत्य = प्रलय

शाकटायन* मुनि के आधार पर 'सत्य' उसको कहेंगे जो सत् का आयक (य) हो अर्थात् सत् विद्यमान पदार्थ (सृष्टि) को जो प्राप्त करावे। उपनिषदों में कहा है¶ कि जो यह सृष्टि है वह पूर्व विद्यमान इस रूप में न थी—अविद्यमान अवस्था से विद्यमान अवस्था में इसका आना ही मानो असत् से सत्‡ का उत्पन्न होना है। अतः सृष्टि की विपरीत अवस्था को सत्य—प्रलय कहेंगे जिसमें से यह चराचर सृष्टि गति करती हुई उदय होती है। दूसरे प्रकार से भी ×—'सत्-प्रभवं' अर्थात् सत्—विद्यमान पदार्थ को उत्पन्न करने वाली—अर्थात्

---

* सत्+आयक=सत्+य=सत्य इति निरुक्ते पूर्वपक्ष खण्डने भूमिकायाम् अ० १–११। ¶छां० उप० प्र० ६ खण्ड १ प्र० १। ‡तै० उप० ब्र० व० ७। × निरुक्त अध्याय ३–३–१०।

सृष्टि को उत्पन्न करने वाली प्रलय को ही सत्यम् कहेंगे (निरुक्त अ० ३ पाद ३–१०)

२. 'सत्यं' प्रकृति वा ब्रह्मशक्ति

स+त्+य इन तीनों अक्षरों में 'स' और 'य' जो आदि और अन्त हैं वे (स्वर सहित व्यंजन होने से) सत्य ही हैं परन्तु 'त्' स्वर रहित होने से मध्य में असत्य है* तदेवं यह प्रकृति आरम्भ में सत् और अजा होने से सत्य है इसका अन्त भी सत्य है क्योंकि परमाणु नाशवान् इस सृष्टि में नहीं देखे जाते यही विज्ञान का सिद्धान्त है ‖। परन्तु मध्यवर्ती अवस्था में इस सृष्टि में सब पदार्थ बनते विगड़ते रहते हैं । अतः प्रकृति ही सत्य है। इस प्रकृति व ब्रह्मशक्ति का ही निरन्तर उपदेश 'ऋतं' वेदवाणी से हमें प्राप्त होता है।

३. सत्यं (प्राप्त ध्येय वा भोग)

'सत इति प्राप्तस्य' * प्राप्त विषय का वाचक सत्य कहलाता है। मन बुद्धि आदि तथा विचारधारा जिस ध्येय वस्तु व विषय की ओर गति करते हैं उस प्राप्त ध्येय विषय व वस्तु को 'सत्यं' ही कहा जाएगा।

---

* वृहदा० ५–५–१–श० १४–८–६–२ ।

‖ Matter is indestructible.

* निरुक्त नैघंटुक ३–४–२०।

४. सत्यं (अन्न व रयि)

भोक्ता प्राण, अन्न व रयि रूप ऐश्वर्य सुख को ही पाता है अतः उपरोक्त हेतु से अन्न वा रयि ही सत्य है।

५. सत्यं (ब्रह्म,† मुक्ति तथा प्राकृतिक-आनन्द भोग)

जीवों में अन्तः सुख भावना को हमने ऋतं कहा है तथाच तद् विषयक ब्रह्मानन्द, मुक्ति आनन्द वा प्राकृतिक भोग ही उपरोक्त हेतु से, जीवों द्वारा प्राप्त विषय होने से, सत्य हैं।

६. सत्यं (प्रकृति का तमोगुण)

गति शील रजोगुण को आश्रय परायण ऋतं नाम से हम कह चुके हैं। यह रजोगुण तमोगुण से ही आकृष्ट होकर गति करता है अतः आधार रूप तमोगुण (proton) ही (स्थिर होने से) सत्य है। स्थिर पदार्थों में केन्द्रस्थ आकर्षण शक्ति, आकाश में व्याप्त होकर विस्तृत होती है, इस हेतु से—(अर्थात् सत्सु तायसे)* अणुओं में विस्तृत होने से यह केन्द्रस्थ आधार रूप 'तमोगुण' ही सत्यं है।

७. सत्यं (धन चिन्ह "+" द्वारा कथित केन्द्रस्थ विद्युत् परमाणु)

केन्द्रस्थ भारमय विद्युत् परमाणु (proton) ही आधार

---

† सत्यं ब्रह्म श० १४—८—५—१।

* निरुक्त नैघंटुक ३—३—१०।

होता है अतः यह 'सत्यं' है इसी के चारों ओर गतिशील विद्युत् परमाणु परिचरण करता हुआ हमने ऋतं कहा है। यही काष्ठ वा ईंधन वा अन्न वा तमोगुण है यही अणुभाग में भार रूप परमाणु है। यही (सतः संसृतं भवति† वा सत्सु तायसे) इन निरुक्त के प्रमाणों से अन्य अपने जैसे विद्युत् परमाणुओं को निज प्रभाव‡ द्वारा अन्य सत्-विद्यमान पदार्थों में उत्पन्न करता है और निज जैसे धन चिन्हित + विद्युत् परमाणुओं की संसृति* करता है।

८. सत्यं (कृष्ण वर्ण वाली किरण)

श्वेत किरण (सप्त रंग की किरणों का सामूहिक परिणाम है) इनसे परे 'परं नील कृष्ण' Ultra Violet किरणें हैं। वे दूरस्थ प्रदेशों से आती हुई आकाश में विस्तृत होती हैं और बादल तथा वायु मंडल में निज संतान रूप विद्युत् परमाणुओं की संसृति करती हैं ये अतिसूक्ष्म किरणें सूर्य से प्राप्त होती हैं। अतः ये किरणें उपरोक्त "सत्सु तायसे—सत इति प्राप्तस्य—तथा सतः संसृतं भवति" प्रमाणों से "सत्यं" हैं। प्रकाश किरणों की तरह सात रंगों में बँटकर व बिखर कर यह कृष्ण किरण बिना रासायनिक वा विद्युत् परिणाम संसृत किये नष्ट नहीं होती।

---

† निरुक्त नैघं० ३—४—२०।

‡ निरुक्त नैघं० ३—३—१०।

* सतः संसृतं भवति, नि० नै० ३—४—२०।

अतः यह परंकृष्ण† Ultra Violet किरणें "सत्यं" हैं।

६ सत्यं (रज) वा जीव

जहाँ ऋतं को हमने वीर्य कहा है वहाँ स्त्री रज को सत्य कहेंगे। दोनों वीर्य और रज 'जल मय' हैं इधर ऋतं और सत्यं दोनों ही निघंटु में जल के नामों* में पठित हैं। परन्तु वीर्य के परमाणु गति शील होने से ऋतं कहे गये जैसा निरुक्त ३-१-४ में कहा है। 'रज' कण भोग्य कण होने से "सत्यं" कहे गये। यह विज्ञान का सिद्धान्त है कि वीर्य परमाणु रज कणों का भक्षण (अन्न भोग) करते हैं। यदि वीर्य वा रज दोनों को ही पुरुष और स्त्री के वीर्य मात्र नाम से कहा जाय तो "सत्सु तायसे सतः संसृतं भवति" इन प्रमाणों से जीव* ही इन विद्यमान (सत्सु) वीर्य रज में संतान रूपेण पालित होता है—जीव ही संसृत‡ होता अर्थात् जन्म लेता है अतः जीव ही "सत्यं" है।

अतः "ऋतं" शब्द के अर्थों का अनुसरण करते हुए 'सत्य' शब्द के उसी क्रमानुसार यह अर्थ होंगे।

(१) प्रलय, (२) प्रकृति वा ब्रह्मशक्ति, (३) प्राप्त ध्येय वा भोग, (४) अन्न वा रयि, (५) ब्रह्मानन्द, मुक्ति, वा प्राकृतिक सुख, धन, ऐश्वर्य, (६) तमोगुण, (७) केन्द्रस्थ भारी आधार रूप proton

---

† छां० १–६–५। * निघंटु १-१२।

* सत्सु तायसे (तायृ-संतान पालनयोः) निरुक्त नैघंटुक ३-३-१०।

‡ निरुक्त नैघंटुक ३-४-२० (सतः संसृतं भवति)।

(धन चिन्हित '+' विद्युत् परमाणु); (८) परंकृष्ण-विद्युत् व रासायनिक क्रिया उत्पादक किरणें जो प्रकाश किरणों से अति सूक्ष्म हैं; (९) जीव अथवा 'रज' मात्र ही—यह सब सत्यं शब्द वाच्य हैं। पृथ्वी भी तथा आदित्य भी तथा और भी अनेक पदार्थ सत्य शब्द वाच्य प्रकरण और भाव के अनुसार* कहे जाते हैं जिन्हें यथास्थान यथावत् जानना चाहिये।

'तपसः' शब्द के अर्थ

'तपति ताप हेतु भवति इति तपस':, चन्द्रमा व। † अर्थात् जो स्वयं तपता है व ताप हेतु होता है उसे तपसः कहते हैं। 'तप' शब्द धातुपाठ में दुःख, दाह, और ऐश्वर्य अर्थ में पठित है। अतः तपसः उसे कहेंगे जो दुःख, दाह, व ऐश्वर्य पाता है अथवा उसे भी तपसः कहेंगे जो दुःख, दाह, व ऐश्वर्य की प्राप्ति में हेतु होता है।

तपसः (ईश्वर, जीव, प्रकृति)

१. ईश्वर स्वयं ज्ञानमय यज्ञ तपता है,‡ जीव दुःख, दाह, व ऐश्वर्य पाता है। प्रकृति भी जीवों की दुःख, दाह, व ऐश्वर्य प्राप्ति में हेतु है। अतः जहाँ 'ऋतं और सत्यं' सृष्टि और प्रलय

---

* ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। इति तै० उ० १-९।

† उ० को ३—११७ व्याख्या स्वा० द०। ‡ तै० उप० ब्र० व० ६, भृ० व० २।

रूप (मिथुन) जोड़े को कहते हैं वहाँ ईश्वर, जीव, प्रकृति ही 'तपसः' हैं।

२. इस चराचर विश्व में 'जीव और ब्रह्म' ही वेदज्ञान को प्राप्त करने और प्रकट करने वाले हैं, अतः, ज्ञानमय तप को तपने वाले वा ज्ञानरूप ताप में हेतु यही 'ब्रह्म और जीव' संज्ञाधारी पुरुष 'तपसः' हैं।

तपसः (मनोमय तेज व बुद्धिशक्ति)

३. निघंटु (१–१७) में 'तपसः' को 'ज्वलतः' नामों में गिनाया है अतः मन, बुद्धि आदि में जो अभिज्वलित तेज (ज्योति) है वह मनोमय तेज ही 'तपसः' है। 'यज्ज्योतिः अन्तः अमृतं प्रजासु तन्मे मनः'········ वेदमन्त्र में 'मन' को जिसे चन्द्रमा भी कहते हैं ज्योति नाम से कहा है इधर स्वा० दयानन्द उणादि कोष व्याख्या में जैसा ऊपर कह आये हैं तपसः को चन्द्र नाम* से लिखते हैं। अतः ज्ञानाग्नि व मनोमय तेज ही तपसः हैं।

तपसः (कर्म व जीवों के संस्कार)

४. कर्म व जीवों के पूर्वजन्मों के संस्कार ही सुख, दुःख, रूप, भोगों व ऐश्वर्य आदि कर्मफलों का पाक* करते हैं (तपन्ति–पाचयन्ति) तथाच यही सुख, दुःख, ऐश्वर्य रूप ताप में हेतु हैं अतः कर्म व संस्कार ही तपसः हैं।

---

* उ० को० ३–११७। * निरुक्त नैघं० २–६–२२।

तपसः (मुक्ति, भोक्ता जीव, तथा अन्तःकरण)

५. भक्ति रस तथा अन्तः सुख-भावना रूप जल को जहां 'ऋतं' और मुक्ति तथा प्राकृतिक भोगों को 'सत्यं' कहा है, वहां उपरोक्त प्रमाण (१) व (३) से जीव और अन्तःकरण ही 'तपसः' कहे जायेंगे क्योंकि यह मुक्ति, आनन्द, वा भोग क्रमशः जीव और अन्तःकरण को ही प्राप्त होते हैं।

तपसः (प्रकृति में सत्व गुण)

६. जहाँ ऋतं रजोगुण है, सत्यं तमोगुण है, वहां प्रकृतिस्थ सत्व गुण ही, ज्योति व प्रकाशमय होने से, तपसः कहा जायगा, क्योंकि 'तपसः' को निघंटु (१-१७) में 'ज्वलतः नाम' में गिनाया है।

७. अणु में दो प्रकार के विद्युत् परमाणु (एक स्थिर + चिन्ह वाला सत्यं, दूसरा गतिशील '—' चिन्ह वाला ऋतं) बताये गये हैं। उनमें अन्तर्हित तथा प्रकट होने वाला, विद्यत् क्षेत्र (आकाश) में व्याप्त जो विद्युत् तेज है, वही तपसः* है। इसी प्रकार आणविक शक्ति पुंज (atomic energy), चुम्बक शक्ति, तथा भौतिक अग्नि के विषय में जानना चाहिये। विशेषतः विद्युत् धारा, चुम्बक धारा, व आग्नेय किरणें 'ऋतं' हैं—तथा च भुक्त×

---

* तेजोऽसि तपसि श्रितम्। समुद्रस्य (अन्तरिक्षस्य) प्रतिष्ठा तै० ३-११-१-३।

× सीसा व जस्त आदि भुक्त पदार्थों के तेज़ाब में गलने से भी विद्युत पैदा होती है।

रसायन पदार्थ, व केन्द्रस्थ, व परिधि में स्थित* चुम्बक व काष्ठादि पदार्थ, जो इन धाराओं व किरणों को उदय करते हैं, तथा तार व आकाश आदि, जिनमें ये किरणें (सत्सु तायसे) चलती हैं, सत्यं हैं और यह तेज ही 'तपसः' है।

तपसः (रोहित वर्ण)

८. यह जो रोहित† वर्ण, तेज रूप भासमान होता है अथवा (Infra red) मन्द ताप युत जो ऊष्ण पदार्थ हैं, वे रोहित (लाल रंग) जैसे तेज से युत हैं; वे ही ताप (दाह) हेतु होने से 'तपसः' हैं।

तपसः (प्राण–रुद्र)

९. हमने वीर्य मात्र को 'ऋतं' तथा जीव को, जो जन्म लेता है 'सत्यं' सिद्ध किया है। यहाँ इस जीव को दुःख दाह में हेतु* यही प्राण है जो जन्म लेते समय व मृत्यु समय, जीव के साथ आता व जाता है। इस प्राण को रुद्र इस कारण कहते हैं कि वह जीव को शरीर से मृत्यु काल में पृथक् करके, सम्बन्धियों को ताप-दुःख देने में हेतु होता है, यही प्राण 'तपसः' है।

—:०:—

* चुम्बक क्षेत्र में तार का गुच्छक (armature) इंजिन द्वारा घुमाने से विद्युत् धारा प्रवाहित होती है। † छांदोग्य प्र० ६ खं ४ प्र० १–४।
* उ० को० ३–११७ ।

'ऋतं, सत्यं, तपसः' शब्दों के अर्थों का समीकरण

१. ऋतं और सत्यं ये दोनों मिथुन× (जोड़े) हैं, जिनसे यह जगत् उत्पन्न होता है। अतः ऋतं और सत्यं भिन्न २ अर्थों का प्रतिपादन करते हुए भिन्न २ प्रकरण और क्रम से सृष्टि की रचना में भाग लेते हैं।

२. ऋतं, सत्यं और तपसः ये तीन पदार्थ हैं जिनके भिन्न २ रूप से संहित होने से त्रिवृत्तीकरण❀ का क्रम चलता है। यह इन तीनों का आपस में संघात, विशेष २ प्रभाव को प्रकट करता हुआ सृष्टि की स्थिति व प्रलय को सम्भव करता है।

अतः इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध एकत्र निम्न मान-चित्र द्वारा देखिये।

'ऋतं, सत्यं, तपसः' का त्रिवृत्ती-करण

ऋतं	सत्यं	तपसः
१. जीव (सत्चित्)	प्रकृति (सत्)	ब्रह्म (सत् चित् आनन्द)
२. सृष्टि	प्रलय	ज्ञानमय तप का तपने वाला अभिइद्ध (अभि-ज्वलित) ब्रह्म तथा ईश्वर, जीव और प्रकृति

× छां० २-१३-२, बृ० १-४-४। ❀छां० प्र० ६ खं० ३ प्र० ३-४।

३. जीव	वेदज्ञान	सर्वज्ञ
४. वेदज्ञान	ईश्वर-जीव, प्रकृति (ब्रह्मशक्ति)	पुरुष (जीव, ब्रह्म)
५. मनबुद्धि, चित्त-अहंकार (विचार-धारा)	प्राप्तव्य ध्येय वा भोग	ज्ञानाग्नि, मनोमय तेज
६. प्राण	रयि व अन्न	कर्म तथा जीवों के पूर्व संस्कार
७. गातुः (पृथ्वी)*	सूर्य†	चन्द्र‡
८. भक्ति, (स्नेहजल) अन्तःसुख-भावना	ब्रह्मानन्द, मुक्ति प्राकृत भोग	ईश्वरोन्मुख जीव और भोक्ता अन्तःकरण
९. रजोगुण	तमोगुण	सत्वगुण
१०. गतिशील विद्युत परमाणु electron (–) चिन्ह वाला	स्थिर+चिन्ह वाला विद्युत् परमाणु (proton)	अन्तर्हित विद्युत् तेज, Xray, wirelesswaves, आणविक तेज, भौतिक अग्नि।
११. शुक्ल वर्ण Spectrum	परंकृष्ण किरण Ultra Violet	रोहित वर्ण (Infra Red)
१२. वीर्य-रज	जीव (वसु)	(रुद्र) प्राण
१३. जल	अन्न	तेज

* उ० को १–७३ गच्छति इति गातुः–ऋच्छति (गच्छति) इति ऋतं।

† तै० २–१–११–१, श० ६–७–१–२। ‡ उ० को ३–११७।

'रात्रि और समुद्र' (प्रकृति और अन्तरिक्ष)

१. 'रात्रि' शब्द 'रा' धातु से 'त्रिप्' प्रत्यय होकर गति और दान अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'राति-सुखं ददाति इति रात्रिः'* क्योंकि रात विश्राम देती है इस हेतु यह भी रात्रि कहाती है। यह त्रिगुणात्मक प्रकृति† ईश्वरीय तप से सृष्टि रचना में प्रवृत्त हो (गति करती) मानो जीवों को सुख, दुःख ऐश्वर्य आदि प्राकृतिक भोग‡ सभी कुछ देती है, अतः यही रात्रि है।

'सम् उनत्ति इति समुद्रः'× जो सम्यक् गीला करता है, वह समुद्र है, वस्त्र को जल व्याप्त होकर गीला करता है। इसी प्रकार 'अन्तरिक्ष' महत् आकाश भी सब में व्याप्त है; यही 'अर्णवः' अर्ण¶ (आने-जाने) का अर्थात् सब गतियों का स्थान है, अतः 'समुद्रः अर्णवः' ही महत् आकाश व 'अन्तरिक्ष' है। निघंटु १-३ में 'समुद्र' शब्द 'अन्तरिक्ष' नामों में पठित है। निरुक्त २-३ में, अनेक रूप से 'समुद्र' शब्द की व्याख्या※ करते हुए, समुद्र शब्द

---

* उ० को० ४-६७ † रात्रिः वै व्युष्टिः श० १३-२-१-६, अहः व्युष्टिः तै० ३-८-१६-४, व्युष्टिः वै दिवा तां० ८-१-१३, बाहुलकात् दीव्यति इतिदिवा उ० को ४-१७५। ‡ रात्रिः एव श्रीः श्रियांहि एतदरात्र्यां सर्वाणि भूतानि सम्वसन्ति, श० १०-२-६-१६, श्रयति श्रीयते वा सा श्रीः ईश्वर रचना वा, उ० को २-५७। × निरुक्त नैघं० २-३-११। ¶ उ० को० ४-१६७। ※ सर्वाणि भूतानि सम् उद्रवन्ति, जै० उ० १-२५-४; समुद्र वायु, यजु० ३८-७; य एव अयं पवते (वायु) एतद् एव अन्तरिक्षम् जै० उ० १-२०-२।

का अर्थ, प्रकरणानुसार, अन्तरिक्ष व सागर किया है। यहाँ अधमर्षण मंत्रों में रात्रि की उत्पत्ति के उपरान्त सागर की उत्पत्ति का कोई प्रकरण सम्भव न होने से, 'समुद्र' शब्द का अर्थ आकाश व अन्तरिक्ष ही लिया जाना चाहिये। जिसमें सभी पदार्थ (अर्ण) गति करते, आते-जाते हैं, वह अन्तरिक्ष (अर्णवः)× गतिशील किरणों और तेज की लहरों के आने-जाने का स्थान है। अतः रात्रि और समुद्र से अभिप्राय, त्रिगुणात्मक प्रकृति और आकाश होता है।

रात्रि—रज तमोगुण; समुद्र-सत्वगुण

निघंटु १-७ में रात्रि शब्द के २३ नाम पठित हैं; उनमें 'तमः' और 'रजः' इन दो प्रकृति के गुणों को भी गिनाया है तथा रात्रि को ही 'दोषा' (दोष वाली) अर्थात् रज व तम रूप दोष वाली बताया है। इसी 'सत्व रज-तम' रूप प्रकृति से सृष्टि प्रकट होती है इसलिए यह प्रकृति ही "अक्तुः"† रात्रि के नामों में पठित है। यह 'रज और तम' गुण वाली प्रकृति आती-जाती है—गति करती है, इस कारण यह प्रकृति ऊर्मि* (रात्रि नाम वाली) है, और समुद्र—सत्व गुण प्रधान प्रकृति—(अन्तरिक्ष) इसके आने-जाने का स्थान है।

'रात्रि और समुद्र' (प्रलय और सृष्टि)

'वहति-प्राप्नोति पदार्थान्' तथा 'वहति यत् इति ऊधः'‡ के

× प्राणाः वा अर्णवः, यजु १३-५३, श० ७-५-२-५१।
† उ० को० ३-८६। * उ० को ४-४४। ‡ उ० को० ४-१६३।

अनुसार निघंटु में पठित 'रात्रि' का नाम धेय, ऊधः (प्रलय) वह स्थान है, जहाँ सब पदार्थ अन्त में चलकर पहुंचते हैं। व्रंस (दिन में) व सृष्टि काल में सूर्य निरन्तर रसों को ग्रसता है। रात्रि में रस, गोस्तन में इकट्ठे होकर वहने योग्य होते हैं वा जैसे रात्रि में ओस कण बनने का अवसर मिलता है इसी प्रकार प्रलय में सृष्टि रूप दूध के बहने के लिये मानों रस इकट्ठे हो रहे हों; इस हेतु रात्रि को **महाप्रलय** कह सकते हैं (अपाप शक्रः ततनुष्टिं ऊहति तनूशुभ्रं)॰ सर्व शक्तिमान, इस विस्तृत कान्तिमान् (अहः) विश्व रूप चराचर जगत को 'नष्ट'¶ करता है। यह रात्रि (प्रलय ही) राति* (पूर्ण विराम देने) कारण से समग्र विश्व को विलीन करती हैं, अतः प्रलय को ही रात्रि कहते हैं। इस सहचार से समुद्र (सम्यक् उद्रेकात्) प्राकृत सृष्टि को कहेंगे जो सर्वथा उत् (ऊपर) गति करती दृष्टि गत होती‡ है। "समउद् द्रवन्ति अस्मात आपः" वा 'सम् मोदन्ति अस्मिन् भूतानि प्रमाण* से इसी सृष्टि में (आपः) कर्म का प्रवाह चलता है, अथवा (आपः) जल अग्नि वायु विद्युत् प्रकाश आदि इसी सृष्टि में उदय होकर मानों दौड़ रहे हैं, अथवा प्राणिवर्ग वा

॰ नि० नैगम ६-४-१८। ¶ अंधः रात्रिः तां० ९-१-७, ऋ० ८-९२-१। तमइवहिं रात्रिः मृत्युः इव ऐ० ४-५। *उ० को ४-६७।
* नि० दै० ९-३-२७। ‡ अयं वै समुद्रः यः अयं पवते एतस्मात् वै समुद्रात् सर्वेदेवाः सर्वाणि भूतानि समउद्रवन्ति—जिससे सब वायु आदि देवता व सब प्राणी प्रकट हो दौड़ते से दीखते हैं वह (सृष्टि) समुद्र है, श० १४-२-२-२।

पंच महाभूत (पृथ्वी आदि) को इसी सृष्टि में संयोग प्राप्त होता है, अथवा 'मुद्' धातु से 'सम् मोदयन्ति 'अस्मिन् भूतानि'* इस प्रकार व्युत्पत्ति करके समुद्र यह सृष्टि है जिसमें सब प्राणी वा पृथ्वी आदि भूत पदार्थ एक दूसरे से संसर्ग (मेल) करते हैं।

इस प्रकार 'रात्रि' प्रलय वाचक है तथा 'समुद्रः अर्णवः'—यह आने-जाने, कर्म और संसर्ग का स्थान—सृष्टि का द्योतक है। यही सृष्टि और प्रलय क्रम एक दूसरे के उपरान्त इसी प्रकार अवश्यम्भावी हैं जैसे दिन के उपरान्त रात और रात के उपरान्त दिन, वा जैसे मृत्यु के उपरान्त जन्म और जन्म के उपरान्त मृत्यु। प्रलय हो तो सृष्टि की ही हो सकती है और सृष्टि का होना भी प्रलय अवस्था से ही हो सकता है।

—:o:—

"संवत्सर" शब्द के अर्थ

अघमर्षण मंत्रों में संवत्सर की उत्पत्ति (समुद्र से), अन्तरिक्ष वा आकाश से, बताई गई है। समुद्र व रात्रि, सृष्टि और प्रलय के, अथवा त्रिगुणात्मक प्रकृति और महदाकाश के वाचक हैं। अतः इनसे संवत्सर की उत्पत्ति मानो सृष्टि काल की प्रथम रचनाओं का वर्णन है। केवल त्रिगुणात्मक प्रकृति और महद्आकाश से, बिना सूर्य पृथ्वी तथा पंच महाभूतों के बने ग्रीष्म-वर्षा आदि ऋतुएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं। अघमर्षण मंत्रों

* नि० नैघं० २—३—१०।

में से दूसरे मंत्र में सीधे समुद्र (अन्तरिक्ष) तथा रात्रि, (प्रलय वा सृष्टि) से, ऋतुएं उत्पन्न होना असंभव है। यदि समुद्र के अर्थ सागर और रात्रि के अर्थ रात लिये जावें तो भी रात और सागर से ऋतुएें नहीं बन सकतीं अतः 'समुद्रात् अर्णवात् अधि संवत्सरोऽजायत" इस मंत्रार्थ में संवत्सर का अर्थ ग्रीष्म आदि ऋतुओं का लेना प्रकरण विरुद्ध और असम्भव है।

निरुक्त अ० ४ पाद ४ खंड २६ में संवत्सर विषयक वेद-मंत्रों का उल्लेख है। जहाँ संवत्सर के अर्थों की संगति (ऋतु समुदाय) काल में घटती है, वहाँ जो अन्य अर्थ भी घटते हैं वे विचारणीय हैं। अतः निरुक्त प्रतिपाद्य वेद मंत्र हम उद्धृत करते हैं।

'सप्त युञ्जन्ति रथमेक चक्रं एको अश्वो वहति सप्त नामा।
त्रिनाभि चक्रम् अजरं अनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः ॥

यहां चक्र का वर्णन है जिसमें 'चक'* (तृप्ति और प्रतिघात) रूप क्रिया हो रही है। जिसमें 'चर' अर्थात् गति और भक्षण रूप, क्रिया होती है; अथवा पग २ चलना रूप क्रिया जिसके सहचार में पाई जावे, वह चक्र है। अतः एक चक्र ऐसा है जिसके यह सब विश्व और भुवन (लोक) अधि (भीतर) "सम् तिष्ठन्ति—सर्वथा स्थित हैं। यह चक्र तीन नाभि से बन्धा हुआ है। किसी दूसरे के आश्रित नहीं। निज आधार घूमता है। तीन नाभि त्रिगुणात्मक प्रकृति के सत्व रज और तम, गुण हैं जो

* चकतेः चक्रं—चरतेर्वा, क्रामते र्वा, नि० नै० ४-४-२६-६२।

इस संवत्सर (ब्रह्मांड) के प्रत्येक अंग में व्याप्त, उसे बांधे हुए हैं। शुक्ल प्रकाशकिरण जो सात रंग वाली है वही मानों अश्व (आगे बढ़ाने वाली) इस ब्रह्मांड की है। इन समस्त लोक लोकान्तरों को गर्भ में रखने वाले संवत्सर (ब्रह्माँड) को "तेज का प्रसार ही" प्रसारण क्रिया द्वारा (Pressure of radiation) आगे धकेलता है तथा केन्द्रीय आकर्षण (Gravitation) इसे अन्तः नियमित रखता है। यहां पाठक यह ध्यान दें कि इस मंत्र में तीन नाभि को यदि ग्रीष्म वर्षा और शिशिर (हेमन्त) ऋतुएं मान लें तो मन्त्रार्थ यह होगा कि इन तीन ऋतुओं में समस्त लोक वन्धे हैं। भला उत्तरी ध्रुव पर ग्रीष्म का किंचित् अभाव है ही, पर सूर्य में तो वर्षा व हेमन्त ऋतुएँ आप कहाँ पायेंगे; अतः जहां "विश्वा भुवनाः" समस्त लोक निवास करें वह संवत्सर तो ब्रह्माँड ही होगा। संकुचित क्षेत्र में केवल पृथ्वी पर ही 'तीन ऋतुओं के अर्ध वर्ष को आप भले ही संवत्सर कहें। संवत्सर रूप ब्रह्माँड में ही, जहां सत्व रज तम (गुणों) की रस्सियां * हैं, रज (प्राण) द्वारा, तम रूप अन्न का भक्षण सम्भव है। ब्रह्माँड में ही तृप्ति (आकर्षण—attraction) और प्रतिघात (धकेलना—Repulsion या Reaction), तीनों सत्व रज तम गुणों के भेद से संभव भी है। अतः संवत्सर शब्द "ब्रह्माँड अर्थ" में जो चक्राकार (अंडाकार) है, प्रयुक्त हुआ है। इसी संवत्सर

*उ० को० ४-१२६ नह्यति, दुष्टं नाडीर्वा, वध्नाति इति नाभिः—रस्सी।

के विषय में अन्य मंत्र भी निरुक्त में लिखे हैं वे भी हम संगित दिखाने हेतु यहां देते हैं।

पंचारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन् आतस्थुः भुवनानि विश्वा।
तस्य न अक्षः तप्यते भूरिभारः सनात् एव न शीर्यते सनाभिः॥

अर्थः—इस ब्रह्मांड में परिवर्तन नियम है अर्थात् वस्तुओं का रूपान्तर होता है—नाश नहीं, (जैसे जल का वाष्प वन कर विलीन प्राय होना वा बर्फ वन कर ठोस हो जाना)। पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश पंच महाभूत, अथवा आत्मा सहित अहंकार चतुष्टय यह पांच, वा पांच ज्ञानेन्द्रियें, वा पांच प्राण ही मानो इस ब्रह्मांड चक्र के ५ अरे हैं इस की धुरी अत्यंत भार को वहन कर रही है, (आकर्षण रूपी केन्द्रीय आधार) फिर भी तप्त नहीं होता, त्रिगुणात्मक रस्सी (जो नाभि है) वह भी टूटती नहीं।

शतपंथ ब्रा० ११-१-६-१/२ के कुछ वाक्यों में इस ब्रह्माण्ड का संवत्सर होना कितने स्पष्ट शब्दों में कहा गया है, पाठक देखें—

"आपः वाइदम् अग्रे सलिलमेव आस। ता अकामयन्त कथमनु प्रजायेमहि इति। ता अश्राम्यम् तपः अतप्यन्त तासु तपः तप्यमानासु हिरण्यमयं आण्डꣳसम्बभूव आजातः हतर्हि संवत्सर आस तद् इद ꣳ हिरण्यमयं आण्डं या संवत्सरस्य वेला तावत् परि अप्लवत्। ततः सम्वत्सरे पुरुषः समभवत्"।

अर्थः—प्रारम्भ में यह सब जलमय (अर्थात् ऋत और सत्य रूप जलमय) था। उन ऋत और सत्य द्वारा किस प्रकार सृष्टि उत्पन्न हो, इस हेतु वह जो ईश्वरीय तप था उसने, इस जलमय पदार्थ को तपा। उन तप्त (गर्म) जलमय (Gaseous) पदार्थों में (गति प्रभाव से) वृहत् अण्डा बना, वह उष्णता के कारण चमकता था। यह चमकता अण्डा ही संवत्सर हुआ—यह अण्डा सृष्टि काल तक के लिये विस्तृत चारों ओर फैला हुआ है। इस ब्रह्मांड में ईश्वर-जीव पुरुष रूप से प्रकट हुए। संवत्सर का इतना स्पष्ट 'ब्रह्माण्ड' अर्थ और कहां मिलेगा ?

'संवत्सर' के समस्त अंगों में पांच पाद, बारह आकृति, दिवः (द्युलोक) का पिता होना, एक अर्ध भाग (प्रलय) में जल रूप ही मानो हो जाना, यह लक्षण भी लिखे हैं—इस के दूसरे (अयन) भाग में, जहाँ सूर्य की किरणों का विस्तार है अर्थात् 'सृष्टि' में मनुष्य निवास करते हैं—इस लोक (पृथ्वी) भाग में छः ऋतुएँ भी पाई जाती हैं। इसी ब्रह्मांड में संवत्सर का अर्थ करते समय षट् अरे ६ दिशा हैं, इसी से द्युलोक उत्पन्न होता है, तथा १२ मास, ३६० दिन, ७२० दिनरात अर्थात् वर्ष आदि भी इसी में होते हैं। अतः संवत्सर का पूर्णाङ्ग अर्थ "दिशा (Directional Space) काल (Time) और अंडाकार रूप ब्रह्मांड है। समस्त लोक लोकान्तर और विश्व मात्र जिनमें सम्यक् निवास* करते

* सम्यक वसन्ति अत्र स संवत्सरः (उ० को० ३-७२)

हैं, उन दिशा, काल और अंडाकार ब्रह्मॉंड—इन तीनों को ही संवत्सर कहेंगे।

—:०:—

"अहो रात्रि" का अघमर्षण मंत्र २ में अर्थ।

१. जहाति—पृथक् करोति अंधकारम् 'इति' 'अहः'* जो अन्धकार को छोड़ दे वह "अहः" (दिन) है। निघंटु में 'अह'† शब्द के नाम वाची १२ शब्द दिये हैं। वस्तः (जहां रहते हैं वह वस्तोः) अहः है। 'द्युः'—'प्रकाश लोक', भी 'अहः' कहलाता है। 'अहः' घर्म को भी कहते हैं तथा 'दीप्यते प्राणिनः जगत् वा, येन स घर्मः'‡ जिससे प्राणीवर्ग अथवा समस्त जगत प्रकाशित होता है वह ही 'घर्म' अर्थात् 'अहः' है। जो चलता है वा प्रकाशित होता है उसे भी घृणः (अहः) कहते हैं 'जिघर्त्ति-क्षरति दीप्यते वा स घृणिः' ¶।

यह सब लक्षण सृष्टि में घटते हैं, अतः 'अहः' मंत्र में, 'सृष्टि' वाचक है। तदनुसार 'रात्रि' का अर्थ जैसा पूर्व लिख चुके हैं, 'प्रलय' होगा। सृष्टि और प्रलय क्रम को ही 'अहोरात्रि' कहेंगे।

२. 'रात्रि और समुद्र' शब्द वाच्य त्रिगुणात्मक प्रकृति और महद् आकाश, तथा च प्रलय और सृष्टि, इन के उपरान्त 'संवत्सर' रूप 'दिशा, काल, और

---

* उ० को० १-१५८। † निघ० १-६। ‡ उ० को० १-१४६। ¶ उ० को० ४-५२।

अंडाकृति रूप ब्रह्मांड' की रचना का वर्णन इस दूसरे अघमर्षण मंत्र के पूर्वार्ध में आया है। इस सृष्टि रचना की सीढ़ी से लेकर 'दिन रात' की उत्पत्ति तक पहुँचने के लिये द्युलोक, पृथ्वी, सूर्य आदि की उत्पत्ति होनी पहिले आवश्यक है। परन्तु सूर्य—पृथ्वी की उत्पत्ति का विषय तीसरे मंत्र में है, इस हेतु प्रकरणानुसार 'अहोरात्रि' के अर्थ 'दिन रात' इस दूसरे मंत्र में, जहाँ प्रारम्भिक सृष्टि, आकाश, और दिशा, काल, और ब्रह्मांड की उत्पत्ति का विषय है, नहीं लिये जा सकते। ऐसा करने से सूर्य—पृथ्वी से पूर्व 'दिन रात' की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जो असम्भव है, अन्यथा तीसरे मंत्र को दूसरे मंत्र से पहिले संध्या के अघमर्षण मंत्रों में लिखा जाना चाहिये। पर इस प्रकार मंत्र क्रम भी बदलना नहीं बनता क्योंकि फिर 'अर्णवः समुद्रः' शब्दों का ❀ पहिले मंत्र से दूसरे मंत्र में जो सहचार है वह जाता रहता है। अतः अहोरात्रि से अर्थ 'दिन:रात' अर्थ यहाँ नहीं। इस दूसरे मंत्र में 'प्रलय के वश करने वाले परमात्मा द्वारा उन सृष्टि और प्रलय का नियमानुकूल बनना' ही विषय दर्शाया है।

३. तीसरा कारण अहोरात्रि के अर्थ 'दिन रात' न मानने में यह है कि 'मिषतः' 'आँख बन्द होते हुए' इन शब्दों का कथन 'विश्व' के सहचार में, मंत्र में किया गया है। विश्व तो दिन रात दोनों में ही आँख बन्द नहीं करता। विश्व के 'सूर्य' भाग में

❀ पहिले मंत्र के अन्त में और दूसरे मंत्र के आदि में 'समुद्र, अर्णव' शब्द हैं।

रात तो होती भी नहीं। प्राणि वर्ग तथा वनस्पति तक, हृदय गति वा पाचनादि क्रिया तथा जीवन संबन्धी रस संचार निरन्तर करते हैं। अतः विश्व का आँख बन्द होना, 'प्रलय' ही हो सकती है।

दूसरे अघमर्षण मंत्र में, 'दिशा काल व अंडाकृति' (संवत्सर) और सृष्टि वा अन्तरिक्ष (Ether) बने हैं। क्रमानुसार इन के बाद द्युलोक, पृथ्वी और स्थूल आकाश की उत्पत्ति तीसरे मंत्र में आई है। इस क्रम उत्पत्ति में 'दिन रात' की बीच में कल्पना करना अयुक्त है।

अगले तीसरे मंत्र में 'सूर्य, द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, और स्वः' इन की उत्पत्ति कह कर ही विषय समाप्त हो जाता है। फिर सूर्य—पृथ्वी से पूर्व दूसरे मंत्र में 'अहोरात्रि' शब्दों से 'दिन रात' अर्थ लेना असंगत ही होगा।

(४) ऐतरेय ब्राह्मण ५-३० में लिखा है कि एतेहवै 'संवत्सरस्य चक्रे यत् अहो रात्रे'। यह अहोरात्रि—ब्रह्मांड का ही मानो (सृष्टि प्रलय) रूपी चक्र है।

तां० ब्रा० ४-१-१४ में कहा है कि 'एतम् अतिरात्रं अपश्यत तमाहरत् तेन अहोरात्रे प्राजनयत्'। इस अतिरात्रि को उसने देखा और उसे लेकर उसने अहोरात्रि को उत्पन्न किया। तां० ब्रा० १०-४-१ के अनुसार, भूत भविष्यत का विचार करते हुए उस ब्रह्म ने सृष्टि प्रलय को रचा यह अर्थ होगा। श० ३-७-४-१० के अनुसार भी 'अहोरात्रेऽएवविष्णुक्रमाभवन्ति। तथा च 'अहो (अग्नि)

रात्रेश्च (सोमः) यः अन्तरालः कालः तद् विष्णुः' श० ३-४-४-१५। अर्थात् तेज जिसमें विलीन होता है वह ब्रह्म ही अहोरात्रि रूप सृष्टि प्रलय क्रम को चलाता है।

इन सब हेतुओं से अहोरात्रि से अर्थ केवल 'सृष्टि और प्रलय चक्र' का लेना चाहिये।

"सूर्या-चन्द्रमसौ"

सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों से अभिप्राय लोक प्रसिद्ध सूर्य और चन्द्रमा से प्रायः होता है। परन्तु इस तीसरे अघमर्षण मंत्र में 'दिव्' लोक अर्थात् प्रकाशमय पिंडों की रचना का वर्णन है। इस दिव् लोक में स्पष्ट सूर्य चन्द्रमा सम्मिलित हैं। और "दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षं" अर्थात् द्युलोक, पृथ्वी और आकाश इन शब्दों द्वारा लगभग समस्त लोकों की रचना का संक्षिप्त वर्णन है। यद्यपि प्रथम मन्त्र में ऋतं और सत्यं रूप जोड़े का संकेत प्रारम्भ में ही कर दिया है परन्तु भौतिक संसार की उत्पत्ति में जीवों से सम्बन्धित प्राणमय और मनोमय सूक्ष्म रचना का निर्देश स्पष्ट दूसरे मन्त्र तक नहीं आया है। अतः तीसरे मंत्र में उपसंहार करते हुए, 'सूर्या चन्द्रमसौ' से प्राण और मन, लेकर आध्यात्मिक जगत की रचना मानी जावे और 'दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षं' से समस्त भौतिक जगत की रचना मानी जावे तदनन्तर "स्वः', मानो सृष्टि के प्रयोजन स्वरूप 'विचाराश्रित सुख वा

आनन्द लोक की" कर्मोंद्वारा प्राप्ति का वर्णन माना जावे तो तीनों अघमर्षण मंत्रों का अर्थ, अत्यन्त रोचक तथा युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। अतः 'सूर्या चन्द्रमसौ' का अर्थ हमने प्राण और मन किया है। तथा च क्योंकि 'दिव्' शब्द में हमने सूर्य चन्द्रमा का वर्णन किया ही है, इस हेतु मन्त्र के भावार्थ में कोई कमी नहीं है। सूर्या चन्द्रमसौ के इस अर्थ के लेने में प्रमाण ये हैं:—

सूर्य = प्राण

सूर्या—सूर्य से स्त्रीलिंग होकर निघण्टु में 'वाणी' के नामों में गिनाया गया है। वाचस्पति (वाणी का पति) प्राण* ही इस हेतु सूर्य है। सूर्या सूर्यस्य पत्नी' यह शब्द निरुक्त (१२-१-८-३) में दिए हुए हैं। उणादि कोष (२-२४) की व्याख्या में स्वा० दयानंद लिखते हैं—'"सूयते वा सुवति—प्राणिनः समर्थयति इति सूरः। सूर्यो वा" प्राणियों को उत्पन्न और सामर्थ्यवान् जो बनावे वह 'प्राण' ही सूर्य है।

श० १४-१-४-२ य एष तपति एष हि इदं सर्वं गृहणाति एतेनइदं सर्वं गृभीतम्—यह सूर्य की परिभाषा प्राण में भी घटती है तथाच—स एष (सूर्यः) मृत्युः श० १०-५-१-४ एष वै यमः यजु० ३७-११ एष वै गर्भः देवानां (इन्द्रियाणां) यजु ३७-१४ से भी स्पष्ट सूर्य शब्द से प्राण का ग्रहण होता है।

---

* निरुक्त दै० कां० (१०-२-१८-१०) वाचस्पति = प्राण।

तदसौ वाआदित्यःप्राणः जै० उ० ४-२२६। आदित्यो वै प्राणः जै० उ० ४-२२-११। प्राणः वा अर्कः श० १०-४-१-२३; तथा च श० ६-४-२-२५ में अर्क वा सूर्य यह सब अग्नि के पर्यायवाची बताये हैं।

इस प्रकार और भी अनेक प्रमाण उपनिषदों में उपलब्ध हैं जिन से सूर्य शब्द प्राण वाचक सिद्ध होता है।

चन्द्रमस्=मन

इसी प्रकार 'मनश्चन्द्रमा' जै० उ० ३-२-६, यत्तन्मन एष सचन्द्रमा श० १०-३-३-७, आदि प्रमाणों से "चन्द्रमा" मन का वाचक है।

'चदि' (अ) धातु से जिसका अर्थ कान्ति में होता है रक् प्रत्यय करके 'चन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। 'चन्दति, हर्षयति दीपयति वा सचन्द्रः" * जो हर्ष करे वा प्रकाशवान् हो वही चन्द्रमा है "दूरं-गमं ज्योतिषां ज्योति रेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" तथा "यज्ज्योतिः अन्तः अमृतं प्रजासु तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि प्रकाशवान् सुख देने वाली अन्तः ज्योति मन ही है। अतः चन्द्रमा मन को कहेंगे।

'तपति तापहेतुः भवति स तपसः ‡ चंद्रमा वा' इस उणादि कोष व्याख्या में चन्द्रमा उसे कहा है जो दुःख दाह वा ऐश्वर्य पाता है वा इनके पाने में हेतु है। स्पष्ट है कि यह चन्द्रमा मन भी है

---

* उ० कोष (२-१३)। ‡ उ० को० (३-११७)।

(अ) निरुक्त (११-१-५;२)।

जो दुःखी होता—ईर्ष्या द्वेष काम क्रोध आदि में दाह पाता तथा सुख ऐश्वर्य भोगता है।

उपरोक्त हेतुओं से "सूर्याचन्द्रमसौ" का अभिप्राय प्राण और मन से है।

अब हम अघमर्षण मन्त्रों का शब्दार्थ सुगमता से कर सकते हैं।

अथ अघमर्षण मंत्राः

१ ओ३म् ऋतं च सत्यं च अभीद्धात् तपसः
अधिअजायत। ततोरात्रिः अजायत ततः समुद्रोऽर्णवः॥

२ ओ३म् समुदात् अर्णवात् अधि संवत्सरोऽजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी॥

३ ओ३म् सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षम् अथः स्वः॥

अर्थ मंत्र १—'ओ३म्' अविनाशी ब्रह्म (सृष्टि रचना काल में) तप करता है। 'तस्यज्ञानमयं तपः' * उसका (सृष्टि रचना तथा जीवों के कल्याण हेतु) "ज्ञान पूर्वक तप" होता है। इस तप के होने पर मानो वह ब्रह्म संतप्त हो रहा है। (अभि) ‡ सृष्टि रचना की ओर उसका प्रकाश 'इद्ध' चमकता-दीप्तिमान् प्रतीत हो रहा है। इस देदीप्यमान् (ओ३म्) अविनाशी

* तै० उप० (ब्र० व० ६-भृ० व० २), ‡ निरुक्तभूमिका (१-३)।

ब्रह्म के ज्ञानमय (तपसः) तप के प्रभाव से तीन पदार्थ (सृष्टि रचना हेतु (अधि) ❀ उसी अविनाशी ब्रह्म के अधिष्ठान में (अजायत) प्रकट हुए। "ऋतं च सत्यं च तपसः" (१) (ऋतं) सुख दुःख ऐश्वर्य का (अन्तः करण द्वारा) भोक्ता जीव (२) (सत्यं) (उन जीवों के पूर्व सृष्टि के शेष कर्मों और संस्कारों के अनुकूल सुख दुःख ऐश्वर्य सम्पादन करने वाली) प्रकृति तथा (३) (तपसः) साक्षीरूप 'ज्ञान और तप (क्रिया) का' जीव और प्रकृति में सन्निधान करने वाला ईश्वर, इस प्रकार यह तीन ईश्वर, जीव, प्रकृति (तपसः, ऋतं, और सत्यं रूप) प्रकट हुए ‡। इसी (तपसः) ज्ञानेश्वर व तपेश्वर ईश्वर के प्रभाव से 'ऋतं और सत्यं' रूप (मिथुन) † जोड़ा उत्पन्न हुआ। इसी "ईश्वर जीव प्रकृति" से आगे सृष्टि में (ऋतं, सत्यं, और तपसः रूप) तीन २ पदार्थों की परस्पर सम्बद्ध रचना (त्रिवृत्ती करण रूप से) प्रकट हुई *।

ईश्वर जीव प्रकृति के त्रिवृत्ती करण द्वारा और ऋत और सत्य रूप गतिशील और स्थिर पदार्थों के (जोड़े)) से, (उसी ब्रह्म में लय होकर) (रात्रि) प्रलय होती है, और (समुद्रः) सृष्टि (अजायत) हुई थी। अथवा (तपसः) ईश्वर जीव प्रकृति और ऋतं और सत्यं रूप जोड़े से (ततः रात्रिः अजायत) सृष्टि [जो सुख दुःख ऐश्वर्य (राति) देती है] उत्पन्न हुई और (ततः)

❀नि० भू० (१-३), ‡ ईश्वरीय शक्ति के प्रकट रूप के विषय में देखो पृ० ४, † छां० उ० २-१३-२, बृ० उ० १-४-४ * छां० उप० ६-३-३।

सृष्टि प्रारम्भ से (समुद्रः) सूक्ष्म महद आकाश—Ether (अजायत) उत्पन्न हुआ। इन्हीं ईश्वर के (तपसः) तपः-प्रभाव (क्रिया सन्निधान) से (सत्व रज तम तीनों गुणों की साम्य अवस्था वाली प्रकृति में) (रात्रिः) रजोगुण और तमोगुण पृथक हुए और (समुद्रः) (प्रकृति के सत्व गुण से) महत् तत्व उत्पन्न हुआ। यह (समुद्रः) सूक्ष्म महत् आकाश Ether, वा महत् तत्व (प्रकाश युत सत्वगुण) सृष्टि में (अर्णवः) वह स्थान वा हेतु है जिनमें से, या जिनके (अधि) ❀ तल पर समस्त विश्व और विश्व की शक्तियां (अर्णवः) मानो लहरों (Vibrations and waves) की भाँति, गति करती वा आती जाती प्रतीत होती हैं। यह (समुद्रः) महदाकाश Ether, वा महत् तत्व (अर्थात सत्व गुण युत बुद्धि तत्व) और सृष्टि ही (अर्णवः) विश्व की समस्त क्रियाओं को (अधि) धारण और प्रकट करते हैं।

अर्थ मंत्र २–(ओ३म् समुद्रात् अर्णवात् अधि)-अब इस (अर्णव) गति के स्थान (समुद्र) सूक्ष्म महदाकाश Ether, वा महत् तत्व (बुद्धि तत्व) वा सृष्टि क्रिया से (अधि) प्रकट होकर (संवत्सरः) काल, दिशा Time & Space, और (विशिष्ट सत्व रज तमोगुण सहित प्रकृति और सूक्ष्म भूत संयुत) ब्रह्मांड, (अजायत) उत्पन्न हुए। अर्थात् 'ऋतं'–गतिवान् पदार्थों के 'सत्यं' केन्द्रस्थ पदार्थों

❀ नि० भू० (१-३)।

के चारों ओर गति करने में, केन्द्रीय आकर्षण (तपसः) द्वारा (संवत्सरः) इस घूमते हुए विश्व की अंडे जैसी अवस्था (अंडाकृति) (अजायत) उत्पन्न हुई। इसी (संवत्सर) अंडाकृति ब्रह्मांड में अनन्तर सृष्टि हेतु (तपसः) जीव, ईश्वरीय शक्ति तथा प्रकृति, जनित (ऋत और सत्य रूप जोड़े) सभी पदार्थ (सम्यक् वसन्ति अत्र स सम्वत्सरः) * सर्वथा रहे आये।

इस प्रकार जो यह विश्व, (मिषतः) कभी सृष्टि रूप जागता कभी (रात्रिः) प्रलय रूप सोता-विलीन होता और पूर्णविराम ‡ को प्राप्त होता है, वह यह सृष्टि और प्रलय उसी (वशी) परमात्मा के वश में हैं—यह सृष्टि और प्रलय उसी के अधिकार में हैं। उसके, अपने ज्ञान और तप (क्रिया) द्वारा, प्रभावित होने से सृष्टि होती तथा उसी के निज 'ज्ञान मय तप' के अन्तर्हित होने से प्रलय होती है। उसी (वशी) विश्व की सृष्टि और प्रलय के वश में करने वाले ईश्वर ने, इन (अहोरात्राणि) ❀सृष्टि और प्रलय क्रम को (वि) ❀ भिन्न २ रूप में (दधत्-अदधत्) धारण किया है।

अर्थ मन्त्र ३—ऋतं सत्यं रूपी मिथुन (जोड़े) को उत्पन्न करके तथा समस्त विभिन्न-प्रकारों से-'ऋतं सत्यं और तपस':-के त्रिवृत्ती करण-तथा संघात और विभाग से, जो सृष्टि रचना हुई उसे

---

* उ० को० (३-७२); ‡ राति—ददाति इति रात्रिः—विरामं ददाति इति, (उ० को० ४-६७); ❀ नि० भू० (१-३)।

उपासक पूर्वोक्त त्रिवृत्तीकरण के नक़्शे में देख कर पृष्ठ ५२-५३ के अनुसार तथा अन्यथा भी ध्यान पूर्वक जान लें। पहिले दो मन्त्रों द्वारा अद्भुत शब्दों में विस्तृत सृष्टि और प्रलय का भेद छिपा है। उसी को संक्षेप से इस तीसरे मंत्र में मानो उप-संहार करते हुए बताते हैं—कि, प्राणियों के उत्पन्न वा समर्थ करने हारे (सूर्य) प्राण, और प्राणियों को सुख ऐश्वर्य सम्पादन हेतु प्रवृत्त करने वाले (चंद्रमस) मन को, पृष्ठ २३ पर हम 'ऋतं' शब्द से व्याख्यात कर चुके हैं इन (गति) क्रिया करने वाले 'सूर्या चन्द्रमसौ' प्राण और मन को वही परमात्मा अपने प्रकृति में आधान किये हुए तपः प्रभाव (क्रिया शक्ति-तेज) से (धाता) धारण करता है अर्थात् (ऋतं) इन गतिशील (सूर्य चन्द्र) वाच्य प्राण और मन को वही (तपसः) परमात्मा निज व्याप्ति* द्वारा (सत्यं) सुख-भोग-और मुक्ति की ओर (धाता) ‡ आकर्षित करता है। परमात्मा ही-निज शक्ति की व्याप्ति से, इन भोग की ओर गति करने वाले (ऋतं) भोक्ता (सूर्या चन्द्रमसौ) प्राण और मन को तथा उन (चन्द्रमस) भोगों को भी (धाता) धारण किये हुए है। यह प्राण और मन (तपसः) परमात्मा की निज शक्ति से (ऋतं) जीव और (सत्यं) प्रकृति

*सांख्य दर्शन ५—(२९-३२) व्याप्तिः—न तत्वान्तरं

‡ गणित का सिद्धान्त है कि वृत्त में घूमने वाला पिंड केन्द्र की ओर आकर्षित होता है।

संयोग द्वारा (उद्भव) ❀ उत्पन्न हुए हैं। यही निज शक्ति द्वारा उत्पन्न करना, उसकी शक्ति की व्याप्ति तथा उसके धारक होने में कारण है।

उस (धाता) प्राण और मन रूप (सूर्यचन्द्रमा) को धारण करने वाले ब्रह्म ने इन (सूर्याचन्द्रमसौ) प्राण और मन को, अथवा "सूर्याचन्द्रमसौ" प्राण और रयि (अन्न) रूप ऋत और सत्य के मिथुन (जोड़े) को, (यथा पूर्वं अकल्पयत्) जैसा पूर्व दो मन्त्रों में कहा है, रचा। अथवा इन प्राण और मन, वा प्राण और रयि (अन्न) को, उस (धाता) परमात्मा ने (यथा पूर्वम् अकल्पयत्) जैसा पूर्व सृष्टि में इन्हें रचा था तदनुकूल, इस सृष्टि में भी रचा है। उसने (दिवं) द्युलोक को, जिसमें ये लोक-प्रसिद्ध सूर्य, तारा, चन्द्रमा आदि प्रकाशवान् ग्रह, उपग्रह, भरे पड़े हैं रचा; तथा च उसने (दिवं) विद्युत अग्नि, वायु, जल आदि दिव्य तेजोमय पदार्थों को रचा; तथा (च) (यथा पूर्वं) पूर्व सृष्टि के अनुकूल वा पूर्वोक्त क्रम और विस्तार से—उसने (पृथिवीं च अन्तरिक्षं) पृथ्वी और अन्तरिक्ष (स्थूल आकाश) को भी रचा। और (यथा पूर्वं) जीवों के पूर्व सृष्टि और पूर्व-जन्म के जैसे भी शेष संस्कार थे उन्हें भोगने में समर्थ करने के हेतु तदनुकूल ही, (स्वः) भावना मय — वासना मय उन संस्कारों को भोगने के उपयुक्त, (स्वः) सुख-दुःख रूप प्राकृत

❀ व्याप्ति—निज शक्ति उद्भवम्—आधेय. शक्ति योगः, सां० ६० ५-(२६/२३)।

सामग्री में सुख व दुःख को (अकल्पयत्) प्रकट किया। जीवों की मुक्ति हेतु जीवों में, (स्वः) निज ज्ञान व आनन्द को अन्तः प्रवाहित किया। तथा, भोक्ता (मन बुद्धि चित्त अहंकार) के हेतु, वासनामय सुख संसार की कल्पना शक्ति, उन ईश्वर जीव ने "मन बुद्धि चित्त अहंकार" में उत्पन्न की और उस सुखमय वासना के अनुकूल ईश्वर ने सृष्टि के पदार्थों को (स्वः) भोग रूप इन्द्रिय ग्राह्य बनाया (जिससे कि जीव, प्राकृतिक सुख दुःख में, ज्ञान द्वारा, अनन्त सुख रूप ब्रह्मशक्तियों को देखे; और निज अन्तः सुख भावना को प्रकृति उन्मुख तृप्त न होता देख कर अन्त में, ब्रह्म साक्षात् द्वारा 'मुक्ति' ‡ की ओर गति करे)

अघमर्षण मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या सहित उपासक की विचार धारा

इस विश्व में सभी वस्तु बनते विगड़ते रहते हैं। प्राणी जिसे सुख जानता है, उसे स्थिर रखने का जीवन में प्रयत्न करता है, पर वह सुख-मय पदार्थ नष्ट हो जाता है, और सुख-मय पदार्थ के वियोग से दुःख होता है। इसी प्रकार सुखमय पदार्थ प्रायः प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होते, कभी दुःखमय पदार्थ मनुष्य को प्राप्त होते हैं तो मन दुःखी होता है, जीवन भार स्वरूप जान पड़ता है। अतः यदि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय के विज्ञान को जानकर हम सत्य स्थिर सुख की खोज

‡ ब्रह्म-निर्वाणं ऋच्छति (गीता)।

निज जीवन काल में करें तो हमें यह उपदेश मिलता है कि किस प्रकार निर्लिप्त रहता हुआ ब्रह्म ही विशेष प्रभाव से प्रकृति को सत्व, रज, तम रूप त्रिगुणात्मक बना कर क्रियाशील जगत को बनाता है; तथा च ईश्वरोन्मुख मुक्ति और आनन्द, वा प्रकृति उन्मुख पूर्व संस्कार और वासनाओं की पूर्ति करने के हेतु, वही ब्रह्म किस प्रकार प्राण और मन की जीवों के हेतु, सृष्टि करके, उन जीवों को प्रकृति में घुमाता हुआ मानो यह उपदेश करता है कि प्राकृतिक पदार्थ विनश्वर हैं। यहाँ प्रकृति में एक भक्षक प्राण है तो दूसरा भक्ष्य रयि है। जो भक्षक प्राण है वही समयान्तर में शरीर से पृथक् होता है और प्राण हीन शरीर स्वयं भक्ष्य बनता हुआ विनष्ट होता है। चराचर विश्व में व्याप्त तेज और जीवों में अन्तः सुख भावना उसी अविनाशी ब्रह्म के प्रताप से प्रकट हो रहे हैं। उसी के प्रताप ने भक्ष्य और भोग्य पदार्थों को विनष्ट होने वाला तथा वासना की पूर्ति करने योग्य बनाया है। परन्तु जीव की अन्तः सुख भावना अमर होने से, नित नई वासनायें सुख हेतु उदय होती और भोग्य पदार्थों के भक्षण और भोग से तृप्त होती हैं; वा तृप्त न होने से जीव को तृप्ति हेतु निरन्तर भ्रमित करती हैं। वासनाओं की संसृति इन विनश्वर भोगों के हेतु नित नई होती रहती है, भ्रमण चक्र समाप्त नहीं होता। तब विज्ञानी पुरुष यह विचार कर सन्तोष लाभ करता है कि जीव और ईश्वर की प्रभुता ही जड़ प्रकृति में व्याप्त हो, इसे रूपान्तर देती है; वह प्रभुत्व शक्ति स्थिर और सत्य है। अपने अन्तः प्रदेश

में जीव उसी ब्रह्म की अन्तः विभूतियों को देख २ अतुल शान्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार "अघ" विनाश और हिंसा का रहस्य समझ कर जीव, अपनी अन्तः सुख भावना का सूत्र ब्रह्मानन्द से ही उदय होता देखता है; और उस सुख को प्रकृति उन्मुख न पाकर, जीव अन्तः प्रदेश में ही, स्थायी अमर सुख (ब्रह्म) को प्राप्त करता है।

इस विनाश और उत्पत्ति के रहस्य का यह अघमर्षण मन्त्र अद्भुत रूप से वर्णन करते हैं। जब "मनु" से उपस्थित ऋषियों ने धर्म जिज्ञासा हेतु प्रश्न किया तो 'मनु' ने भी सबसे प्रथम सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करके, इसी विनाश और अमरत्व के रहस्य का प्रतिपादन किया था। अतः हम भी उपरोक्त मन्त्रों में देखें कि किस प्रकार यह सृष्टि उत्पन्न होती है, किस प्रकार इसमें ईश्वर जीव और प्रकृति भाग लेते हैं। जिन शब्दों का इन मन्त्रों में प्रयोग हुआ है वे शब्द अनेकार्थक होकर सृष्टि रचना सम्बन्धी अनन्त विज्ञान को प्रकट करते हैं। एतदर्थ यह मन्त्र तथा अगले मनसा-परिक्रमा मन्त्र नित्य सन्ध्याकाल में नियमित रूप से अनेकांगी भाव से विचारणीय हैं, जिस से जीव इह-लौकिक और पारलौकिक सुख का और मुक्ति का इस जीवन में तथा अनन्तर जीवन में भी सम्पादन कर सके।

अध्यात्म जगत की रचना

अहो! सृष्टि काल है। "अभिइद्ध" अनिर्वचनीय यह

अक्षर ब्रह्म स्वयमेव ही दीप्त हो रहा है मानो जाज्वल्यमान है। इससे स्वभावतः ही ज्ञान और तप, जीव और प्रकृति में मानो उदय हो रहे हैं। जीव और प्रकृति दोनों ही ब्रह्म के आश्रित रहते हैं। अल्पज्ञ जीव में उसी का ज्ञान प्रवाहित हुआ तथा तप रूप तेज शक्ति (निज सामर्थ्य) को उसने प्रकृति में व्याप्त किया। जीवों में ज्ञान प्रकृति विषयक और उनके कल्याण के हेतु निहित है, परन्तु सृष्टि में मनुष्य प्रकृति उन्मुख रहते हैं और ज्ञान स्रोत से विमुख हैं। अतः उनके भोग सम्पादन हेतु जो सृष्टि रचना है वह प्रकृति में मानो गुण भेद सहित क्रिया का आरम्भ है।

प्रलय के उपरान्त अल्पज्ञ जीवों में, सर्वज्ञ ईश्वर की जैसे ही ज्ञान धारा उदय हुई, तो साथ ही साथ तपोमय ब्रह्म की उन जीवों में स्नेह धारा भी बहने लगी। उस स्नेह जल (आनन्दभोग) का पान जीवों के सुख हेतु है, पर जीव उस सुख स्मृति से प्रभावित हो सुख को प्रकृति में खोजता है, अतः प्रकृति विषयक ज्ञान भी जीवों में उदय होना आवश्यक था। यह वेद-ज्ञान रूप ऋतं-ऋषियों (द्रष्टा जीवों) के अन्तः स्थल में प्रकट हुआ, और न केवल प्रकृति एवं च जीव और ब्रह्म भी, इस वेद-ज्ञान के व्याख्यात विषय हुए। यह व्याख्यात विषय 'प्रकृति, जीव, और ब्रह्म' सत्य हैं जिनका, वेद ज्ञान 'ऋतं' रूप से व्याख्यान करता है।

जहाँ ताप बढ़ता है वहाँ पसीना भी आता है। 'तस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहोऽऽर्द्यमजायत" ❀ मानो सन्तप्त ब्रह्म के ललाट से

❀ गोपथ ब्राह्मण

स्नेह रूप जल प्रकट हुआ। अतः अल्पज्ञ जीवों में ज्ञान प्रवाह के साथ, स्नेह-सुख की भावना अर्थात् सुखस्मृति भी उत्पन्न हुई। उस सुख भावना की, प्रकृति उन्मुख जीव में, पूर्ति हेतु, ब्रह्म ने प्रकृति को निज तपः तेज प्रभाव से क्रियाशील बना कर, मानो अपनी अनन्त सामर्थ्य और विभूतियों को जीव के प्रति उपस्थित कर दिया, ताकि जीव, प्राकृतिक ज्ञान से, प्रकृतिस्थ ऐश्वर्य को निज सुख भावना के अनुकूल बनावे; साथ ही साथ यदि जीव अन्तः मुखी हो, अन्तः प्रवाहित ज्ञान धारा और स्नेह जल में डुबकी लगाले, तो अक्षय सुख और मुक्ति का आस्वादन कर सके।

इस विषय को कतिपय चित्रों द्वारा दर्शाते हैं।

चित्र नं० १ (अ)
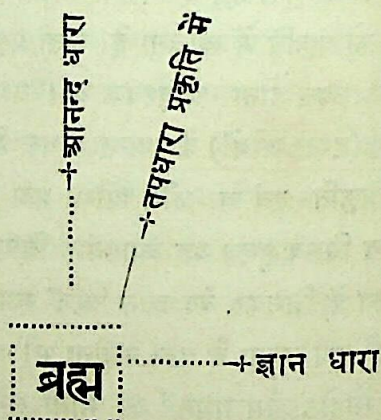
इस पृष्ट के धरातल में ब्रह्म से जीवों तक जो ज्ञान व

आनन्द धारायें बही हैं उनसे भिन्न तप धारा प्रकृति में इस पृष्ठ के धरातल से समकोण बनाती हुई बह रही है।

चित्र नं० १ (ब)

जीव-ब्रह्म समन्वय
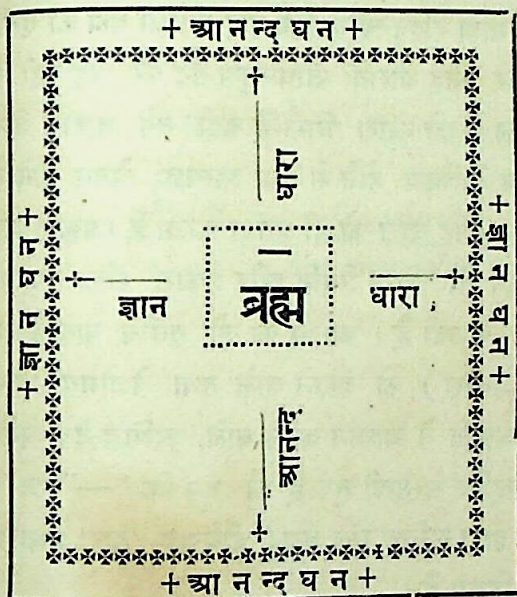
अनिर्वचनीय ब्रह्म को ऋण (—) चिन्ह द्वारा चित्र में दिखाया है। यह जीव के अन्तः आकाश में सूक्ष्मतया व्याप्त है। जीव के अन्तः तल में ज्ञानधारा बह रही है तथा तप से उत्पन्न पसीने के रूप में मानो स्नेह धारा बह रही है, जीव यदि आत्मतल पर देखता है तो वेद ज्ञान—ज्ञान घन और आनन्द घन को देखता है जो 'ओ३म्' की व्याख्या में विवक्षित तृतीय पाद है। ज्ञान घन तथा आनन्द घन को धन चिन्ह (+) से विव-

क्षित किया है। ज्यों २ ज्ञान घन और आनन्द घन तट से जीव निज आत्म बल द्वारा ब्रह्म तल की ओर खिंचता या बढ़ता है, उसे अन्‌*अन्त, अनिर्वचनीय, अव्यवहार्य, अचिन्त्य पाता है, अतः मूल ब्रह्म को ("—") चिन्ह से अंकित किया गया है, जो 'नकार' वाचक है और मात्रा रहित चौथा ब्रह्म पाद है। इस ब्रह्म की तृतीय पादस्थ ज्ञान और स्नेह धारायें जीवोन्मुख तट पर बह रही हैं; और प्रकृति तल में जो धारा गिरी है वही तप धारा (क्रिया शक्ति) है। जीव निष्क्रिय होने से तथा अल्पज्ञ, चेतन होने से, केवल ज्ञान और स्नेह धारा को ही प्रतीत करता है। प्रकृति जड़, पर सत् मात्र होने से, "क्रिया स्थिति और प्रकाश" शील तप धारा को ही संयुक्त हो सकती है। 'ओ३म् का जो तृतीय पाद है वह स्नेह जल (ज्ञानधारा) को बहाने वाले तथा तेजोमय "तप" क्रिया शक्ति को प्रकृति में आधान करने वाले, अभिद्ध-देदीप्यमान ब्रह्म का यही सृष्टि सन्मुखी रूप है जो रूप कि "—" 'अ' या 'नकार' संकेत द्वारा सूचित मूल ब्रह्म (चौथेपाद) द्वारा प्रभावित उसका केवल प्रतिरूप है।

अब चित्र नं० २ पर आइये। जीव प्रकृति उन्मुख है। ज्ञान और स्नेह धारा की स्मृति ने अल्पज्ञ चेतन जीव को प्रकृति में सुख की खोज में प्रवृत्त किया। जीव पूर्व सृष्टि (वा पूर्व जन्मों) के संस्कारों को स्मरण करता है और उन्हें सुख भोग के हेतु प्रकृतितल में उदय करता है। जीव अब प्रकृति उन्मुख

* देखो ओ३म् के व्याख्यान को, पृ० १-३

वासनामय बना है। अपने अन्तः तल में यदि देखता तो ज्ञान-घन और आनन्द—घन रूप ब्रह्म-प्रभाव को देख लेता। परन्तु प्रकृति में जीव अल्पज्ञ चेतन मात्र "—" ऋण चिन्ह से प्रकट किया गया है, मानो वह प्राकृत पदार्थों को जानना चाहता है कि वे सुखमय या दुःखमय कैसे हैं। अल्पज्ञ में ज्ञान की कमी को

चित्र नं० २

जीवन की ब्रह्मोन्मुख वा प्रकृति उन्मुख गति
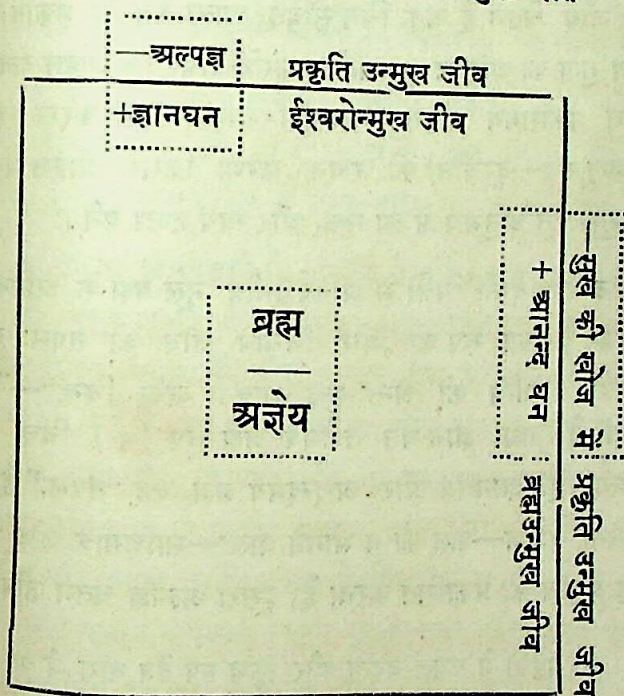
"—" ऋण चिन्ह से कहा जायगा। इसी प्रकार स्नेह धारा पान

करने वाला जीव जब प्रकृति उन्मुख होता है तो अपने चारों ओर प्रकृति में स्नेह की कमी × को देख कर—वह जीव, पूर्व सुख संस्कारों के अनुकूल सुख पाने की भावना उदय करता है कि मेरे पिता माता पुत्र हों, मैं मनुष्य वा पशु आदि योनियों में स्वच्छन्द सुखपूर्वक विहार करूँ। यह अन्तः सुख भावना सुख प्राप्ति हेतु जीव को प्रकृति में प्रवृत्त करावेगी। यह हमने (—) चिन्ह से सुख की कमी प्रगट करने हेतु चित्र में दिखाई है।

जीव चेतन है अतः चित्-संवित् आत्म तेज से प्रकृति के सत्व गुण को आकृष्ट वा प्रभावित करके जीव, उस (महत् तत्व)-' सूक्ष्म प्रकाशमय प्राकृत सत्वगुण द्वारा, अन्तःकरण (दूर-वीक्षण यंत्र—दूरबीन) की रचना करेगा जिससे प्राकृत भोगों को सुख हेतु अनुभव में ला सके, और स्वयं द्रष्टा बने।

उपरोक्त दोनों चित्रों में अनिर्वचनीय मूल ब्रह्म के अभितप्त (प्रकट) ब्रह्म रूप को और चिन्मय जीव को तपसः कहा जायगा। जीव की अन्तः सुख भावना ऋण चिन्ह "—" युत 'ऋतं' है, तथा ज्ञान-घन तपोमय ब्रह्म रूप (+) चिन्ह युत "सत्य" है। ज्ञानमय और आदन्दमय ब्रह्म वह "तपसः" है जो वासना रहित—फल को न भोगने वाला—साक्षिमात्र, जीव और जड़ प्रकृति को प्रकाशित करता है; दूसरा अल्पज्ञ चेतन जीव वह

× प्रकृति में केवल जड़ता और क्रिया रूप तेज धारा है वहां स्नेह धारा नहीं। निष्क्रिय जीव में केवल स्नेह धारा है वहां क्रिया नहीं।

तपसः है, जो वासनायुत, फल भोगने वाला है; यह जीव भी अन्तःकरणों को अपने तप से प्रकाशित करता है। प्रकृति भी तेज से युक्त तपसा रूपिणी है क्योंकि, यह ऐश्वर्य, सुख, दुःख और दाह की प्राप्ति में हेतु है तथा स्वयं अग्नि विद्युत् आदि तेजयुक्त, अभितप्त है।

ज्ञानधारा 'वेद' को ॐ 'ऋतं' इस हेतु कहते हैं कि यह ही, ईश्वर जीव प्रकृति, जो स्वयं सत्य (+) हैं, उनका व्याख्यान करती हुई उपासक को इनके स्वरूप की उपलब्धि कराती है।

यह वेद ज्ञान स्वयं सत्य (+) भी है क्योंकि ऋत स्वरूप (—) अल्पज्ञ जीव इसे प्राप्त करता है। यहां सर्वज्ञ ब्रह्म ही तपसः है जो ज्ञानमय तप से ज्ञान–धारा का प्रवाह करता है।

जो प्रकृति को विज्ञान से जानता है वह इसका स्वामी होता है, जो थोड़ा जानता है वह इसका थोड़ा स्वामी होता है। अतः सर्वज्ञ ईश्वर सर्वांश में, और अल्पज्ञ जीव अल्पांश में, प्रकृति के स्वामी बने हैं। प्रकृति केवल सत् होने से जड़ मात्र है यह सम्पत्ति बनी है। परन्तु प्रकृति को सामर्थ्यवान् और ऐश्वर्य स्वरूप बनाने में, तथा इसे यथावत् रूप देने में, जीव मुख्य कारण नहीं केवल आंशिक रूप से गौण कारण है। ईश्वर ही निज तपः प्रभाव से स्वतः व्याप्त होकर, तथा जीव द्वारा व्याप्त

ॐ देखो पृ० ३६ तथा उ० को० ३-८६, आत्मानं प्राप्नोति इति ऋतं।

होकर, प्रकृति को त्रिगुणात्मक विकृति बनाता है। किस प्रकार से पुरुष प्रकृति का संयोग होता है यह अगले चित्रों में देखें।

चित्र नं० ३

ब्रह्म-प्रकृति समन्वय
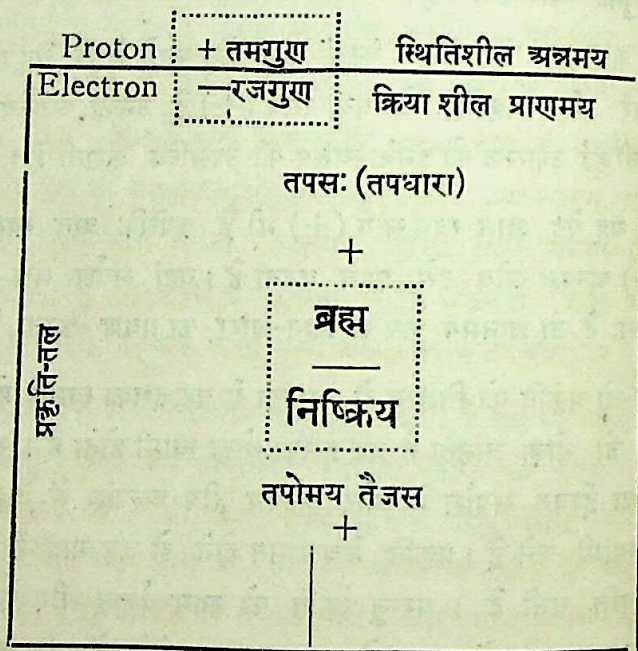
सत्त्वगुण + प्रकाशमय

व्याप्त ईश्वरीय तेज के प्रभाव का सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्य अवस्था वाली प्रकृति में आधान होने से गुणों की साम्यता जाती रहती है और तीन गुण

पृथक् २ होकर निज २ कार्य को सम्पादित करते हैं। सत्व गुण प्रकाश को, रजोगुण क्रिया को, तमोगुण स्थिति को प्रकट करता है। तपोमय ब्रह्म का तैजस प्रभाव अपने धरातल भेद से (Potential difference) से जब साम्य प्रकृति में विस्फोट (Bombardment & Explosion) करता है, तो वह (—) ऋण चिन्ह संयुत क्रियाशील रजोगुण (ऋतं) को प्रकट करता है, जिसे "+" चिन्ह युत तमोगुण साम्य प्रकृति से पृथक हो, धारण करता है। यह तमोगुण जीव में उत्पन्न हुए "आनन्दघन और ज्ञान-घन" अवस्था का मानो प्रकृति में रूपान्तर मात्र है। प्रकृति में से विस्फोट परिणाम स्वरूप, रज और तम गुण का प्रथक होना इस कारण सम्भव होता है, कि ब्रह्म-तप द्वारा, तप्त परिणाम जो तेज है, वह प्रकृति के सत्व गुण को प्रकाशित करके प्रकृति से प्रथम ही पृथक् कर देता है। इस प्रकार ब्रह्म से ज्ञान, तप, और आनन्द, 'जीवों के हेतु' जो सृष्टि काल में प्रकट होते हैं, वे ही मानो प्रकृति में प्रकाश शील सत्व गुण, क्रिया शील रजोगुण, तथा स्थिति शील तमोगुण 'अन्न' को, पृथक २ करते हैं इनका पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार है कि—

तम गुण स्थिति शील अन्न—धारक है, केन्द्रस्थ रजगुण काग़ज के धरातल में तमो गुण के चारों ओर गतिशील है तथा सत्व गुण जो प्रकाश शील है, वह इस काग़ज के धरा-

तल को ऊपर से नीचे व्याप्त करता हुआ (चित्र नं० ४) सूक्ष्म होने के कारण प्रकाशकिरण की भाँति है।

चित्र नं० ४

सत्व

रज
—

—रज

+
तम

रज—

—
रज
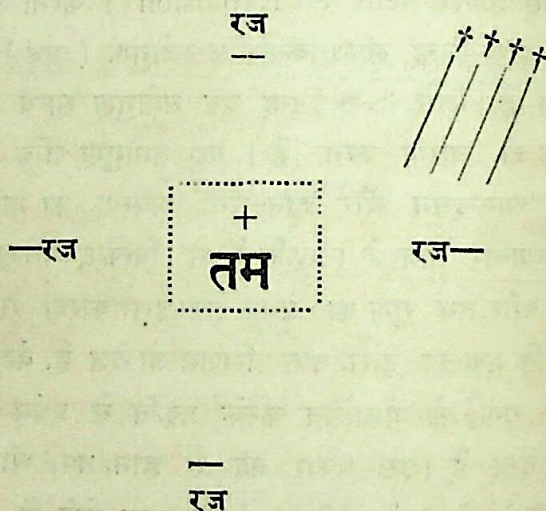
क्योंकि प्रकृति जड़ है इसमें बुद्धि वा चेतना का अभाव है अतः इस सत्वगुण को चेतन पक्ष में ऋण चिन्ह से '—' कहा जायगा। जीव चेतन परन्तु अल्पज्ञ है, अतः चेतन पक्ष में '+' कहा जायगा। जीव प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने हेतु वा निज अल्पज्ञता को दूर करने हेतु, प्रकृति तल से प्रकाश किरण की सहायता लेगा, ताकि प्रकृति तल में रज व तम, अर्थात् प्राण और अन्न को देख सके। यह चेतन और जड़ का संयोग

बना, अर्थात्—सत्वगुण चेतनाहीन प्रकृति+चेतन ज्ञान हीन जीव, दोनों एक दूसरे की कमी को पूरा करने हेतु आकृष्ट हुए (चित्र नं० ५) और बुद्धि तत्व और चेतन का संयोग हुआ। 'मन, बुद्धि चित्त अहंकार' रूप अन्तःकरण की, प्रकृति को देखने योग्य

चित्र नं० ५ (जीव+बुद्धि संयोग)

जीव			महत्तत्व (प्रकृति)
चेतन	+	——+ +——	—चेतना रहित
अल्पज्ञ	—	——+ +——	+ सत्वगुण प्रकाश

"+ और —" का आकर्षण

दूरबीन बन गई। इसमें अन्य रज व तम गुण भी मात्रा भेद से जीवों की आवश्यकता भेद के अनुसार संयुक्त हुए। फलतः भिन्न २ अन्तःकरणों (चित्र नं० ६) की प्रत्येक जीव ने रचना की।

चित्र नं० ६ अन्तःकरण चतुष्टय का निर्माण

(१) चेतन जीव	+ —	जड़ प्रकृति
(२) अल्पज्ञ जीव	— +	प्रकाश सत्वगुण (बुद्धितत्व)
(३) सुखखोज में जीव	— +	तमगुण (भोग)
(४) जीव की निष्क्रियता	— +	प्राण, रजगुण, क्रियाशील,

यह अन्तःकरण ईश्वरीय आनन्द रूप "+" चिन्ह

वाले पदार्थ की खोज में अन्तः सुख भावना से प्रभावित सुख और आनन्द पक्ष में कमी दिखाने वाले ऋण चिन्ह युत "—" हैं अर्थात् ऋतं है। (चित्र नं० ७) इसका साधारण भाषा में यह अर्थ हुआ कि 'वासना'=सुख की प्राप्ति की अभिलाषा है अतः यह जीव अन्तःकरण द्वारा प्रकृति में सुख खोजता है।

चित्र नं० ७

जीव और अन्तःकरण के परमाणु

चेतन } ———— + } सत्वगुण
अल्पज्ञ } ———— + } ○

सुखाभिलाषी } ———— + तमगुण
निष्क्रिय जीव } ———— + ○ + ———— ○ रज

○ रज
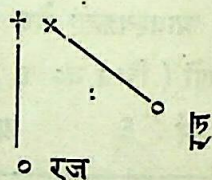
अब यह ऋण "—" चिन्ह युत अहंकार चतुष्टय के अणु 'तम गुण' विशिष्ट प्राकृत तत्व को आकृष्ट करते हैं। तम गुण रूप आधार, अन्न (सुख) है जो ईश्वरीय आनन्द की निकृष्ट (imitation) नक़ल प्रकृति क्षेत्र में है, परन्तु यह अमर आनन्द रहित है, क्योंकि तमगुण-अन्न तो प्राकृत प्राण (रज-गुण) द्वारा भक्ष्यमान है। फिर जीव का वह भक्ष्य नहीं रहा, तमगुण का

भोक्ता प्राण पहिले से उस तम को घेरे हुए है। अतः अन्त सुख भावना प्रकृति क्षेत्र में ईश्वरीय आनन्द की भारी कमी को प्रकट करती है वह इस नक़ली तमगुण से सन्तुष्ट, आत्मक्षेत्र में तो हो नहीं सकती। इस तमोगुण का भोग प्रकृति का रजोगुण (प्राण) निरन्तर कर रहा है, और वह रजोगुण (प्राण) अन्न को निरन्तर खा रहा है। जीव इस हेतु प्रकृति में आनन्द नहीं पाता कि वह तो आत्म तल का रहने वाला है, परन्तु वह रजोगुण प्राण और तमोगुण अन्न का (प्रजापति-मृत्यु रूप) कार्य निरन्तर देख सकता है, वह देखना है सत्व गुण की सहायता से। इस विचार से पता चलता है कि निरन्तर कर्म करके अर्थात् फल में आसक्ति न रखने, यानी रज व तमगुण को मन द्वारा त्यागने का क्यों श्रुति उपदेश करती है। केवल सत्वगुण युत अन्तःकरण के, जीव द्वारा आकृष्ट रहने से जीव प्रकृति का द्रष्टा मात्र रहा आता है । रजोगुण भी यदि आकृष्ट हो तो वह अपने को कर्त्ता * देखता है। तम आकृष्ट होने पर अपने को भोग में विद्ध मृत प्राय, शरीर द्वारा भोग्य बन कर विनष्ट होता है। रजोगुण-तम को पाकर जब अपनी वेग क्रिया का उपयोग और उपभोग करके साम्यता को प्राप्त करता है, तब सत्व गुण प्रधान मन शेष रह जाता है।

भोग रूप, अन्न मय, तमोगुण-केन्द्रस्थ ध्येय बनता है; यह 'सत्यं' है '+' चिन्ह वाला है। सचमुच ही प्राणी प्रकृति में

* अहंकार कर्त्ता न पुरुषः, सा० ६-५४।

इससे, इस अन्न से निरन्तर आकृष्ट हैं। प्राण—रजोगुण ही ऋतं है।

मन-प्राण की उत्पत्ति

हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार जड़ चेतन संयोग से, अर्थात् चेतना हीन प्रकृति और जीव की चेतनता के संयोग से, प्राकृतिक खोज में तत्पर बुद्धि, मन आदि अन्तःकरण बनते हैं। जीव चेतन होकर जड़ प्रकृति को तथा अल्पज्ञ होकर सत्वगुण को जब सुख प्राप्ति के हेतु आकृष्ट कर सत्व प्रधान मन आदि की सृष्टि करता है, तो सत्वगुण जिनमें व्याप्त है वह रज, तम भी मन के क्षेत्र में आये हुये समझना चाहियें, जैसा चित्र नं० ६ में दिखाया है। रज गुण ही प्राण रूप है। यह जीव को मन सहित प्राप्त हुआ जानना जाहिये। तमगुण भी प्राणमय रजो गुण के केन्द्र में आधार है, अतः इस तमगुण के संयोग प्रभाव से जीव को मन और प्राण सहित, स्थिति शील होकर, प्रकृति देश में ठहर गया जानना चाहिये। परन्तु जीव का संयोग उपादान रूप से और स्वरूप से प्रकृति के साथ नहीं हो सकता, क्योंकि जीव का निज आत्मतल प्रकृतितल नहीं है। यह प्राण ही है जो जीवों के सहचार में प्राकृत भोग को प्रकृति में से जीवों के अन्तःकरण की ओर लेजाता है। सुख की खोज व ज्ञान की प्राप्ति जीव का उद्देश्य है अतः इन 'मन बुद्धि' आदि की गति प्राकृत विषयों की ओर अवश्यम्भावी है। इधर गति हेतु, रजोगुण प्रकृति से आना आवश्यक है। इस प्रकार

सत्वगुण के साथ र रजोगुण विशेष मात्रा में और आंशिक तमोगुण को लेकर प्राण की रचना होती है। दृष्टान्त के लिये रक्त भाग में (गर्मी) प्राण इन तीनों गुणों को साथ लिये हुए है, रक्त में भस्मीभूत अन्नभाग 'तम', जो गर्मी उसे लाल चमकीला रंग देती है वह सत्व, जो गति प्राण वायु के मिलने से आई है वह रजोगुण है।

यह प्राण जब तक मन आदि के सात्विक प्रधान परमाणुओं से संयुक्त न हो, मन आदि शिथिल (क्रियाहीन) हो जावेंगे। परन्तु इस प्राण को मन से संयुक्त बनाये रखने के हेतु यह आवश्यक है कि तमोगुण को अर्थात् अन्न को, प्राण के क्षेत्र में रखा जावे। प्राण, तम से आकृष्ट होकर उसके चारों ओर गति करेगा, और तब वह गति शील प्राण तम केन्द्र द्वारा बन्ध जावेगा। इस हेतु जहां 'मन बुद्धि चित्त अहंकार' प्राण से संयुक्त "—" ऋण चिन्ह युत ऋतं कहे जावेंगे, तो इनके विषय सूक्ष्म पंचभूत, भोग, ध्येय, ऐश्वर्य, और अन्न को हम धन '+' चिन्ह द्वारा 'सत्य' कहेंगे। क्योंकि ऋणात्मक 'ऋतं' सदा ही वे पदार्थ हैं जो धनात्मक 'सत्य' के चारों ओर गति करें। 'भोग प्राप्ति' उद्देश्य और गन्तव्य हैं अतः 'सत्यं' है मन, बुद्धि, प्राण यह 'ऋतं' अर्थात् गतिकर्त्ता हैं। + चिन्ह से स्वभावतः बहुतायत '—' चिन्ह से कमी द्योतित होती है अतः इन दोनों का एक दूसरे के प्रति आकर्षण स्वाभाविक हुआ:—सत्यं ही आधार बना है ऋतं ही आश्रय परायण है।

भौतिक अणुरचना

अब प्रकृति के उस भाग में आइये जहां जीव का समावेश नहीं हुआ अर्थात् मानसिक क्षेत्र को छोड़ शुद्ध भौतिक क्षेत्र में आइये।

ईश्वरीय तपः तेज इस सम अवस्थावाली प्रकृति में सत्व गुण रूपी प्रकाश को उत्पन्न करता है, वह तेज ही रजोगुण रूप से आणविक शक्ति और विद्युत शक्ति के क्षेत्र को साम्य प्रकृति में उत्पन्न करता है; और तमोगुण रूप से प्राकृत सूक्ष्म भार मय परमाणु की भी वह ईश्वरीय तपः तेज ही रचना करता है। अणु को लीजिये इसमें दो परमाणु हैं एक तमगुण प्रधान स्थिति शील + चिन्ह वाला विद्युत् भार जिसे proton कहते हैं, दूसरा गति शील — चिन्ह वाला जिसे electron कहते हैं। दोनों के बीच में विद्युत क्षेत्र व्याप्त है जो पहिले स्थिति शील केन्द्रस्थ परमाणु का दूसरे गति शील विद्युत परमाणु को आश्रय परायण बनाये है। यह विद्युत क्षेत्र सत्वगुण (विद्युत् तेज) से व्याप्त है। इन दोनों परमाणुओं को पृथक् करें:— वाह्य बल (विद्युत आघात) से विस्फोट द्वारा पृथक् २ करें, तो सत्व गुण रूप विद्युत् तेज लहरों के रूप में प्रवाहित होगा। यदि इन पृथक् '+' और '—' परमाणुओं को मिलने दें तो भी व्याप्त विद्युत, सत्व गुण रूप, प्रकाशित चिनगारी के रूप में प्रकट हो जायगा।

अतः शुद्ध भौतिक संसार की सृष्टि में हमने देखा कि — सत्व गुण अर्थात् प्रकाशमान तथा रजगुण क्रिया शील और तमगुण केन्द्रस्थ भार, ये तीन प्रकृति के गुण हैं। केन्द्रस्थ तमगुण (अन्न भाग) को ही 'सत्यं' अर्थात् विद्युत का केन्द्रीय स्थिर परमाणु (Proton,) कहते हैं जिसकें चारों ओर गतिवान "ऋतं" रजोगुण को ही विद्युत् का गतिशील परमाणु (Electron) कहते हैं। तथाच इनके सङ्घात और वियोग से जो तेज की लहरें प्रवाहित होती है वे ही 'तपसः' सत्वगुणयुत प्रकाश गुण वाली (X ray) इत्यादि किरणें हैं। इसी प्रकार गुणों के संयोग से विद्युत् की लहरों के अनुकूल चुम्बक शक्ति की लहरें * ध्रुवांशों के बीच प्रवाहित होती हैं। प्रकाश की लहरें (waves), विद्युत लहर और चुम्बक लहर के क्रमशः सम्मुख और पार्श्व दिशा में गति करने से, ऐसी दिशा में प्रवाहित देखी जाती है जो ऊपर नीचे की दिशा है, अर्थात् विद्युत्, चुम्बक, प्रकाश ये तीनों लहरें सदा एक दूसरे वा तीसरे से समकोण बनाती हुई दिशाओं में प्रवाहित होती है। जब विद्युत '+' और '—' अणुओं में सङ्घात वा वियोग होता है तो विद्युत् तेज
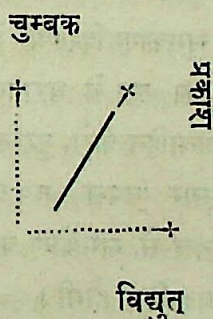
चुम्बक

प्रकाश

विद्युत

*ध्रुवांश—magnetic poles.

ही मानों स्थूलतर बन कर चिनगारी वा प्रकाश किरण के रूप में, आगे बढ़ता है। इस विद्युत, चुम्बक और प्रकाश किरण के समीकरण में विद्युत् और चुम्बक परस्पर 'ऋतं और सत्यं' वा 'सत्यं और ऋतं' बन जाते हैं और प्रकाश किरण "तपसः" है।

यदि विद्युत् को केन्द्र में पैदा करना है तो ❀ ध्रुवांशों के बीच केन्द्र में गोल तार को "ऋतं" रूप घुमाया जावे, केन्द्रस्थ तार में विद्युत् मानो 'सत्यं' प्रकट होगा। इसी प्रकार चुम्बक शक्ति को लोहे के पदार्थ में. पैदा करना हो तो लोह पदार्थ को केन्द्र में रख कर विद्युत को 'ऋतं' रूप लोहे के चारों ओर तार में प्रवाहित किया जावे। यदि पार्थिव तेज प्रकाश किरण पैदा करना है तो सूक्ष्म तेज को—अर्थात् विद्युत् और चुम्बक धाराओं को एक दूसरे से समकोण बनाते हुए 'ऋतं और सत्यं' रूप प्रवाहित करो, अर्थात् समकोण दिशाओं में इन दोनों को इस पृष्ठ के धरातल में साथ साथ प्रवाहित करो, तुरन्त चित्र के अनुसार 'तपसः' रूप प्रकाश किरण,इन विद्युत् और चुम्बक के धरातल से समकोण बनाते हुए, कागज़ पर ऊपर नीचे लम्ब रूप प्रवाहित होगी।
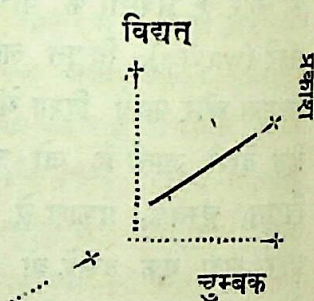
❀ Magnetic poles.

इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को उलट कर भी देख सकते हैं कि, यदि प्रकाश किरणके तपसः रूप को कागज पर ऊपर से गिरते हुए आने दिया जावे तो कागज़ के धरातल में समकोण दिशाओं में विद्युत् धारा तथा चुम्बक धारा प्रवाहित होंगी। हम यह लिख आये हैं कि यदि विद्युत् को स्थिर 'सत्यंरूप' केन्द्र में उत्पन्न करना हो तो चुम्बक धारा को केन्द्र के चारों ओर घुमाना पड़ेगा अर्थात् उसे 'ऋतं' बनाना पड़ेगा तदनुसार ही यदि चुम्बक को केन्द्र में स्थिर 'सत्यं' रूप उदय करना हो तो विद्युत् धारा को केन्द्र के चारों ओर प्रवाहित करना पड़ेगा। इस प्रकार ऋतं और सत्यं रूप पदार्थ क्रमशः 'सत्यं और ऋतं' बन जाते हैं (इसी हेतु ऋतं और सत्यं दोनों ही निघण्टु में उदक (जल-प्रवाहित पदार्थ) के नामों में पठित हैं)। यह भी स्पष्ट है कि तेज की लहरें जैसे विद्युत् और चुम्बक की लहरों से सम्बन्धित हैं, इसी प्रकार "तपसः" का इन ऋतं और सत्यं से वैज्ञानिक सम्बन्ध है। इन सत्व, रज, तम गुणों से, जो प्रकाश (तपसः), क्रिया (ऋतं), और स्थिति शील (सत्यं) पदार्थों के वाचक हैं, सूक्ष्म सत्वगुण को विशेष मात्रा में लेकर, मन बुद्धि तथा प्राण आदि, तेजोमय, सत्व प्रधान, आध्यात्मिक पदार्थ बनते हैं; एवं इन से प्रभावित एक ओर इन्द्रिय तथा दूसरी ओर इनके दृष्टव्य, सात्विक, राजसी, व तामसी पदार्थ, सूक्ष्म पृथ्वी जल आदि बनते हैं। गतिशील (ज्ञान गमन प्राप्ति में साधक) इन्द्रिय मन प्राण आदि "ऋतं" हैं, तथा भोग्य भौतिक विषय, पृथ्वी जल

आदि "सत्यं" हैं; तथाच (ज्ञान) तथा मनोमय, इन्द्रिय तेज, व प्राण शक्ति, तथा भौतिक प्रकाश, विद्युत् तेज इत्यादि, तपसः कहे जावेंगे, जो इन भोगों (सत्यं) को मन और इन्द्रिय (अर्थात् ऋतं आदि) के प्रति प्राप्त कराने में हेतु हैं।

मूल ब्रह्म से ज्ञान, जो जीव और प्रकृति, तथा सृष्टि और प्रलय से सम्बद्ध था, अन्तः उदय होकर प्रकट हुआ है, जिसका उद्देश्य जीवों के प्रति स्नेह रूप जल का बहाना है। अभितप्त ब्रह्म से तपसः अर्थात् ज्ञान और तेज तथा ऋतं और सत्यं रूप नाना गतिशील आश्रय परायण पदार्थ, और स्थिर आधार रूप अन्नमय भोग, उत्पन्न हो रहे हैं। ये सब उसी मूल ब्रह्म के आश्रित हैं। सुख दुःख ऐश्वर्य की देने वाली (रात्रिः) सृष्टि, इन 'ऋतं' और 'सत्यं' और 'तपसः' रूप (प्रारम्भिक तथा अनन्तर सृष्टि रचना में) नाना अर्थ वाले पदार्थों की उत्पत्ति से सम्भव हुई है। इधर जहाँ सृष्टि में विशिष्ट पदार्थों की उत्पत्ति हो रही है तो महद् आकाश (Ether) गति का स्थान बन रहा है। इस प्रकार क्रमशः (सम्वत्सर)* प्राणशक्ति, काल—दिशा (Directional Space) और ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुए।

इन काल दिशा का सम्बन्ध सभी से है; ब्रह्मांड में सभी सृष्टि के पदार्थ समाये हुए हैं। परमात्मा ही इस सृष्टि और प्रलय के क्रम को धारण करता है। वही प्राण और मन रूप

* प्राणो वै संवत्सरः तां० । ५ । १० । ३ ।

आध्यात्मिक जगत को, वा प्राण और रयि रूप जोड़े को, अनेक रूप में तपः–तेज से उत्पन्न व धारण करता है। इधर द्युलोक स्थित ग्रह उपग्रह इन्द्रियें, सूक्ष्म पञ्च महाभूत और समस्त दिव्य शक्तियें, तथा पृथ्वी और स्थूल आकाश वही परमात्मा बनाता है, तब कहीं उसी ब्रह्म द्वारा जीवों के (स्वः) कल्याण हेतु सृष्टि रचना होती है, और वे जीव अन्तः सुख भावना से प्रेरित (स्वः) निज कल्पना अनुसार इस सृष्टि में (स्वः) सुख दुःख का विस्तार प्रतीत करते हैं।

इस सृष्टि विज्ञान से स्पष्ट हमने देखा कि हमारी अन्तः सुख भावना, उसी ब्रह्म की स्नेह-धारा पान की अनुस्मृति से उदय हुई है। उसी सुख को—हम ब्रह्म से व्याप्त व प्रभावित, ज्ञान, स्नेह, और तप धाराओं में खोजते हैं। सत्व, रज, और तम गुण ही (तपसः ऋतं और सत्यं रूप से) सारे विश्व के बनने बिगड़ने में उपादान हैं। यह बनना बिगड़ना विश्व का, हमारे प्रति ज्ञान द्वारा, उसी ब्रह्म की विभूतियों का दर्शन कराता है। आज हम विश्व की रचना क्रम जान लेने पर इस योग्य हुए हैं कि उत्पत्ति और विनाश (अघ) के रहस्य * को समझ कर अमर शक्तियों की खोज और प्राप्ति में लगें। आओ

---

* गीता में यही भाव "कं घातयति हन्ति कम्" तथा, 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' कह कर प्रकट किया गया है। सच है केवल 'प्राण और अन्न' ही भोक्ता और भोग्य बने हैं—जीव, ब्रह्म और मूल प्रकृति अमर (Indestructible) हैं।

विश्व की भिन्न२ दिशाओं में मनसा परिक्रमा मन्त्रों द्वारा खोज करें, कि किस २ दिशा में किस "तपसः" तेज का आधिपत्य है, उन दिशाओं में कौन (सत्यं) रूप स्थिर 'अन्न' पदार्थ हैं, जो सृष्टि-क्रियाओं के 'रक्षक' बन कर सृष्टि को धारण करते हैं, तथा कौन 'ऋतं' रूप पदार्थ (इषु) उस दिशा में उपलब्ध हैं।

मन्त्र (८)

मनसा परिक्रमा मन्त्र (१)

ओ३म् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽदित्या इषवः। तेभ्योनमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योअस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १

ओ३म्। प्राचीदिक्। अग्निः। अधिपतिः। असितः। रक्षिता आदित्याः। इषवः। तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः॥

शब्दार्थः—

प्राची दिशा है। अग्नि अधिपति है। असित (प्रकाशहीन पदार्थ) रक्षिता है। आदित्य इषु हैं। उस प्राची दिशा के रहस्य को हम जानें। अग्नि जो उस दिशा का अधिपति, है उसके गुणों

को हम जानें। असित जो अग्नि का रक्षक है उसकी महत्ता को हम जानें। आदित्य जो इषु हैं उनकी महत्ता जान कर हम उन्हें अनुभव प्रयोग में लावें। इन सब — अर्थात् अधिपति, रक्षक, तथा इषुवर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा सामूहिक और पृथक् पृथक्—लक्षण, परिणाम, तथा प्रयोगों की दिव्यता के आगे हमारा शिर झुक जावे। जो हम में पारस्परिक द्वेष आदि वर्त्त रहे हैं--उन्हें हम उपरोक्त पदार्थों के दिव्य ज्ञान द्वारा दूर करें। इति ॥

भावार्थ तथा वैज्ञानिक विवेचन

आधिदैविक पक्ष में:—

"अग्निः अधिपतिः असितः रक्षिता"

पूर्व दिशा में सूर्योदय के साथ साथ, अग्नि का साम्राज्य प्रारम्भ होता है। इस अग्नि को स्वभावतः, समय पाकर, बुझ जाना चाहिए जब तक कि, ईंधन बराबर अग्नि में पड़ कर उसे प्रज्वलित न करता रहे। सूर्य का भी विशेष भाग "असित"※ काले पदार्थ (कोयले के समान)—ईंधन का बना हुआ है। यह काला पदार्थ, जिसका प्रमाण सूर्य में, दूर-वीक्षण यन्त्र (Telescope) द्वारा प्रत्यक्ष मिलता है—सूर्य में काले धब्बे (Sun

※उ० को० (३—८६) सिनोति—बध्नाति इति सितम्—शुक्लंवा—तदेवं असितं—अशुक्लं—कृष्णंवा। अग्निः वा असितग्रीवः, श० १३—२—७—२।

Spots) करके प्रसिद्ध है। यह काला पदार्थ (सित) सूर्य की श्वेत रश्मियों से भिन्न है। श्वेत किरणें—सूर्य की रंगीन सप्त किरणों की सामूहिक रूप हैं। प्रकाशहीन काला पदार्थ—केन्द्रीय अन्न रूप वह विद्युत्-भाग है जिसमें अभी गतिशील विद्युत् परमाणुओं का संयोग नहीं हुआ। केन्द्रीय काला विद्युत् भाग, अपने चारों ओर गतिशील विद्युत् परमाणुओं को, अर्थात् प्राण को जब वाह्य वायुमण्डल से--स्वयं अन्न रूप हो कर—आकर्षित करता है, तब सूर्य-मण्डलाकार अणुओं * (atoms) की रचना होती है। यह अणु (atoms) केन्द्रीय विद्युत् भाग (+Proton) की अपेक्षा महत् आकार वाला होता है। फिर अणु स्वयं आकार में अति छोटा होता है। और केन्द्रीय विद्युत् भाग (Proton) अणु (atom) की अपेक्षा उतना ही छोटा है जितना कि सूर्य मण्डल की अपेक्षा हमारी पृथ्वी। इसी भांति गति शील इलेक्ट्रन की परिधि के भीतर का सारा स्थान, हाइड्रोजन (आर्द्रजन) गैस के अणु में निहित है, यद्यपि उसकी अपेक्षा केन्द्रीय विद्युत् भाग (proton) अति सूक्ष्म है।

अणु (atom) का भार केन्द्रीय विद्युत् भाग (Proton) के भार के बराबर ही सा है और गतिशील विद्युत् परमाणु लगभग भार रहित—केन्द्रीय विद्युत् भाग की अपेक्षा और भी अधिक सूक्ष्म है। इन केन्द्रीय तथा गतिशील परमाणुओं की,

---

*ऋ० मं० १ सू० ५-मं १,२,३,५,६ जिनमें अणु तथा विद्युत् परमाणुओं का विस्तृत वर्णन है।

संख्या तथा गति क्रम के भिन्न २ होने से भिन्न २ पार्थिव आदि तत्वों की रचना होती है।

अतः सिद्ध है कि सृष्टि कणों* (Matter) की रचना के आधार, यह भार युत केन्द्रीय विद्यूत् परमाणु हैं जो स्वयं अन्न बन कर—गतिशील परमाणुओं को 'प्राण' रूप आकृष्ट कर अनन्त अग्नि को प्रकट करते रहते हैं। यह केन्द्रीय विद्युत् भागांश (+ Positive Electrical mass), पार्थिव कणों की अपेक्षा अत्यन्त छोटे होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सूर्य के भीतर ठस ठस कर—अग्नि के स्रोत, यह केन्द्रीय विद्यूत् परमाणु—अनन्त अग्नि को उत्पन्न ‡ करने की सामर्थ्य रखते हैं। मानों सूर्य के भीतर अग्नि उत्पन्न करने वाला ईंधन सुरक्षित है। सूर्य के धरातल पर—केन्द्रीय ईंधन द्वारा—आकृष्ट हो कर–वायुमण्डल से—चिनगारी वा प्राण रूप से, जैसे २ गतिशील विद्युत् परमाणु संयुक्त होते जावेंगे वैसे ही वह केन्द्रीय भाग खर्च होकर अग्नि को प्रकट करता रहेगा। और वह अग्नि

*परमाणुओं के संघात से अणु (atom), और अणुओं के संघात से त्रसरेणु (molecules) और त्रसरेणुओं के संघात से कण (Particles of matter) बनते हैं। परमाणु, विज्ञान की परिभाषा में, (Proton) प्रोटन व (Electron) इलेक्ट्रन नाम से प्रसिद्ध हैं।

‡ ऋ० मं १, सू० ५, मं० ५, 'सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये' यह दीप्तिमान गतिशील परमाणु केन्द्रस्थ विद्युत भाग के आश्रय में (आकर्षण शक्ति) के उपभोग हेतु गति करते हैं।

रसों को सुखा कर और पका कर पञ्च महाभूत पृथ्वी जल आदि पदार्थों के सूक्ष्म कणों की रचना करेगी। सूर्य की, आगे उत्पन्न होने वाली अग्नि को, सुरक्षित रखने को यह अद्भुत (असित—काला) ईंधन है।

"आदित्या इषवः"

अग्नि प्रकट होने के साथसाथ ही वायव्य परमाणु—जिनसे गतिशील विद्युत परमाणु झटक कर केन्द्रीय विद्युत भाग की ओर खिंचकर पृथक होगये हैं—शीघ्र शीघ्र कम्पने तथा हिलने लगते हैं। यह कम्पन गति ही उन परमाणुओं को गरम करती तथा किरण (आदित्याः) ❀ रूप से आकाश में फैलती हुई भिन्न भिन्न रङ्ग वाली सात किरणों को जन्म देती है। यह सात रङ्ग—लाल, नारङ्गी पीला, हरा, नीला, गहरा नीला, बैंगनी—हैं। भिन्न भिन्न कम्पन की संख्या-प्रति सैकन्ड भिन्न भिन्न होने से—भिन्न भिन्न रङ्ग वाली किरण लहराती हुई, आकाश में फैलती हुई हम तक आती हैं। यही आदित्य ‡ हैं जो 'इषु' रूप हम तक वा पृथ्वी आदि उपग्रहों तक पहुँचती और रसों को हमारे प्रति लाती हैं।

❀ (नि०दै० १२-४-३४-२४) सात द्युलोकस्थ आदित्य गण हैं।

‡ नि० दै० ११-२-२०-१६ में अदिति तथा 'दक्ष, मित्र, वरुण आदि सप्त आदित्यों के प्रसङ्ग में सप्त रश्मियों का व्याख्यान देखो—जिसमें रश्मियां रसों को ग्रहण करती हैं। "रसान् आदत्ते अयम् आदित्यः" नि० नैघं० २-४-१३। एवं प्रमाण से रश्मियां ही आदित्य हैं।

इन सात किरणों का सामूहिक रूप श्वेत किरण† अर्थात् प्रकाश किरण है।

इन प्रकाश किरणों के साथ साथ गरमी की किरणें भी हम तक आती है जिन्हें ताप किरण ❀ Infra red rays—Heat waves) कहते हैं, सूर्य-मण्डलस्थ वायव्य परमाणुओं के गरम होजाने से यह उत्पन्न होती हैं और आकाश को पार करके हम तक पहुँचती हैं। इनकी कम्पन संख्या प्रति सेकंड, लाल किरणों की कम्पन संख्या (Frequency) से कम है।

ताप किरण, तथा श्वेत प्रकाश किरणों* के अतिरिक्त

---

† सप्तह वैते (आदित्याः) अविकृतंहि आष्टमं जनयांचकार मार्तण्ड" श० ३-१-३-३ ॥

सात किरणें और आठवीं अविकृत श्वेत किरण यह आठ ही सूर्य से उत्पन्न, सूर्य की किरणें आदित्य कहलाती हैं।

इसी प्रकार तां० २४-१२-५/ ६, में लिखा है।

तां० २३-१२-३ में भी "सप्त आदित्याः" स्पष्ट लिखा है।

❀ तद् विअच्चरत् तद् आदित्यम् अभितः अश्रयत् तद् वा एतद् यत् एतद् आदित्यस्य रोहितं रूपम्। छां० ३-१-४।

वे (आदित्य) किरणें विशेष रूप से व्याप्त होती हुई सूर्य के आश्रित हैं जो यह सूर्य का रोहित (लाल) वर्ण दिखाई देता है।

* तद्विअच्चरत्' ''यत् एतद् आदित्यस्य शुक्लं रूपम् (छां० ३-२-३) यह (आदित्य) किरणें व्याप्त होती हुई सूर्य के आश्रित हैं जो इस सूर्य को श्वेत रूप में दिखाती हैं। अथ यत् एतत् आदित्यस्य शुक्लम् भाः सा एव ऋक्— (छां० १-६-५) सूर्य की श्वेत किरणें ही ऋक् हैं।

अधिकतर कम्पन करती हुई प्रकाश रहित जो गहरी नीली+ अत्यन्त काली (Ultra violet rays) किरणें कहलाती हैं, ये रसायनिक क्रियाओं को उत्पन्न करने की क्षमता रखती हैं। बन्द फ़ोटो के शीशे पर अपना असर करती हैं। और फेफड़े में स्थित रोग कीटाणुओं को नष्ट कर, महाऔषधि का काम करती हैं।

इन गहरी नीली (यत् नीलं परः कृष्णं) किरणों से भी सूक्ष्मतर अन्य किरणें हमें सूर्य से प्राप्त होती हैं, जो सीसा (Lead) तथा जल की गहरी तह तक पार जाती हैं, ये कृष्ण किरणों से भी कृष्ण (परंकृष्ण) ※ अत्यन्त प्रकाश हीन होने से बहुत काली हैं पर अभेद्य पदार्थों के भी पार जाती हैं। इन सब किरणों के गुण प्रभाव को जब हम जान लेते हैं तभी इनमें भरे ऐश्वर्य के प्रति (तेभ्योनमः) हम नत मस्तक होते हैं। नित्य प्रातः समय—उषाकाल से लेकर सूर्योदय तक सूक्ष्मतर किरणों

+ तद् विश्रक्षरत्......यत् एतत् आदित्यस्य कृष्णं रूपम्। (छां०-३-३-३)। सूर्य की काली किरणों का वर्णन है।

अथ यत् नीलं परः कृष्णं तत् साम। (छां०-३-३-३)। नीले किरण के परे कृष्ण (काली) किरणों का वर्णन है।

※ तत् विश्रक्षरत्.... यत् एतत् आदित्यस्य परं कृष्णं रूपं (छां० ३-४-३) इति। अत्यन्त कृष्ण किरणों का उल्लेख है।

की प्राप्ति (इषवः) * हमें अधिक होती रहती है। किस प्रकार उपरोक्त सभी किरणें वृक्षादि को वृद्धिगत करतीं तथा हमारे हेतु नित नई अग्नि के आधार रूप नये ईन्धन की सृष्टि करती हैं यह जान कर तथा इनके अनन्त भौतिक, रसायनिक, तथा औषध प्रयोगों को जान कर हम इनमें अन्तर्हित महत्ता, गुण, तथा ऐश्वर्य के सामने नत मस्तक होते हैं।

अन्य विचार

इधर (प्राचीदिक्) ग्रीष्म ऋतु में अग्नि का साम्राज्य है। यह अग्नि (प्राची) सबसे प्रथम, जल को भाफ बनाकर बादल के रूप में परिणत करती है। काले काले (असित) बादलों में अग्नि सुरक्षित है तथा (आदित्याः इषवः) सूर्य की किरणें इस अग्नि को हम तक (इषु) पहुँचाती हैं। यज्ञ की अग्नि के द्वारा भी इन बादलों को हम भस्मीभूत औषधि द्रव्यों से प्रभावित करते हैं। अग्नि इन हव्य पदार्थों के सूक्ष्म परमाणुओं में, जो (असित) दिखाई नहीं देते, अन्तर्हित है। सूर्य की किरणें पुनः वर्षा द्वारा इस हव्य अन्न तथा तेज को हम तक (इषु) पहुँचाती हैं। यह जानकर हम इन यज्ञों का (नमः) श्रद्धा के साथ पालन करें। अच्छा हो यदि अग्नि, काष्ठ आदि अग्नि के उत्पादक, तथा अग्नि और तेज की प्रसारक किरणों

---

* इषु—ईषते गतिकर्मणः। गति-ज्ञान, गमन, प्राप्ति ।

नि० दै० ६-२-१८-१४।

के प्रयोगों द्वारा, विभिन्न आग्नेयादि शस्त्र, वा नील किरण यन्त्रों (arclight) द्वारा, हम पृथ्वी पर रोग रहित वा शत्रु रहित हों। रोग के कीटाणुओं अथवा द्वेष भाव से प्रेरित शत्रुओं के (जम्भेदध्मः) संहार में इनका प्रयोग हो।

आध्यात्मिक पक्ष में:—

उषा काल से सूर्योदय तक जो सूक्ष्म तर किरणें प्राप्त होती हैं उनका प्रभाव यह होता है कि इन किरणों की विद्यमानता में, वायुमण्डल में, (Carbon-di-oxide) प्रश्वास वा भस्मीभूत कोयला मिश्रत गन्दी वायु से, वृक्ष स्वयं अन्न रूप में कोयला अंश खींच लेते हैं, और बची हुई तेज प्रधान (Oxygen) प्राण-वायु को वायु मण्डल में छोड़ देते हैं। इधर मनुष्य-रक्त में जो अन्न भाग है वह 'असित' काले रक्त के रूप में फेफड़े में प्राप्त होता है। उस काले अन्न वा ईन्धन से युक्त रक्त से, प्रातः वायु जो, (Oxygen) प्राणवायु से भरपूर है—सम्बद्ध होती है। रक्त का अन्नभाग प्राणवायु द्वारा मानो भस्म हो रक्त में गरमी उत्पन्न करता है। इस गरमी अर्थात्-शरीरस्थ अग्नि का रक्षक वह (असित) अन्न युक्त रक्त ही है, जो प्राणवायु से सम्बद्ध हो शरीर में नव जीवन का संचार करता है। फेफड़ा इसका (प्राची) पूर्व स्थान है। यह अग्नि हमारे अङ्ग प्रत्यङ्ग में ‡ 'मित्र'—चक्षु आदि इन्द्रिय शक्ति रूप से भोगों के ग्रहण में सहायक, और प्राण रूप से, जीवन दाता, तथा शीघ्रगामी रश्मियों (वाह्य प्रकाश) द्वारा

‡ नि० दै० १०-२-२३-१३।

संसार को प्रत्यक्ष करने हारी 'वरुण'÷ रूप में, तथा शरीर को नवजीवन देने वाली 'धाता ¶ रूप में, तथा (White corpuscles) रोग कीटाणुओं से शरीर की रक्षक व मल को दूर करने वाली ❀ 'अर्यमा' रूप से, तथा च (Oxgyen) भग + रूप से मनुष्य को पोषण करती और बल प्रदान करती है। यही अग्नि अंश'❀ रूप से हमारी जीवन शक्ति को नये रक्त कणों के निर्माण द्वारा बढ़ाती है तथा 'दक्ष* वा इन्द्र' रूप से हमें प्राण वा मनोबल की प्रदाता है। सारांश यह कि "मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, भग, अंश, दक्ष वा इन्द्र" इन सात वा आठ आदित्यों के रूप में ही इस अग्नि की प्राप्ति हमें होती है अतः यह आदित्य † ही

÷ नि० दै० १२-२-११-१३।

¶ नि० दै० ११-१-६-६। धाता सर्वस्य विधाता (बहु जीविका देने वाली।

❀ नि० दै० ११-२-२०-१६। (अर्यमा आदित्यः अरीन् नियच्छति) मलनाशक।

+ नि० दै० १२-२-४। सूर्योदय से पूर्व, सूर्य शक्ति पोषण करती तथा बल देती है।

❀ नि० नैघं० २-२-५। शं० पूर्वक अशूङ् धातु से व्याप्ति अर्थ में 'उ' प्रत्यय बहुलता में। 'अथवा अननायं शं भवति,' जीवन के लिये

* नि० दै १०-१-६-४। इन्द्र=विद्युत् वा प्राणबल, दक्ष=इन्द्र।

† नि० नै० २-४-१३। आदत्ते रसान्—आदत्ते भासं ज्योतिषां—आदीप्तः भासेति वा—नि० दै० १२-४-३४-२४॥

इषुवर्ग हैं।

शरीरस्थ फेफड़े में उदय होने वाली अग्नि—उसकी उत्पत्ति, लक्षण तथा कार्यों की महत्ता को हम जानें तथा उनके द्वारा शरीर में होने वाले रोगों को दूर करें तथा इन्द्रिय शक्ति, मन, और बुद्धि के संयम और समुचित प्रयोग से हम शत्रुओं का विनाश तथा प्रेम का विस्तार करें।

आधिभौतिक पक्ष में

पृथ्वी तल पर, कोयला, तेल, वा ईन्धन से प्रायः अग्नि प्रकट होती है। यह पदार्थ, भूगर्भ से वा वृक्षों से हमें प्राप्त होते हैं। वृक्षों के जंगल पुरा काल से पृथ्वी तल में दब कर खानों में प्राप्त, कोयला और तेल के रूप में परिणत हुए हैं। इन वृक्षों का काष्ठ—वायुमण्डल स्थित कोयले की गैस से, कोयला भाग को सूर्य किरणों द्वारा पृथक कर लेने से, वृक्षों में प्राप्त हुआ है। इस प्रकार उस भौतिक अग्नि का आधार पृथ्वी तल पर 'असित' काष्ठ वा कोयला—ईन्धन है, जो स्वयं भी सूर्य के तेज का कार्य है। सूर्य के तेज का आधार सूर्य गर्भ में स्थित 'असित' काले धब्बे हैं। यह काले धब्बे, गतिशील परमाणु के (असित)* संयोग से रहित, केन्द्रीय भारयुत विद्युत् परमाणु हैं। अतः "असितो रक्षिता" अग्नि का इस पृथ्वी तल पर साम्राज्य है। "आदित्याः" सूर्य की किरणें इस अग्नि की प्राप्ति वृक्षों में

* (उ० को० ३-८६) सिनोति बध्नाति इति सितम्—अबध्नाति इति असितम्। बन्धन रहित।

रस पाक द्वारा, ईन्धन वा अन्न के रूप में कराती हैं।

अग्नि तथा जल के संयोग से विस्तृत वाष्प रूप में जल का प्रसारण (Expansion) होता है। पैट्रोल को जलाकर गैस अधिक स्थान को घेर कर बहुत आकार वाली हो जाती है।* यह वाष्प वा गैस 'आदित्याः इषवः' आदित्य रूप से ही व्याप्त तेज की, कार्य रूप में हमें प्राप्ति कराती है—अर्थात् यह वाष्प वा गैस रेल तथा मोटर के इञ्जनों को घुमाने वाले पिस्टन को धक्का देती है। अग्नि को ही वाष्प वा गैस (आदित्य) में देकर हम उसे काम्य † कर्म की सिद्धि हेतु भिन्न भिन्न स्थानों में (इषु) पहुंचाते हैं। इञ्जन और डाइनेमो से वा रसायनिक क्रिया द्वारा बैटरी से, तारों में बहती हुई विद्युत धारा+ (प्राण-तेज शक्ति) हमारे घरों में लैम्प जलाती तथा अन्य अनेक कार्य करती है। अतः पूर्व स्थानीय संसार में—उन्नति, यश, और

---

* भूमौऽएष देवानाम् यत् आदित्याः (श० ११-६-३-८) जल अग्नि आदि देवों का अधिक तम बहुलता को प्राप्त होना आदित्यों का रूप है।

† युंजंति अस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे, शोणा धृष्णू नृवाहसा। ऋ० मं० १ सू० ६ मन्त्र २। स्थिर धुरी पर घूमते हुए पहिये (Fly wheel) से दूसरी ओर पहिये में माल (belt) के सहारे गति को ले जाते हैं।

+ प्राणः वा आदित्यः। (जै० उ० ४-२-६)

बलप्राप्ति के पथ * में अग्नि का साम्राज्य है। 'असित' पदार्थ, जो भस्म नहीं हुए, वा जिनकी शक्ति, कार्य रूप में परिणत, प्रयुक्त होकर, प्रकट नहीं हुई—उन कोयला, पैट्रोल, रसायनिक तेज़ाब, बारूद, इत्यादि पदार्थों से यह अग्नि प्रकट करो। उन 'असित' पदार्थों को, वाष्प, गैस, घोल (Solution), विद्युत् प्रवाह आदि (आदित्यों) के रूप में परिणत प्रयुक्त करो। इन सब के लक्षणों तथा कार्यों को जान कर अपने को रोग रहित तथा शत्रु रहित करो।

वैदिक विज्ञान तथा ईश्वर पक्ष में:—

सब से पहिले सृष्टि के आरम्भ में 'अग्नि' ऋषि द्वारा ऋग्वेद का, तथा नित्य प्रति मनुष्य के हृदय में बाह्य दृष्टि के साथ साथ अन्तः विवेचन और अनुभव द्वारा, परमात्म-प्रभावित ज्ञान रूप प्रकाश वा "अग्नि" का उदय होता है। यह विज्ञान उन प्राकृतिक पदार्थों की बाह्य चमक से नहीं परन्तु प्राकृतिक चमकदार पदार्थों की "असित" अन्तर्हित ईश्वरीय शक्तियों के अनुभव, तथा प्रयोग से उत्पन्न होता है। जो मनुष्य सूर्य, चन्द्र, इन्द्र (विद्युत्) आदि के बाह्य प्रकाश से चकित हो उनकी पूजा करते रहे वे तो असभ्य जङ्गली रहे आये; जिन्हों ने उनकी अन्तर्हित (असित्) दिव्य शक्तियों का तथा परमात्म-देव की विभूतियों का अनुभव किया वे रोग तथा शत्रुओं से रहित हुए; और

* तेजो वै ब्रह्मवर्चसं प्राची दिक्। (तै० ३-१२-६-१)

ज्ञान प्रयोग द्वारा ऐश्वर्य के भी स्वामी बने। इस पूर्वस्थानीय सृष्टि में ईश्वरीय शक्ति का सम्राज्य है निज कार्यों के सम्पादन हेतु—मार्गदर्शक वे शक्तियें ही हमारे प्रति निज गुणों का प्रकाश करती हैं। इन ईश्वरीय (दिव्य) शक्तियों की, वाह्य संसार में तथा योगी के हृदय में, केवल स्वाध्याय, निदिध्यासन, तथा संयम प्राणायाम आदि (आदित्यों) * के द्वारा प्राप्ति होती है। प्राणायाम आदि आदित्य—ही 'इषु' हैं। इन सब को हम यथावत् जानकर, ज्ञान, ऐश्वर्य, और भक्ति का विस्तार करें तथा काम क्रोध आदि शत्रुओं से निज रक्षा करें। इन्द्रिय + निग्रह (ब्रह्मचर्य), प्राणायाम, उपासना (रूप आदित्य किरणों) के द्वारा हम उस 'अग्नि' परमात्मा की महत्ता को अनुभव कर नतमस्तक हों; किसी से द्वेष न करें, तथा आत्मवत् सब से प्रेम व्यवहार करें। इति।

---

* प्राणा वा आदित्याः, प्राणा हि इदं सर्वं आददते। जै० उ० ४-२६।

+ पशवः (इन्द्रियाः) आदित्याः (तां० २३-१५-४),

इन्द्रियं वै पशवः वीर्यं रसः। तां० १३-७-४।

मन्त्र ६

मनसा परिक्रमा मन्त्र २

ओ३म् दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चि राजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नमः एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ २

ओ३म्। दक्षिणा। दिक्। इन्द्रः। अधिपतिः। तिरश्चिराजी ¶। रक्षिता। पितर। ‡ इषवः। † तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः॥

शब्दार्थः—

दक्षिण दिशा है। इन्द्र अधिपति है। जो † (राजी) चमकते

¶ तिरश्चीन राजी रक्षिता। इति। मै० सं० पाठ (अथर्व० कां ३-२७-२)

‡ वसव इषव। इति। पैप्प० सं० पाठ (अथर्व० कां ३-२७-२) वसवः रश्मिनाम (नि० १-५)

† इषु—ईषते गति कर्मणः—गति करने वाले; वा बधकर्मणः—मारने वाले नोकीले बाण हमें शरण (सहारा) प्रदान करें। नि० दै० ६-२-१८-१४), "मृगः अस्यदन्तः इषवः शर्म यच्छन्तु"— वेदमन्त्र निरुक्त उद्धृत।

† राजी—राजिः—राजते, दीप्यते असौ—पंक्ति वा (उ० को०४-१-२५) (A pencil of rays) (किरण) समुदाय।

शोभायमान, पंक्ति में प्राप्त द्युलोकस्थ + (तिरश्चि) पार जाने वाले सूर्य किरण हैं वे रक्षक हैं। प्राण रूप तेज जिनमें अन्तर्हित है वा सोम रूप (अन्न) का सम्पादन करने वाले, पितर (इषु) गति करते हुए प्राप्त होते हैं। उन दिशा, अधिपति, रक्षक, तथा इषुवर्ग के प्रति नमस्कार। जो हम में रोग आदि के कीटाणु हैं उनको हम इन किरणों द्वारा विनष्ट करें।

+ तिरश्चि–तिरश्चीन; तिरः तीर्णं भवति, तिरः इति प्राप्तस्य (नि० नैघं० ३-४-२०); तीर्णं भवति असौ तिरश्चि (उ० को० ४-७०) तृ+असुन्=प्लवन, संतरण–कूदना, तरना (धातुपाठ)।

तिरश्चीन :—असौ वा आदित्यौ देवमधु। तस्य द्यौः एव तिरश्चीनं वंशः, अन्तरिक्षम् अपूपः, मरीचयः पुत्राः। (छां० ३-१-१); म्रियते असौ मरीचिः, दीप्तिः। (उ० को० ४-७०); मरीचिप् रश्मिनाम। (निघंटु १–५)।

अर्थ—आदित्य-वा सूर्य (पृथ्वी, जल अग्नि–आदि देवों) का मधु है। इस सूर्य के द्यु–स्थित, (तिरश्चीन) इधर उधर आकाश के पार जाते हुए (मरीचयः) जो किरण समुदाय हैं (वंशः) वे सूर्य से ही मानो उत्पन्न हैं। यह किरणें ही सूर्य के पुत्र हैं। मधुमक्खी जैसे तिरछी टेढ़ी उड़ती हुई शहद के छत्ते में आती जाती हैं, वैसे ही सूर्य किरणें अन्तरिक्ष में आती जाती हैं। इस प्रमाण से, 'तिरश्चि राजी' का अर्थ किरण समुदाय से होगा।

मनसा परिक्रमा मन्त्र २ के शब्दार्थों पर विचार

दक्षिण दिशा—❀ जिस दिशा में दान, समृद्धि (ऐश्वर्य), उत्साह पाया जाय वह दक्षिण दिशा है। जिस ओर चलते हुए—शीघ्रता वा वृद्धि (बढ़ना) पाया जावे वह दक्षिण दिशा होगी।

इन्द्र—‡ जो रस वा जल को दे, धारण करे, फाड़ डाले, वा जो इरा नामक जल और मेघों को धारण करे वा विदीर्ण करे वह इन्द्र है। स्पष्ट सूर्य और विद्युत को इन्द्र × कहेंगे।

तिरश्चिराजी–इषु—

यह मनसा परिक्रमा मन्त्र २, अथर्व वेद कांड ३-२७ का मन्त्र है।

❀ दक्षते, वर्धते, शीघ्रकारी भवति वा, स दक्षिणः। (उ० को० २-५०) अपूर्ण को पूर्ण करने वाली, दान, समृद्धि, उत्साह अर्थ में—(नि० भू० १-३-९-११);

‡ इन्द्र–इरां–दृणाति-ददाति, दधाति, वा दारयत वा धारयत इति। [नि० दै० १०-१-६(४)];

इन्द्र–एति गच्छति यया सा इरा–उदकं (जल) (उ० को० २-२८);

इन्द्रं–इन्दवे द्रवति, इन्दौ रमत, इन्धे भूतानि (नि० दै० १०-१-६);

इन्दु, इन्धेः उनत्तेः वा (नि० दै० १०-४-४०-१७); दीप्ति च क्लेदने (भिगोना या प्रकाशित होना) उ० को० १-१२;

इरा–रस, अन्न नाम (निघं० २-७) ब्रह्म, यश सुत अपि।

× विजली की करेंट, जल को फाड़कर हाईड्रजन (अम्लजन) और ओषजन (प्राणवायु) नामक वायुओं को उत्पन्न करती है।

मैत्रेय संहिता में 'तिरश्चीन राजी' पाठ मिलता है। इस मन्त्र में जहां पितर वर्ग इषु बताये हैं वहां पैप्पलाद संहिता में "वसवः इषवः" पाठ है। निघंटु १-५ के अनुसार 'वसवः'-रश्मि-किरणों को कहते हैं। यह किरणें गतिकर्म करने वाली होने से इषु हैं—तथाच क्षुद्र जन्तुओं को मारने वाली होने से वधकर्मा इषु हैं। गति–ज्ञान, गमन, प्राप्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतः दक्षिण दिशास्थ इषु वह सभी पदार्थ होंगे जो शीघ्रता, वृद्धि, देना, तथा उत्साह अर्थ में, ज्ञान, गति, वा प्राप्ति के कराने में सहायक हैं।

(नि०दै० ६-२-१८-१४)

राजी—उस पदार्थ को कहते हैं जो चमकती वा शोभावाली हो, तथा पंक्ति में हों। यदि 'तिरश्चि' वा 'तिरश्चीन' का अर्थ किरण हो तो "तिरश्चिराजी" का अर्थ 'किरण समुदाय' (Pencil of rays) होगा। अब 'तिरश्चि' शब्द के अर्थों पर ध्यान दें। अधिकांश तिर्यक् योनि के छोटे बड़े कीड़ों का, वा वायु के भँवरों का इस शब्द से अर्थ लिया गया है इसमें कोई प्रमाण व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण ग्रन्थों का हमें नहीं मिला न जाने किस प्रकार कीट योनि और भँवर का अर्थ सिद्ध किया है। तिरः शब्द के स्पष्ट अर्थ "पार जाने वाली या प्राप्त होने वाली" निरुक्त नैघंटुक कांड (३-४-२०) में पाये जाते हैं। 'तृ' धातु कूदना–फलांगना तथा पार जाने के अर्थ में पढा है, जिससे असुन् प्रत्यय होकर तथा 'ऋत इद्धातोः' अष्टाध्यायी सूत्र से 'ई' का आगम होने से तिरस्–तिरः शब्द सिद्ध

होता है तथा उणादि कोष ४-७० के अनुगामी होकर "तीर्णं भवति असौ तिरश्चिः" अर्थात् जो (आकाश) को फलांग कर पार जाय वह तिरश्चिः,सूर्य किरण वा बादल हो सकते हैं। ‡तिरश्चि-राजी—इन किरणों वा मेघों का समुदाय ही, चमकता (राजी), वा शोभायमान पंक्ति वाला होता है। क्षुद्र कीटाणुओं का समुदाय चमकती पंक्ति बनाने वाला नहीं होता और न वायु का भँवर पंक्ति वाला होता है, न ऐसे वायु के किसी भँवर से जहाज़ों का मार्ग रुका है, जैसा कि कतिपय विद्वानों का तद्विषयक मत है।

सबसे अधिक प्रमाण, 'तिरश्चिराजी' का अर्थ किरण समुदाय लेने में—व्याकरण को छोड़ कर दो और मिलते हैं। पहिला यह कि पैप्पलाद संहिता में इसी मन्त्र में 'पितर इषवः' के स्थान में सामानार्थक "वसव इषवः पाठ है। 'वसवः' का स्पष्ट अर्थ निघंटु १-५ में रश्मि गिनाया है। दूसरा प्रमाण छन्दोग्य उपनिषद् (३-१-१) में जो अर्थ सहित पूर्व पृष्ट (११३) में टिप्पणी में हमने उद्धृत किया है—स्पष्ट मिलता है, जिसमें सूर्य के वंश को 'तिरश्चीन' कहा है और उस वंश के पुत्रों को

‡ पवित्र वन्तः = रश्मिवन्तः । समुद्रः सम—उद्द्रवन्ति अस्मात् रश्मयः—सूर्य वा आकाश। महः समुद्रं वरुणः तिरः अन्तर्दधाति। एषां प्रत्नेः (बादलों को) वरुणः व्रतं अभिरक्षति। इत्यादि रश्मि,मेघ, वायु, वरुण का तिरः सम्बद्ध व्याख्यान देखो। (नि० १३-३१—नि० भा० चन्द्रमणि पृ०७४८)।

मरीचि–किरण । अन्तरिक्ष को इनका निवास स्थान बताया है। भला सूर्य के पुत्र-तिर्यक योनि वाले कीट पतंग कैसे हो सकते हैं। यह विषय उपरोक्त टिप्पणी में पाठक स्ययं देखें।

खूबी यह है, कि कीट आदि 'तिर्यक् योनि' अर्थ करते हुए अन्य भाष्यकारों ने इन ६ मनसा परिक्रमा मन्त्रों के अर्थों में संगति का भी ध्यान नहीं रखा है। ६ मन्त्रों में क्रमशः "असितः रक्षिता–तिरश्चिराजी–रक्षिता–पृदाकू रक्षिता–स्वजः रक्षिता–कल्माष ग्रीवो रक्षिता–श्वित्रो रक्षिता" यह छः पद आते हैं। रक्षिता शब्द सबमें समान है—फिर भी तिरश्चिराजी और पृदाकू इन दो का अर्थ कीट और सांप करके इनसे बचने का भाव 'रक्षिता' शब्द से लिया है अर्थात् कीट सर्प आदि को शत्रु माना है—शेष ४ को इन भाष्य कारों ने रक्षक माना है। भला 'रक्षिता' शब्द का अर्थ शत्रु भी लेना साथ २ रक्षक भी लेना कितना अनुचित है।

अतः 'तिरश्चिराजी' के अर्थों में "किरण समुदाय" वा "वे सभी शोभायमान दीप्तिमान पदार्थ" होंगे जो लाइन बनाकर फलांग मारकर (मृगपक्षी आदि) आते जाते हों, वा पार जाते हों। किरणें-आकाश वा शीशा इत्यादि को भी पार कर जाती हैं तथा मेघ आदि जो आकाश में संचरण करते हैं, वे भी तिरश्चिराजी है। पर मृग पक्षी आदि रक्षक नहीं होते, इनसे खेतों को बचाया जाता है।

सोम, अन्नरस से भरे हुए (हव्य पदार्थों को लिये)

तथा सोम अर्थात् अन्न वा विद्युत् का सम्पादान करने वाले जो मेघ ¶ जल हैं वे ही पितर हैं। पुत्रों का परिपालन करने वाले पुरुषा भी पितृ संज्ञक हैं। पूर्व लिख आये हैं कि पैप्पलाद संहिता में 'पितरः' के स्थान में 'वसवः' शब्द का प्रयोग है। वसवः मनुष्यों को तथा किरणों+ को वा ब्रह्मचारियों को भी कहते हैं। पितर ऋतुओं को भी कहते हैं।

मनसा परिक्रमा मन्त्र २ का भावार्थ तथा वैज्ञानिक विवेचना।

आधिदैविक पक्ष में:—

सूर्य जब दक्षिण दिशा की ओर होने लगता है उससे पूर्व पृथ्वी के उत्तरीय अर्धभाग में ग्रीष्म ऋतु थी और अग्नि का साम्राज्य था। ग्रीष्म ताप से वायु मण्डल फैल कर, वायु हल की†

¶ "सोम्याः पितरः सोम सम्पादिनः ते—असुं प्राणं ये ईयुः" (नि० दै० १२-२-१६-१२। तेज को (सोम को) गर्भ में लिये हुए (सोम) अन्न औषधि को उत्पन्न करने वाले मेघ जल, वा सोम-विद्यु त के प्रवाह को बढ़ाने वाले—विद्यु त भार को धारण करने वाले विद्यु त धरातल भेद से युक्त (Hige voltage—High tension wires) तारों के सिरे—इत्यादि सब ही पितर कहलाते हैं। ऋतवः पितरः, श० २-६-१-३२, कौ० ५-७।

+ नि० १-५।

†नाड्यौ वायु संयोगात् आरोहणम्। वै० दर्शन, ५-२-५। सूर्य ताप से संयोग होने पर वायु ऊपर उठती है।

और गर्म होकर ऊपर आकाश में उठती है, और रिक्त स्थान ❀ में समुद्र वा नदी तीर की ओर से ठण्डी वायु जल से भरी, गरम पृथ्वी तल की ओर गति करती है। वायु में (तिरः) प्राप्त 'अग्नि तथा जल' उष्ण प्रदेशों की ओर चलते हैं और उन प्रदेशों को जल वर्षा रूप में देते हैं। जहां भी वर्षा जल देने हेतु यह अग्नि और जल से भरी हुई वायु गति करती है, तथा अन्न औषधि आदि की वृद्धि करती है वह सब दिशायें गति वृद्धि की दिशायें होने से दक्षिण दिशा हैं। गरमी के कारण वायव्य कणों का आणविक वेग (Kinetic energy) बढ़ जाता है। उन कणों में प्राप्त आणविक वेग (atomic velocity) अधिक हो जाता है और वे गरमी को पीकर, उस गरमी को इस बढ़े हुए वेग में परिणत कर देते हैं, फल स्वरूप गरमी के खर्च हो जाने से, (temperature) ताप क्रम कम हो जाता है परन्तु वायु फैलकर हलकी हो जाती है। इस फैले हुए वायु मण्डल में जल समा जाता है और वाष्प रूप में फैलकर और भी अधिक वायु को उपरोक्त क्रियानुकूल ठण्डा ❀ कर देता है। तथा च यह आकाश में शोभायमान उतराती हुई चलने

❀ जाति अनन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात्—पूर्व परिणाम् (परिस्थिति) के नाश होने पर नवीन पदार्थों की उत्पत्ति इस कारण पूर्व स्थान में होती है कि रिक्त स्थान को भर देना प्रकृति का कार्य है। यो० द० ४-२। Nature fills up vacuum.

❀ अप्सु शीतता। वै० द० २-२-५। जलों में शीत गुण है।

वाली मेघावलियां तथा उनकी कारण भूत सूर्य किरणें तिरश्चि-राजी हैं। यह सूर्य किरणें तथा मेघ ही अन्तर्हित अग्नि तेज तथा जल को संचित करते और सुरक्षित रखते हैं। यह सब मेघ निर्माण, इन्द्र (सूर्य) की किरणों के प्रताप से ही सम्भव होता है। इस अन्तर्हित जल को भी —मेघों से वृष्टि द्वारा, अन्नादि उत्पत्ति के हेतु, (पितरः) सूर्य किरणें वा तज्जनित ऋतुएँ—कालान्तर में, मेघों में सोम रूप वृष्टि कणों को सम्पादन कर हम तक (इषु) ❀ प्राप्त करावेंगी। जो (पितरः) ¶ अन्तर्हित प्राण-शक्ति अर्थात् वायु और जल कणों में बढ़ा हुआ आणविक वेग है-वह वेग संस्कार (Kinetic & Potential energy वा Pressure) वर्षा ऋतु में इस सोमरूप मेघ जल को स्थान स्थान पर पहुंचाने में सहायक हैं।

अतः, समृद्धि, शीघ्रता सूचक, तथा दान अर्थ में दक्षिण दिशा का प्रयोग है। इस शीघ्र गति और वृद्धि की दिशा में, सूर्य वायु और विद्युत—(इन्द्र) ‡ का साम्राज्य है। यह शक्तियां मेघ रूप जल में सुरक्षित हैं। अर्थात् अग्नि, वायु और विद्युत् तेज

❀ इषु—गतिकर्म—गति (ज्ञान गमन, प्राप्ति)। नि० दै० ६-२-१८-१४

¶ ऊष्म भागा हरण भागा हि पितरः (श० २-६-१-७)।

तिर (प्राप्त) इव वै पितरः ते पितरः सोमवन्तः। श० २-६-१-७/१।

त्रया वै पितरः— अग्निषु आत्ताः सोमवन्तः बर्हिषदः। श०, ५-५-२८।

‡ अयं वा इन्द्रः यः अयं वातः पवते (श० १४-२-२-६ ।; यः वै वायुः स इन्द्रः। श० ४-१-३, १६; स्तनयित्नु एव इन्द्रः, श० ११-६-३-६)

(इन्द्र) † मेघ मय जल में अन्तर्हित, मेघ के साथ साथ आकाश में संचरण करते हैं। यह तेज ही वर्षा द्वारा सोम (अन्न) की उत्पत्ति में मुख्य साधन है तथा च वर्षा रूप जल को मेघ से वर्षाने में सूर्य की तिरछी किरणें ¶ कारण हैं।

बादलों में जल के परमाणु वायव्य रूप हैं उनमें स्थित वाष्प ठंडा होने पर भी जम कर पानी की बूँदें नहीं बनाता ❀ जब तक सूर्य की तिरछी किरणें इन बादलों में विद्युत् परिणाम (Ionis-ation) उत्पन्न नहीं करतीं वा हव्य पदार्थों को सूक्ष्मतर व्यापक रूप में वाष्प में नहीं फैला देतीं। सूर्य की किरणों से विद्युत ❀ त्रसरेणु 'Ions' बादल में उत्पन्न होते हैं। इन विद्युत् परमाणुओं अथवा यज्ञ के हव्य सूक्ष्मतर परमाणुओं के चारों ओर ही वाष्प जमना प्रारम्भ करती है। विजली के कड़क जाने ‡ पर यह जल भारी बिन्दु बन कर, पूर्व प्राप्त अग्नि तेज तथा आणविक तेज के शेष भाग सहित, वसु + रूप किरणों

---

† अग्निषु आत्ताः सोमवन्तः पितरः (श० ५-५-४ २८)

¶ अपां सघातो विलयनम् च तेजः संयोगात्। वै० द० ५-२-८।

❀ तत्र विस्फूर्जथुः लिंगम्। वै० द० ५-२-९।

‡ अपां संयोगा भावे गुरुत्वात् पतनम्-वै० द० ५-२-३।

अपां संघातः विलयनम् च तेजः संयोगात्। वै० द० ५-२-८।

+ पितरः इषवः के स्थान में 'वसव इषवः' पाठ। मै० सं०। वसु-रश्मि। नि० १-५। प्राणः वै वसवः। जै० उ० ४-२-३! पितरः प्रजा-पतिः (प्राणः)। गो० उ० १-१५।

के प्रभाव वा प्राणशक्ति को अन्तर्हित किये, बरस कर हम तक पहुंचते हैं। यह प्राण शक्ति ही बीज को (इषु) बध करके † (गला कर) अन्नादि के उत्पन्न करने में सहायक होती है।

अध्यात्म पक्ष में:—

पूर्व स्थानीय, मनुष्य के फेफड़े में, (Oxygen) प्राणवायु रक्त के 'असित' काले अन्न भाग को भस्म करके, रक्त में 'अग्नि' प्राण शक्ति को संचरित करती, और रक्त कणों को स्थान स्थान में शरीर में प्रवाहित करती है। यह रक्त का प्रवाहित होकर जीवन को सुस्थिर रखना शरीर में दक्षिण अर्थात् गति, वृद्धि, उत्साह, दान की दिशा है। रक्त कणों में प्राप्त तथा अग्नि पाचन द्वारा उत्पन्न यह प्राण धारायें+—प्रवाहित रोहितवर्णीय रक्त कणों की मालाओं में (तिरश्चिराजी रक्षिता) सुरक्षित, पितर+ संज्ञक, जीवन की भण्डार हैं। इस गति वृद्धि की दक्षिण दिशा में 'इन्द्र-प्राण वा जीव का साम्राज्य विस्तृत होता है। रक्त में संचित प्राणशक्ति पंचधा अथवा दश प्राणों के रूप में अङ्ग प्रत्यङ्ग को पुनः जीवन देती है तथा रोग कीटाणुओं को नष्ट कर, हर्ष, स्थिरता, तथा बल आदि ऐश्वर्य प्रदान करती है। यह हर्ष बल आदि 'मन' के गुण हैं। अतः प्राण संयुक्त रक्तकण, तथा जीव के

---

† इषु-ईषते-गति कर्मा वध कर्मा वा। नि० दै० ६-२-१८-१४।

+ त्रयो वै पितरः- अग्निषु आत्ताः, बर्हिषदः, सोमवन्तः, पितरः। अग्नि द्वारा भक्षित, सोमयुत।

आधिपत्य में सांसारिक कार्यों की पूर्त्ति में संलग्न-'मन'‡ही 'पितर' है। रसवीर्य यश बल की प्राप्ति की ओर जीवन को यह प्राण और मन ही प्रेरित करते हैं। यह ही 'प्राण संयुत मन' का इषु कर्म है। इस उपरोक्त 'इन्द्र' प्राणवायु के अधिष्ठातृत्व को जान कर हम इसकी महत्ता को (नमः) श्रद्धा के साथ स्वीकार करें, तथा शरीरस्थ केन्द्रों में प्राणायाम द्वारा इस प्राण के वशीकरण का यत्न करें; हमारा मन एकाग्र हो, स्वस्थ और बलवान हो, वह प्राण बल से युक्त हो हमें शत्रु तथा रोग के कीटाणुओं से सुरक्षित करे। सब के भीतर इसी प्राण तथा मन की महत्ता को देख कर सबसे ही हम मैत्री का व्यवहार करें।

आधिभौतिक पक्ष में :—

कोयला और जल, पैट्रोल, रसायनिक पदार्थ जैसे तेज़ाब धातु, बारूद इत्यादि, के द्वारा तथा सूक्ष्म वायु में विद्युत × आघात के द्वारा, क्रमशः, गैस, घोल (Solution), और (Xray) एक्स किरण के रूप में, जब शक्तियां प्रवाहित होती हैं, तो यह प्रवाहित गति, वृद्धि तथा शीघ्रता सूचक दक्षिण दिशा है। आग्नेय परिणाम स्वरूप, प्रसारण (Expansion) द्वारा उत्पन्न दबाव (Pressure), तथा घोलन परिणाम स्वरूप धरातल आकुंचन (Surface tension), आणविक

---

‡ मनः पितरः। श० १४-४-३-१३।

× एक्सरेट्यूब (Xray tube) में आणविक ध्वंस (atomic Bombardment)

प्रसार (Osmotic Pressure), तथा विद्युत भार (Ionization Potential), इत्यादि अनेक रूप में प्राप्त तथा प्रवाहित होने वाली वायव्य वा विद्युत् शक्तियां ही 'इन्द्र'— प्राण वा विद्युत के रूप हैं, जिनसे हम अनेकों कार्यों का सम्पादन करते हैं—अर्थात् इस शीघ्र गति, वृद्धि, ऐश्वर्य के क्षेत्र में उपरोक्त इन्द्र का ही साम्राज्य है। इस प्रवाहित शक्ति के मूल कारण–अणुओं, तथा विद्युत परमाणुओं, (Electrons) और त्रसरेणुओं (Ions) में प्राप्त क्षुद्र क्षुद्र तेज के संचित कोष हैं। यह सूक्ष्म तर परमाणु अनन्त संख्या में आकाश में प्रति सेकंड लगभग १८६००० मील के वेग से गति करते 'इन्द्र' रूप विद्युत वा भौतिक प्राण शक्ति के प्रभाव को (तिरश्चि राजी रक्षिता) सुरक्षित रखते हैं। संचित शक्ति का ऊँचे धरातल से (High voltage or Potential or pressure) नीचे धरातल की (Low potential etc) ओर जल की भांति स्वभावतः गमन होता है। अतः शक्ति का एक स्थान वा तार इत्यादि में संचित घनत्व † ही 'पितर' है। यह घनत्व ही प्रवाह में (इषु-ईषते-गति-प्राप्ति), वा लक्ष्य भेदन में सहायक है। यह (पितर) धरातल भेद उन विद्युत् आदि के प्रवाहों को स्थान स्थान में पहुँचाने में सहायक है। सारांश यह कि बहने

† 'यदि न अश्नाति– पितृदेवत्यः कूपः भवति'– विद्यु त् शक्ति जब कोई कार्य न करती हुई होती है तो पितर रूप में वह शक्ति संचित हो कर घनरूप हो जाती है। श० (११-१-७-२), (३-६-१-३)

वाली शक्तियें 'इन्द्र' रूप हैं। घोल, डाइनेमो, मोटर, इंजन, X किरण ट्यूब, रेडियम आदि पदार्थ (जिनमें अणु ध्वंस स्वभावतः होता रहता है) तथा वायु मंडल में ताप, घनत्व भेद आदि गति वृद्धि की दिशा के सूचक होने से दक्षिण दिशा हैं। ऊँचान, नीचान के रुप में शक्ति का, स्थान विशेष में संचय (Potential Difference, Pressure, Polarity etc.) होना ही 'पितर' है। शक्ति प्रवाह अर्थात् 'इन्द्र' के वायव्य (वहन) गुण को पितर ही सम्पादन करते हैं। प्रति प्रति अणु, परमाणु त्रसरेणु में प्राप्त क्षुद्र प्रवाहित शक्तियाँ ही इस तेज 'इन्द्र' के प्रवाह का निर्माण करती हैं, यह क्षुद्र तेजयुत मालायें (तिरश्चिराजी) विद्युत, चुम्बक, आदि प्रबल प्रवाहित तेजों की रक्षक हैं।

इन सब तत्वों को जानकर हम आदर पूर्वक अर्थात् होशियारी के साथ (नमः) इनको प्रयोग में लावें और अपने को शत्रु रहित करें तथा लोक सेवा द्वारा, मैत्री तथा ज्ञान का विस्तार करें।

ईश्वर तथा विज्ञान पक्ष में :—

सृष्टि आरम्भ से आगे चलते ही, गति वृद्धि की दक्षिण दिशा है। वायु ऋषि यजुर्वेद*का उपदेश करते हुए कर्म क्षेत्र को प्रकट

---

* वायोः यजुर्वेदः अजायत। श० ११-५-८-३। वायुः एव यजुः श० १०-३-५-२। यः वै वायुः स इन्द्रः। श० ४-१-३-१६।

करते हैं। इधर ज्ञानमय (अग्नि) तप+करते हुए, ईश्वरीय चेतन शक्ति तथा क्रियाशीलत्व क्रमशः अल्पज्ञ जीव और प्रकृति में उदय हो सृष्टि का विस्तार करते हैं। ईश्वरीय शक्ति ही आधार रूप से या मुख्य अधिष्ठातृत्व×रूप से, जीव को यह सामर्थ्य देती है कि वह प्रकृति में से गुणों को आकृष्ट कर, कर्म करने हेतु, मन बुद्धि चित्त अहंकार का निर्माण करे। इन अहंकार चतुष्टय में ईश्वर की निज व्याप्त अन्तर्हित चेतन सत्ता का साम्राज्य है। यही साम्राज्य, इन मनबुद्धि युत जीवों * के हेतु, प्रकृति को समृद्धि तथा ऐश्वर्य के रूप में बनाये हुए-विस्तृत होता है। जीवों में प्रवाहित ईश्वर-शक्ति ही (तिरश्चिराजी) अन्तः करणों को उज्ज्वलित ÷ (राजी) करती है। अणु, परमाणुओं में प्राप्त भौतिक शक्तियाँ भी (तिरश्चिराजी) मन आदि की किरणों का प्रकाश करती हुई इनके अधिष्टातृत्व को प्रकट करती हैं। जीव तथा अन्तःकरणों तक उन प्रकृति के महत् तत्व आदि परमाणुओं को, मन बुद्धि निर्माण हेतु वा इन्द्रियों के निर्माण हेतु— आकृष्ट करने वाली वा

+ इन्द्र इतिं हि एतम् आचक्षते य एष तपति । श० ४-६-७-११; तस्मात् आह इन्द्रः ब्रह्म इति। कौ० ६-१४।

× तत् सन्निधानात् अधिष्ठातृत्वं मणिवत्। सां० द० १-६-७।

* विशेष कार्येषु अपि जीवानाम्। सां० द० १-९७।

÷ अन्तः करणस्य तदुज्ज्वलितत्वात् लोहवत् अधिष्टातृत्वम्। सां० द० १-९८।

प्राप्त कराने वाली मुख्यतया ईश्वरीय तपोमय घनाघन विभूति है, जो महा प्राण रूप से (पितर) नाना रूपों में विभक्त हो चेतन जगत तथा जड़ सृष्टि में क्रिया आदि का स्रोत है। यही महा प्राण का घनाघन भण्डार— जिसके-बुद्धि-अग्नि-आकर्षण चुम्बक-विद्युत् आदि रूपान्तर मात्र हैं—पितर संज्ञा वाला है। यही जीव के प्रति, उस मूल ब्रह्म का, निष्काम कर्म द्वारा, नित्य उपदेश करके जीव मात्र को उसकी प्राप्ति हेतु संलग्न करता है। यजुर्वेद ही वह कर्मकाण्ड का क्षेत्र है जिस पर वायव्य शक्तियों (इन्द्र) का साम्राज्य है। वायु ही वह आदि ऋषि हैं जिनके द्वारा (यजुः) कर्म प्रकट हुआ। मन्त्र श्रृंखलायें ही अथवा ज्ञान युत विचार धारायें ही 'तिरश्चराजी' रूप से इस यजुः रूप कर्म क्षेत्र को सुरक्षित बनाये हैं। 'पितर' ※ पूर्व आचार्य वा राजा ही, प्रजा तथा शिष्यों को कर्म (शिल्प विद्या) की प्राप्ति 'इषु' रूप कराते रहते हैं। इन सब में हमारी श्रद्धा हो जिससे हम परस्पर प्रेम करते हुए—ज्ञान, धन तथा ऐश्वर्य का विस्तार करें। इति॥

※ पितर : प्रजापतिः। गो उ० १–२५।

मन्त्र १०

मनसा परिक्रमा मन्त्र ३

ओ३म् प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षिता अन्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥

ओ३म्। प्रतीची। दिक्। वरुणः। अधिपतिः। पृदाकू। रक्षिता। अन्नम्। इषवः। तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः ॥

शब्दार्थ :—

प्रतीची अर्थात् सन्मुख वा वापिस जाने, अथवा अस्त होने की दिशा में वरुण नामक अन्तर्हित शक्तियों का साम्राज्य विस्तृत है। कुत्सित शब्द करने वाले पृदाकू उन अन्तर्हित शक्तियों के रक्षक हैं। अन्न ही प्राप्तव्य पदार्थ है अथवा अन्न द्वारा वह तेज हममें प्राप्त होता है। इन दिशा, अधिपति, रक्षक तथा इषुओं की दिव्यता को स्वीकार करते हुए, उनकी सहायता से हम पारस्परिक प्रेम का विस्तार करें।

आधिदैविक पक्ष में:—

पूर्व दिशा में अग्नि का प्रकाशहीन पदार्थों से उत्पन्न होना तथा

दक्षिण दिशा में वायु (इन्द्र) की गति वृद्धि, हम पहिले दो मन्त्रों में देख चुके। अब यहाँ प्रतीची दिशा में वरुण का साम्राज्य किस प्रकार फैलता है यह विषय है। सूर्यास्त होकर रात्रि※का प्रारम्भ है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तारा गण आदि का प्रतिगत होकर दृष्टि से छिप जाना ही प्रतीची×दिशा है। जीव की शक्तियों का तथा प्राकृतिक शक्तियों का अन्तर्मुखी होना ही प्रतीची+दिशा है। गरमी तथा वायु दोनों का कार्य पूर्व मंत्रों में हम देख चुके हैं। जल को वाष्प मय बना कर गरमी ‡ बादलों में अन्तर्हित हो गई। वृत्ररूप बादल ¶ इकट्ठे हो रहे हैं जिनमें जल बहने वाला होकर भी वरस * नहीं रहा। जलों में अन्तर्हित गरमी तथा आणविक शक्तियें ही वरुण हैं। बादलों में गरमी के अस्त

※ रात्रिः वै वरुणः। ऐ० ४-१०। वारुणी रात्रिः। तै० १-७-१०-१।

× प्रतीची—अभिमुखी, प्रतिगतः। नि० नै० ३-१-५।

‡ यः प्राणः स वरुणः। गो० उ० ४-११; यः वै वरुणः स अग्निः। श० ५-२-४-१३।

अप्सु (जलों में) वै वरुणः। तै० १-६-५-६। एतस्य प्राणस्य आपः शरीरः। बृ० ३-१-५।

¶ वृणोति आच्छादयति अन्तरिक्षम् इति वरुणः। उ० ३-१३।

* वरुण्या वा एता आपः भवन्ति, याः स्यन्दमानानाम् न स्यन्दते। श० ५-३-४-१२।

बादलों में स्थित, जल, अग्नि और वायु—बहने वाले—वरुण संज्ञक होकर—बहते नहीं।

हो जाने पर तथा जलों के भार से युक्त होने वा ठंडा हो जाने से 'इन्द्र' वायु निर्बल पड़ जाती है और बादल इकट्ठे होने लगते हैं। प्रतीची (प्रतिगतः) दिशा इन्हीं अग्नि, जल, वायु, तथा सूर्य के अस्त होने की दिशा है तथा च पृथ्वी पर जल के वापिस लौटने की दिशा है। इस दिशा में इन जल, अग्नि, वायु को बादलों के रूप में सुरक्षित रखने वाले अथवा वरुण संज्ञक अन्तर्हित शक्तियों को सुरक्षित रखने वाले पदार्थों को "पृदाकू" शब्द से मंत्र में बताया है। यह पृदाकू कौन है किंचित् विचार करें।

प्रदाकू शब्द के अर्थ पर विचार

कुत्सित (निन्दित) शब्द करने वाले को पृदाकू‡ कहते हैं। प्रायः 'पृदाकू' शब्द का अर्थ लोक में व्याघ्र वा सर्प का पाया जाता है। प्रतीची दिशा के विषय में भी प्रसिद्ध है कि साँपों की दिशा है। शतपथ ब्राह्मण में इस दिशा को सर्पों की दिशा बतलाया है। भला साँप तो उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम ही नहीं—विशेष तया तो, वे पृथ्वी के तल के नीचे पाये जाते हैं। फिर प्रतीची दिशा में साँपों से भय मान लेना बुद्धि के विरुद्ध है। अतः हमें पृदाकु का अर्थ साँप लेना हेय है। यहाँ आर्य वैदिक भाषा तथा लौकिक भाषा का विरोध स्पष्ट दिखाई देता है। प्रतीची दिशा सचमुच सर्पों की दिशा है यह मानते हुए भी सर्प का अर्थ यहाँ साँप नहीं हो सकता। इस हेतु वैदिक साहित्य की खोज करने पर शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण में, भाग्यवश प्रमाण मिलते हैं जिनसे,

‡ पर्दते कुत्सितं शब्दं करोति इति पृदाकुः, व्याघ्रं सर्पो वा। उ० को० ३-८०।

ऋषियों की बुद्धि में श्रद्धा उत्पन्न होती है। तै० ब्रा० २-२-६-२ में स्पष्ट दिया है कि 'देवा वै सर्पाः तेषां इयं पृथिवी राज्ञीः'। अर्थात् पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि इत्यादि यह सब देवता सर्प हैं। और 'इयं वै पृथिवी सर्प राज्ञी': (श० २-१-४-३० तथा) 'इमे वै लोकाः सर्पाः ते सर्पन्ति'। श० ७-४-१-५। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि यह गति करने वाले सारे के सारे नक्षत्र, तारागण, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, आदि सर्प हैं। यह हम स्पष्ट देखते हैं कि वह पश्चिम-(प्रतीची) दिशा में अस्त होते ही हैं। पृथ्वी की गति अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व को होती है। अतः सभी लोकान्तरों—सूर्य, चन्द्र, तारा तथा वायु (Trade winds) आदि की गति पश्चिम को प्रतीत होती है। इस हेतु अपेक्षा कृत पृथ्वी सर्प राज्ञी है। भला प्रतीची दिशा इन लोक लोकान्तरों के अस्त होने की दिशा है इसमें कोई सन्देह है। पर हां वेद की भाषा का अज्ञान ही हम से सर्प का अर्थ सांप * कराता है, क्या आश्चर्य जो हमारी संस्कृति पर संसार हंसे।

अतः मंत्रार्थ में प्रतीची नामक जो अस्त होने की दिशा है उसमें अन्तर्हित शक्तियों का साम्राज्य है। प्रकट शक्तियों का अनुभव इस दिशा में नहीं होता। बादलों में भी 'गरमी जल

---

* कतिपय विद्वानों ने पृदाकु का अर्थ बरफ़ीला पर्वत भी किया है। क्योंकि बर्फ़ीला पर्वत कुत्सित शब्द करता है। पर उसका पश्चिम दिशा से क्या सम्बन्ध है, यह सन्देह है। पृदाकु का अर्थ स्पष्ट बर्फ़ीला पर्वत सिद्ध भी नहीं।

वायु' अपनी शक्तियें तिरोभूत कर चुके हैं। परन्तु इन शक्तियों का साम्राज्य तब तक क़ायम है जब तक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन देवताओं के अणुओं, विद्युत-परमाणुओं (Electrons), और त्रसरेणुओं (Ions), वा कणों (Molecules) में आणविक शक्तियाँ-ईश्वर की देन रूप में सुरक्षित हैं। अर्थात् वरुण रूप अन्तर्हित शक्तियों को सुरक्षित रखने वाले, यह पृथ्वी, वायु आदि देव हैं जिन्हें पृदाकु कहते हैं वा सर्प कहते हैं-पर सांप नहीं। बादलों की गरज, आँधी की तड़ाफड़, जल की पड़ा-पड़, विद्युत की कड़क, पृथ्वी का आकाश मार्ग में गति करते हुए घोर शब्द जिसको हमारे कान के परदे सुन नहीं सकते-पर इसी पृथ्वी की पर्वतों-भूकम्प-ज्वालामुखी आदि के सम्बन्ध में घोर गर्जन आदि, यह सब कुत्सित शब्द हैं।

इस वरुण (अन्तर्हित शक्तियों) के साम्राज्य में-पृथ्वी, वायु आदि सर्पों द्वारा सुरक्षित वे शक्तियां हमें क्यों उपलब्ध होती हैं ? उत्तर—अन्न ‡ प्राप्ति के हेतु । बादलों में हव्य ❀ पदार्थ ही जो यज्ञ द्वारा वायु में प्रेरित हुए हैं अथवा धनात्मक विद्युत् त्रसरेणु (positive ions) जो सूर्य किरणों द्वारा जल और वायु के कणों में उत्पन्न हो रहे हैं अन्न हैं । सोम रूप † यह केन्द्रीय विद्युत् त्रसरेणु ही अन्न हैं जिनकी ओर

‡ अन्नं इषवः—मनसा परिक्रमा मन्त्र ३ ।
प्रतीची दिक् सोमः देवता । तै० ३-११-५-२ ।
❀ हविः वै देवानाम् सोमः । श० ३-५-३-२ ।
† अन्नं सोमः, कौ० ६-६ । अन्नं वै सोमः, श० ३-६-१-८ ।

प्राण †रूप अन्तर्हित शक्तियाँ आकृष्ट हो, जल और वायु के परमाणुओं को जमने का अवसर देंगी। धूल‡के कण भी जिनके चारों ओर जल विन्दु बनते हैं अन्न हैं क्योंकि यह जल वायु की अन्तर्हित गरमी को खींच लेते हैं तब जल निज रूप में जल बिन्दु बनाने में समर्थ होता है। पदार्थ विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि वाष्प स्वतः बरफ से भी अधिक ठंडी हो जाने पर भी जल बिन्दु के रूप में जम नहीं सकती जब तक उस वाष्प में, सूर्य की किरणों द्वारा 'Ions' विद्युत् त्रसरेणु उत्पन्न न हों अथवा धूलि के कण प्राप्त न हों। यह धूलि के कण यज्ञ द्वारा पर्याप्त मात्रा में यदि अत्यन्त सूक्ष्म रूप में उत्पन्न कर दिये गये हों तो यह असम्भव है कि बादल जमकर वर्षा न करें। सी. टी. आर. विलसन का प्रसिद्ध प्रयोग उपरोक्त सिद्धान्त को स्फुट करता है। कौषीतकी, शतपथ, तथा तैत्तिरीय ब्राह्मणों के प्रमाणों को पाठक देखें जो हमने यहाँ दिये हैं।

अतः इस अन्तर्हित तेज का—सूर्य किरण द्वारा विद्युत् त्रसरेणुओं में परिणत होना व हव्य कणों द्वारा शोषण जब सम्भव होता है तभी बादलों में जल बनता है और वर्षा होती है। यह वर्षा भी अन्न हेतु है। बड़े २ जंगल भी इस वाष्प को जमाने में सहायक होते हैं कारण कि वे भी बादलों की

---

† अंगिरसाम् प्रतीची दिक्। तै० ३-१२-९-१। जल में जो केन्द्रीय त्रसरेणु हैं उनकी विद्युत् बादलों में अन्तर्हित है।

‡ हविः वै देवानाम् सोमः, श० ३-५-३-२।

अन्तर्हित गर्मी वा बिजली का शोषण करते हैं और वाष्प का जल बिन्दु बनाते हैं। अतः जहाँ अन्तर्हित गरमी, वायु और जल की शक्तियाँ बादलों को बिखेरे फिरती हैं वह ही वरुण का साम्राज्य छाया है। यह बादल तथा पृथ्वी आदि लोक ही अग्नि जल वायु के तेज, वा चुम्बक, वा आकर्षण जैसी शक्तियों को, जो छिपी हुई हैं, सुरक्षित रखते हैं। अन्न वा हव्य कण वा सोम रूप विद्युत के केन्द्रीय त्रसरेणु वा पृथ्वीस्थ वनस्पति, जंगल इत्यादि, उस जल और तेज को पृथ्वी तल पर लाने में (इषु) कारण हैं। अगले मंत्र ४ में, किस प्रकार से इन सोम वा अन्न वा केन्द्रीय विद्युत् परमाणुओं का साम्राज्य विस्तृत होता है, वर्णन है। इन दिशा-अधिपति- रक्षक और और इषु वर्ग के रहस्य ज्ञान द्वारा हम ब्रह्म शक्ति को अन्न रूप नमस्कार करें और द्वेष भाव से रहित हों।

अध्यात्म पक्ष में:—

प्रथम अर्थात् प्राची दिशा में, फेफड़े में काले रक्त से प्राण वायु (oxygen) संयुक्त हो कर, गरमी उत्पन्न हुई। इस गर्मी को रक्त कणों में तिरोभूत करके—दक्षिण अर्थात् गति वृद्धि की दिशा में रक्त प्रवाह समस्त देह में हुआ। अन्त में यह अन्न (पृथ्वी तत्व)—जल—और अग्नि की शक्तियाँ रक्त में तिरोभूत हो कर हृदय में रक्त के साथ २ जाती हैं इसी रक्ततेज का विशेष भाग रीढ़ की हड्डी के सुषुम्णा भाग में जल रूप (Cerebro-spinal fluid) में सञ्चित होता है,

जब बुखार तेज़ होता है तब हमें पता लगता है कि शरीर में कितनी गर्मी पैदा करने की शक्ति छिपी हुई है। रक्त का विशेष २ भाग 'प्राण शक्ति' को लिये हुए जिगर, पित्ता, तिल्ली, आदि में भी रसों के रूप में सुरक्षित रहता है। जब अन्न खाया जाता है तो यह शरीर के अङ्ग, अन्न को पचन करने के हेतु भिन्न २ रसों को उत्पन्न करके, अन्न को गला कर नये २ रक्त कणों का निर्माण करते, जीवन प्रवाह को चालू रखते हैं। रक्त कणों में छिपी हुई गर्मी का शरीर में साम्राज्य छाया है। यही वरुण का अधिपति होना है। वाह्य साधनों से प्राप्त अग्नि का शरीर के अन्तः प्रदेश में कार्य करना ही प्रतीची दिशा है। जहाँ सारी यह शक्तियाँ, सर्पाकार (पृदाकु) रीढ़ की हड्डी से लेकर सर्प मुख की भाँति विस्तृत मस्तिष्क भाग तक, सुरक्षित हैं। अथवा ‡हृदय में प्रतिष्ठित नाड़ियां ही पृदाकु हैं, जो शब्द करतीं—रक्त प्रवाह को धक्का देकर शरीर में तेज (वरुण) का सम्राज्य विस्तृत करती हैं। हृदय ❀ की ओर ही (प्रतीची–

---

‡हितानाम ७२००० नाड्यः हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रति अवसृप्य पुरीतति शेते। श० १४-५-१-२१। हृदयाभिमुख तथा हृदय प्रतिगत ७२००० नाड़ियां (सर्प की भाँति सर्पण क्रिया वाली) स्थित हैं।

❀यः (वरुणः) सिन्धूनां स्यन्दमानानां उपोदये सप्तस्वसा। नि० दै० १०-१-५-२१। जो वरुण रक्त-नाड़ियों के केन्द्र में सात भगिनियों (विभक्तियों) सहित प्रकट होता है। वेद मंत्र निरुक्त प्रतिपाद्य, वरुण के उपाख्यान में देखो।

अभिमुखी वा प्रतिगत दिशा में) रक्त लौट कर आता है। अँतड़ियों तथा जिगर, पित्ता, तिल्ली, आदि ही जो शरीर में भिन्न २ रस उत्पन्न करके पाचन क्रिया में सहायक होते हैं, इस सञ्चित सुरक्षित 'वरुण' के रूप हैं, और धमनियों और शिराओं में शब्द करता हुआ रक्त ही "पृदाकु" बन कर अपने लाल कणों (Hemoglobin) में प्राण (Oxygen) वायु को सुरक्षित रखता है। शरीर में अन्न (इषु रूप) प्राप्त होने पर यह वरुण रूप अग्नि पाचक रसों के द्वारा प्राप्त होती है; अथवा रक्त कण ही स्वयं अन्न रूप बन कर—क्रियाशक्ति के उपभोग काल में—शरीर में 'इषु' रूप काम आते हैं। इनसे किस प्रकार नित नये रक्त कणों का निर्माण होता है यह विषय अगले मनसा परिक्रमा मंत्र ४ में मिलेगा।

आधिभौतिक पक्ष में:—

सबसे प्रथम (प्राची दिशा में) कोयला तथा पैट्रोल को जला कर अग्नि प्रकट हुई उसने दक्षिण दिशा में गति वृद्धि की, और वाष्प, गैस, वा वायुओं का रूप धारण किया। इन में जो अन्तर्हित आणविक तेज वा अग्नि है वही वरुण का रूप है। वाष्प या गैस, अग्नि से सहयोग प्राप्त करके फैलना चाहती हैं पर संकुचित स्थान जैसे बॉयलर (Boiler) में घिरे होने के कारण, वह वाष्प (Steam) फैलने के लिए उद्यत, दबाव (Pressure) बढ़ाती हुई प्राप्तछिद्र को पाकर शब्द करती हुई बलपूर्वक निकलती है

और एंजिन गाड़ियों के साथ गर्जन करता हुआ आगे बढ़ता है। वह वाष्प ही गति करती हुई, 'पृदाकु' बनी हुई, इस वरुण रूप अन्तर्हित तेज को, निज कणों के गर्भ में 'आणविक शक्ति' (Kinetic & Potential energy or Pressure) के रूप में सुरक्षित रखे हुए है। भस्म होने वाला कोयला वा पैट्रोल या तेल ही अन्न रूप से इस वरुण नामक तेज की प्राप्ति कराते हैं। कोयला तथा जल का खर्च हो जाना वा वाष्प का कार्योन्मुख होना ही 'प्रतीची' अर्थात् अभिमुखी वा प्रतिगता दिशा है।

बिजली की बैटरी में, तेज़ाब व भस्म होने वाले जस्ता या सीसा इत्यादि के प्लेटों से बिजली के पैदा करने में भी, उपरोक्त मंत्र के अर्थ घटते हैं। तथा च रेडियम, एक्स किरण (Xray) वा बिजली के द्वारा खारी जल में से कास्टिक सोडा इत्यादि सम्बन्धी (Electrolysis) प्रयोगों में भी उपरोक्त सिद्धान्त घटते हैं जो मन्त्र ४ की व्याख्या में लिखे हैं।

ईश्वर तथा विज्ञान पक्ष में:—

अग्नि ऋषि तथा वायु ऋषियों द्वारा ज्ञान का और कर्म का अथवा गति वृद्धि, का उपदेश ऋग्वेद और यजुर्वेद के मंत्रों द्वारा पूर्व दो मंत्रों में हो चुका। अब ज्ञान और निष्काम कर्म से जो तेज बल वा ऐश्वर्य प्राप्त होता है उस को उपासना-सिद्ध ईश्वर-भक्ति रूप जल में अन्तर्हित करने का उपदेश—आदित्य ऋषि सामवेद के द्वारा करते हैं।

जीव ब्रह्मचर्य अवस्था में अथवा अपने जीवन काल में ज्ञान

सम्पादन कर, गृहस्थाश्रम में गति तथा वृद्धि करते हुए वाणप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। यही प्रतीची (प्रतिगता) वा ईश्वर अभिमुखी दिशा है। प्रकृति में अन्तर्हित नाना रूप वाली ब्रह्म-शक्ति जो वरुण रूप है, तथा गति वृद्धि की दिशा में प्रकृति में जो 'पितर' नामक ईश्वर का प्रजापति—प्राण रूप देखा है, उस पर विचार करते हुए—वाणप्रस्थी परमात्मा के गुणों का चिंतन करता है। उसकी अनन्तता में तथा उस परम पिता के महदैश्वर्य के समक्ष—गृहस्थाश्रम का उपार्जित यश तथा स्वाध्याय प्राप्त ज्ञान—मानो पश्चिम दिशा में (प्रतिगतः) विलीन होने लगता है, यह ज्ञान ऐश्वर्य, और यश ही, ईश्वर भक्ति रूप जल में विलीन हो, मानो वरुण संज्ञक होगये। पश्चिम दिशा में जाना, मानो प्रकृति से विमुख हो अन्तर्मुखी बनना है। वे योगी सुषुम्णा नाड़ी तथा अन्य भूमियों में—एकाग्र चित्त हो—अन्तर्हित प्राण शक्ति का संचय और संयम करके इस वरुण रूप प्राण के साम्राज्य का अनुभव करते हैं। प्राण–संचय तथा संयम की भूमियों से क्रियाओं की उत्पत्ति, वा प्राणशक्ति को लिये जो इन्द्रियों की, वा रक्त कणों की, वा अन्तःकरण की वेगवान् गति होती है, वही मानो 'पृदाकु' नामक देवों की गति है। अन्तःकरण आदि तथा हृदय ही पृदाकु बन इस वरुण संज्ञक, ज्ञान बल और ऐश्वर्य को संयम की भूमियों (पितरों) में सुरक्षित रखते हैं। शब्द आदि विषयों का आस्वादन ही अन्न है जो योगी को ब्रह्मज्ञान रूप अन्न की ओर, ब्रह्म आनन्द की प्राप्ति हेतु (इषु) प्रेरित करता है।

इससे शरीर तथा सृष्टि में व्याप्त अन्तर्हित सूक्ष्म शक्तियों का अर्थात् वरुण का साक्षात् होता है।

इस दिशा, तथा उसके अधिपति वरुण, तथा गति करने वाले पदार्थों के—जिनमें वरुण शक्तियां सुरक्षित और प्रेरक रूप में प्राप्त हैं—रहस्य को जान कर हम इन सब के ज्ञान द्वारा—अन्न रूप—स्थायी आनन्द की ओर निरन्तर गति करते हुए (प्रतीची) ईश्वरोन्मुख हों और सर्वत्र आत्मा की सत्ता को देख पारस्परिक द्वेषभाव को उपरोक्त ज्ञान में विलीन करें। इति॥

मन्त्र ११

मनसा परिक्रमा मन्त्र ४

ओ३म् उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वज़ो रक्षिता-ऽशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

ओ३म्। उदीची। दिक्। सोमः। अधिपतिः। स्वजः। रक्षिता। अशनिः। इषवः। तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः॥

शब्दार्थः—उदीची (परली ओर की) दिशा है। सोम राजा है। सूर्य से उत्पन्न वा अपने में से उत्पन्न संतति ही रक्षक है।

विद्युत्-प्राप्ति में वा प्रेरणा में साधक है। उन दिशा, अधिपति, रक्षक, तथा इषु के प्रति नमस्कार। जो हमसे द्वेष करता है वा जिससे हम द्वेष करते हैं उस द्वेष भाव को हम दूर करें।

मन्त्रार्थ का वैज्ञानिक निरूपण

आधिदैविक पक्ष में—

पश्चिम (प्रतीची) दिशा के प्रकरण में–तीसरे मनसा परिक्रमा मन्त्र में, सूर्य तथा वाह्य प्रकाश का अस्त होना, जल पूर्ण बादलों में, वरुण रूप अग्नि वायु आदि के बल का अन्तर्हित होना—हम देख चुके। अब इधर (उदीची) परली ओर उत्तर दिशा में देखिये क्या होता है। 'सोम' का साम्राज्य छाया है। सोम ही विद्युत् ‡ प्रधान बादल है, अथवा, बादलों में विद्युत् परमाणु, जो सूर्य रश्मि द्वारा उत्पन्न हुए हैं, वे केन्द्रीय विद्युत् परमाणु अथवा हव्य कण × वा त्रसरेणु (Ions) ही सोम ❀ रूप अन्न हैं जो वाष्प को जल बिन्दु में परिणत करते हुए वर्षा में सहायक हैं। सूर्य की तिरछी—तेजोमय—सूक्ष्म किरणों द्वारा वायव्य कणों में विद्युत् त्रसरेणु (Ions) सोम–अन्न रूप उत्पन्न होते हैं।

---

‡ वृत्रः (बादल) वै सोम आसीत्। श० ३-४-३-१३; तत्र विस्फूर्जथुः लिङ्गम्, वै० द० ५-२-६; बादलों में बिजली का चमकना बिजली के होने में हेतु है ;

×अन्नं सोमः; कौ० ६–६; अन्नं वै सोमः, श० ३-६-१-८ ;

❀हविः वै देवानाम् सोमः; श० ३-५-३-२;

इन्हीं के चारों ओर, जल में छिपा हुआ प्राण † आकृष्ट होता है। इसी प्रकार हव्य कण भी सोम वा अन्न ❀ प्रधान तेज से संयुक्त होकर—जल में अन्तर्हित प्राण रूप तेज को आकृष्ट करके (प्राण+अन्न) साम्य तैजस अवस्था में जल के ‡ बिन्दु निर्माण करते हैं। तेज द्वारा उत्पन्न उद्वेग, जल को वाष्पमय स्थिति में रखता है। तेज साम्य होने पर ही वह वाष्प जल बन सकता है अन्यथा नहीं। सी. टी. आर. विलसन के इस सम्बन्ध में प्रयोग का उल्लेख हम पूर्व मन्त्र में पृष्ठ (१२३) में कर चुके हैं वहां देख लेना। अतः बादलों में यह सोम-अन्न वा विद्युत का राज्य है।

स्वजः रक्षिता:—

यह केन्द्रीय विद्युत् त्रसरेणु (Ionization) निज प्रभाव द्वारा (By induction) अन्य त्रसरेणुओं की स्वयमेव रचना करने में समर्थ हैं। अपने द्वारा ही अन्य त्रसरेणुओं तथा जल बिंदुओं को जन्म देने वाले—अथवा 'स्वः' सूर्य किरण द्वारा उत्पन्न होने वाले यह त्रसरेणु 'स्वजः' संज्ञक इस विद्युत् के

---

†आपः सोमः सुतः। श० ७-१-१-२२।

❀दक्षिणायां दिशि (रक्त वृद्धि की दिशा में) अविष्यवः (भक्षक) नाम देवाः। अथर्व० ३-२६-२।

‡मरुतः अद्‌भिः अग्निं अतमयन्-तस्य तान्तस्य हृदम् आच्छिन्दन् सा अशनिः अभवत्। तै० १-१-३-१२; वायु जल के साथ, अग्नि को अन्न रूप (तम) बनाता है। उसे प्राण भेदन करता है तब वह अशनि रूप विद्युत् होता है।

साम्राज्य का बादलों में विस्तार करते हैं। जब 'अशनि'+ अर्थात् व्याप्त विद्युत् भिन्न २ बादलों के संयोग * विभाग में कड़क कर 'वज्र' की भांति चमक जाती और जल विद्युत् † रहित हो जाते हैं—तब भारी होने के कारण जल की पृथ्वीतल पर वर्षा होने लगती है। वह जल, अन्तः तेज (अग्नि) को आँशिक पर भेदक रूप (इषु) में साथ लिए—बीज को भेदन कर पृथ्वी पर अन्न औषधि को उत्पन्न करता है।

अध्यात्म पक्ष में:—

मनुष्य शरीर में रक्त, तेज भाग (अग्नि) को लेकर अन्न से लदा हुआ गति करता है यह हम पूर्व मन्त्रों में देख चुके हैं। तब (उत्तर) बांई ओर हृदय भाग में होता हुआ आगे शरीर में धकेला जाता है। वहां शरीर की अनेकानेक ग्रंथि गह्वरों की कोष्ठें (Glands) (स्व) अपने २ आकर्षण individual affinity के अनुसार (ज) उत्पन्न करती हैं (सोम) रस को। इसीलिये रक्त वाहिनिओं के (उदीचीदिक्) उसपार (सोमोऽधिपतिः) भिन्न २

+विद्युत् वा अशनिः। श० ६-१-३-१४। यः अश्नुते व्याप्नोति वा स अशनिः, वज्रम् वा। उ० को० २-१०२।

* अपां संयोगात् विभागात् च स्तनयित्नोः, (बिजली का कड़कना) वै० द० ५-२-११। अपां संघातः विलयनम् च तेज संयोगात्, वै० द० ५-२-८।

†अपां संयोग अभावे (तेज अभावे) गुरुत्वात् पतनम्। वै० द० ५-२-३। जलों के विद्युत्—जो संयोग में कारण था—रहित होने पर जल भारी होने से गिर जाता है।

प्रकार के रसों का साम्राज्य छाया है। यहां (स्वज) शब्द का अर्थ भिन्न २ कोष्ठकों (cells) में, अपने २ में भिन्न २ रस उत्पन्न करने की शक्ति का है, जैसे यकृत ग्रंथि की कोष्ठें पित्त रस, और वीर्य ग्रंथि की वीर्य रस, उसी रक्त प्रवाह में से चुन २ कर उत्पन्न करती हैं। अतः यह उन की निजी शक्ति है जो (रक्षिता) रक्षा करती है; अन्यथा शरीर में रसों (सोम) के अभाव में शरीर में अग्नि बढ़ जाय और शरीर में शुष्कता (dehydration) हो जावे और शरीर के अङ्गप्रत्यङ्ग में सोम (शान्ति आनन्द) का साम्राज्य दूर होजावे।

इस प्रकार सोम-रूप अन्तकरणस्थ ❋ जीवन शक्ति का साम्राज्य सुरक्षित होता है अथवा वह यह शरीर में व्याप्त जीवन शक्ति वा प्राण शक्ति, (अशनि) वासना×रूप, मनोमय तेज में इषु रूप प्राप्त और प्रतिष्ठित † होती है सोम ही

❋ मन एव अग्निः। श० १०-१-२-३। मनो वै प्राणानाम् अधिपतिः। श० १४-३-२-३। यन्मनः स इन्द्रः (जीवन शक्तिः)। गो० उ० ४-११। मनसि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः श० ७-५-२६।

×काम संकल्पः मन एव, श० १४-४-३-६।

†अथ एनं उदीच्याँ दिशि विश्वे देवाः अभिषिंचन् वैराज्याय। ऐ० ८-१४, सोमाय, कौ० ६-६। जीव के मन के हेतु विश्वेदेव रस वहाते हैं।

वीर्य‡ है, जो रक्त का अन्तः परिणाम है। यह वीर्य भी निज (पुरुष) जैसे सन्तान परम्परा (स्वजः) को उत्पन्न करता हुआ, प्राणी की जाति को जीवित रखता है। मनोमय विद्युत् तेज ही, वासना के रूप में, इस वीर्य द्वारा सोम रूप सन्तान-क्रम को सुरक्षित रखता है। वासना मय "अशनि—मन" द्वारा वीर्य का निज सन्तान क्रम को जारी रखना ही, "स्वजः रक्षिता" सोम के साम्राज्य की रक्षा करना है।

आधिभौतिक पक्ष में:—

सोम ÷ ही चद्रमा है। यह 'स्वः' सूर्य से 'जः' जन्मा है। 'स्वः' सूर्य प्रकाश से ही इसका प्रकाश 'जः' प्रकट होता है। सूर्य के परली ओर (उदीची दिक्)—सूर्य के (प्रतीचीदिक् में) अस्त होने पर, चन्द्रमा के प्रकाश का रात्रि पर साम्राज्य विस्तृत होता है। 'अशनि' † चन्द्रकिरणें ही इषु हैं जो चन्द्रमा की प्राप्ति 'सोमरूप' अन्न औषधि के हेतु कराती हैं। चन्द्रमा की आभा का विस्तार इन चन्द्र किरणों से होता है।

उत्तर दिशा में 'सोम' विद्युत् साम्राज्य है। विद्युत् ❀ की उत्तर दिशा में बहुतायत है। वहां ६ मास रात्रि होती है जिसमें

‡ रेतः (वीर्य) सोमः। कौ० १२-७। श० १६-२-६।

÷ चन्द्रमा उ वै सोमः। श० ६-५-१-१। कौ० १६-५।

† यः अश्नुते—व्याप्नोति वा स अशनिः। उ० २-१०२।

❀ अथः एतस्याम् उदिच्यान् दिशि भूयिष्ठं विद्योतते, (षड्विंश ब्रा० २-४)

लगभग २॥ मास तक आकाश में बिजली का प्रकाश होता रहता है। इसे "औरोरा बोरियलिस" (Aurora Borealis) कहते हैं। यह बिजली 'स्वजः' सूर्य, पृथ्वी, तथा ध्रुवतारे के पारस्परिक 'वरुण' ꕥ वा 'सोम' रूप चुम्बक प्रभाव से प्रकट होती है। तथा यह प्रकाश उस चुम्बक क्षेत्र में वज्र रूप (अशनि) विद्युत् के चमकने से होता है।

विद्युत् प्रवाह द्वारा (Electrolysis) जो जलीय क्षार को ध्वंस किया जाता है तो क्षार कणों के दो भाग, विद्युत् भार को वहन करते हुए बिजली के दोनों तारों की ओर गति करते हैं। और कास्टिक सोडा और क्लोरिन गैस उत्पन्न करते हैं। यह क्षार भाग जो विद्युत् भार से युत हैं, सोम+हैं। यह पानी में क्षार के घुलने मात्र से 'स्वजः' स्वयमेव उत्पन्न होते हैं। विद्युत् के दोनों तारों में तथा क्षार जल में व्याप्त जो 'अशनि' बिजली है वह इन विद्युत भारयुत क्षार कणों को दोनों तारों तक 'इषुवत्' प्रेरित † करती है। जल में त्रसरेणुओं के गुण का, घोलन परिणाम स्वरूप, अन्तर्हित होना, प्रतीची (प्रतिगत) दिशा में वरुण का साम्राज्य है, जो बिजली के तारों को क्षार जल में डालते ही 'सोम'ꕥ रूप अन्न (Ions) के साम्राज्य में बदल जाता है।

ꕥवरुणः सोमस्य राज्ञः। श० ४-२-१-११।

+ सवति (प्रेरयति) इति सोमः। उ० को० ४-१५१।

सवति ऐश्वर्य हेतुः भवति इति सोमः। उ० को० १-१४०।

† वरुणः वै सोमस्य राज्ञः (श० ४-२-१-११)

गतिशील त्रसरेणु ही पृदाकू हैं इन त्रसरेणुओं में कास्टिक सोडा तत्व (सोम) ही अन्न है।

(X ray tube)एक्स किरण यन्त्र में दोनों तारों के बीच विद्युत भार अर्थात् धरातल भेद (Potential Difference) अति अधिक होता है उस विद्युत् क्षेत्र में वरुण का साम्राज्य है। विद्युत् क्षेत्र में किंचित मात्र शेष—वायव्य परमाणु—अन्तर्हित (वरुण रूप) विद्युत् शक्ति के वाहक होकर सोम का साम्राज्य विस्तृत करते हैं। बैटरी या डाइ-नेमो से बिजली एक गोल लपेटे तार (Induction coil) में से आती है। इस के चारों ओर दूसरा तार व्यवधान (Insulator) देकर लपेटा होता है जिसे (Secondary coil) गौण तार कहेंगे। इस दूसरे तार में गोलक संख्या अधिक तर होने से 'स्वजः' स्वयमेव ही, (पूर्व तार में बिजली के रुक २ कर गति करने से) उस एक्स किरण यन्त्र में तारों के सिरों पर उत्पन्न हुई विद्युत, ऊँचे धरातल (Voltage) को तथा संचित दबाव को जो क्षीण होता रहता है—पहिले जैसा क़ायम रखती है। यन्त्र के दोनों सिरों के बीच तल भेद इतना अधिक हो जाता है कि 'अशनि' विद्युत् झपट कर एक तार से दूसरे तार पर 'इषु' रूप आकृष्ट और आक्रान्त हो कर, धरातल भेद मिटाती है। फलतः सूक्ष्मतर वायव्य परमाणु, जो पम्प करने के उपरान्त यन्त्र में बच रहे हैं—'अशनि' विद्युत

वज्र के आघात से ❀ छिन्न भिन्न हो (X ray) एक्स किरण उत्पन्न करते हैं, जो मनुष्य के फेफड़े का फ़ोटो खींचने में काम आती है।

रेडियम Radium स्वयमेव 'सोम' रूप है। अन्नरूप केन्द्रीय विद्युत् त्रसरेणु (Alpha ray) ऐल्फा किरण—धाराप्रवाह रूप में रेडियम से निकलते रहते हैं। Radium रेडियम के भीतर (स्वजो रत्तिता) स्वतः ही अणुओं (atoms) के टूटने की क्रिया होती रहती है, जिस में प्राणरूप बीटा नामक किरण के पृथक होने के साथ २ उपरोक्त केन्द्रीय विद्युत् परमाणु भी पृथक होते रहते हैं। इसमें 'अशनि' व्यापक (पदार्थों को भेदन करने वाली) गामा नामक किरण हमें प्राप्त होती हैं उसका वैज्ञानिक उपयोग करते हैं।

ईश्वर और विज्ञानपत्त में—

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, और वाणप्रस्थ आश्रमों में ज्ञान,, कर्म और उपासना का ईश्वरीय उपदेश ऋक, यजु, साम द्वारा पिछले मंत्रों में अग्नि, वायु (इन्द्र) तथा वरुण (आदित्य) ऋषियों द्वारा हो चुका। प्रकृति ज्ञान उपार्जन तथा निष्काम कर्म क्षेत्र में, तथा सृष्टि में, परमात्म विभूतियों के दर्शन काल में, अर्थात् ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वाणप्रस्थ आश्रमों में—जीव का प्रकृति की ओर मुख था। अब

❀ ये अस्यॉं उदीच्यॉं दिशि प्रविध्यन्तः नाम देवाः, तेषाम् वो वात इषवः। अथर्व० ३-२६-४। उत्तर दिशा में जो प्रबल आघात करने वाली शक्तियां है उनकी प्राप्ति में वायु साधन है।

उत्तर दिशा में अर्थात् परली ओर स्वयम् सोमरूप ब्रह्म का उपदेश अथर्ववेद में अङ्गिरा ऋषि—अथवा प्रकृतिस्थ महा ॐ प्राण शक्ति के साक्षात् द्वारा, संभव होता है। सोम रूप ब्रह्मानन्द का साम्राज्य छाया है। यह ब्रह्मानन्द का अनुभव 'स्वजः' निज आत्म तल पर प्राप्त होता है। वहाँ यह सोम रूप ब्रह्म का स्वयमेव स्थित स्वराज्य सुरक्षित है स्वयं तपोमय ज्ञानमय ब्रह्म से उत्पन्न यह ब्रह्मानन्द है—प्रकृति अथवा बाह्य साधन इसमें उपादान कारण नहीं। अन्तमुर्खी जीव भी स्वयमेव उत्पन्न अन्तः-तल स्थित निज आनन्द को ही इस प्रकृति—जन्य सुख की मूल में पाता है। सृष्टि में ब्रह्म की उपासना से अर्चित आत्म ज्ञान ही वह 'अशनि ‡' वज्र है व्यापक ज्ञान है, जिस से मनुष्य को, प्रकृति को वेध कर आत्मतल की प्राप्ति होती है। आत्मतल में व्यापक विष्णु † अगले मन्त्र ५ का देवता है वही अमृत है* वही ओज×, बल, है। अतः प्रकृति से परली दिशा—उसमें सोम का साम्राज्य—स्वबल से उस सोम का संरक्षण होना—तथा विद्युत् वा मनोमय तेज रूप अशनि द्वारा सोम प्राप्ति—ये विषय हमारे जानने योग्य हैं—ब्रह्म की महत्ता को

ॐसोमः वै प्रजापतिः। श० ५-१-३-७।

‡अश्नुते व्याप्नोति इति अशनिः; वज्रं वा। उ० को २-१०२।

†यद्वैविष्णु :सोमः सः। श० ३-३-४-२१।

*तद् यत् अमृतं सोमः सः; श० ६-५-१८।

×ओज सहः; बलंवै सहः, सहसः स्वजः ॥ कौ० ३-५; श० ६-६-२-१४; ऐ० ३-२६।

जताने वाले हैं। यह रहस्य जान कर हम द्वेष भाव को, प्रकृतिस्थ गुणों का परिणाम समझ कर, निज मन से दूर करें॥ इति॥

मन्त्र १२

मनसा परिक्रमा मन्त्र ५

ओ३म् ध्रुवा दिग्विष्णुः अधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

ओ३म्। ध्रुवा। दिक्। विष्णुः※। अधिपतिः। कल्माष‡ ग्रीवः। रक्षिता। वीरुध। इषवः। तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे दध्मः॥

आत्मा वा पृथ्वी वा नीचे की दिशा है। अन्न वा सोममय विष्णु का साम्राज्य छाया है। कृष्ण ग्रीव वा कुल्माष अन्न जिस (जठराग्नि) की संस्थिति करें, वह अग्नि ही इस विष्णु † के

'※कुल्माषग्रीवः' इति पैप्प० सं०। 'यमः अधिपतिः' इति तै० सं०। अग्निः वा असितग्रीवः। यजु० २३-१३। श० १३-२-७-२। असित-कृष्ण कल्माषः कृष्णः। शब्द कल्पद्रुम। कुल्माषः—अधपके गेहूँ चना, उबले हुए—शब्दार्थ चिंतामणि कोष। कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति। नि० मू० १-३।

‡अग्निः वै देवानाम् अवमः विष्णुः परमः। ऐ० १-१।

†वीरुध ओषधयः विरोहणात्। नि० नै० ६-१-३-६।

साम्राज्य की रक्षक है। औषधियाँ ही इषु रूप हमें प्राप्त होने वाली वस्तु हैं। इन दिशा अधिपति, रक्षक तथा इषुओं के गुणों द्वारा हम आक्रामक रोगों की शान्ति करें।

आधिदैविक पक्ष में :—

ध्रुवा—निश्चल दिशा पृथ्वी ‡ है, यही नीचे की अधरा दिशा है। पृथ्वी के अग्नि संयुत सूक्ष्म परमाणु (जो अन्न आदि के उत्पन्न करने वाले हैं) तथा अन्नवीर्य ही विष्णु ❀ रूप हैं, उनका यहाँ विस्तार है। अन्तर्हित अग्नि जो भूगर्भ से पृथ्वीतल पर आती है तथा वह अग्नि * जो बरसते जल कणों के गर्भ में तेज, रूप से छिपी हुई है, औषधि अन्न की उत्पादक शक्ति के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। यह अग्नि जो कण २ में व्याप्त है, अन्न उत्पादन हेतु जलीय रसों द्वारा, वनस्पति-औषधियों को प्राप्त होती है। पृथ्वी तल को फाड़ कर निकलने वाले अंकुर उस रस को पाकर बढ़ते हैं। जो तेजाँश वर्षा जल में अन्तर्हित, पृथ्वी तल पर प्राप्त होता है, वह पार्थिव परमाणु में मिल कर, बीज से किसान के खेत में संयुक्त होकर, अंकुर उत्पन्न करता है। तेजो-

---

‡पृथिवी ध्रुवा। तै० ३-३-१-२। ध्रुवादिक् अधरादिक् इति सायणः।

❀यत् तद् अन्नं एष स विष्णुः। श० ७-५-१-२१। यः वै विष्णुः सोमः स, श० ३-३-४-२१। रेतः (वीर्यं) सोमः। कौ० १३-७। श० १-९-२-९। वैष्णवं हि हविर्धानम्। श० ३-५-३-१५। अग्निः वै देवानाम् अवमः विष्णुः परमः ऐ० १-१।

*अस्यां ध्रुवायां दिशि अग्निः देवता। श० १४-६-६-२५।

मय अग्नि, जो वर्षा जल में—तदेवं पार्थिव रसों में (विष्णु रूप) व्याप्त है। वह पृथ्वी के परमाणुओं को भेदन करके उन में से 'सोम रस' अन्नभाग को आकृष्ट करती है, और वही अग्नि (प्राणरूप से) बीज स्थित प्राणीभाग को उत्तेजित करती है। वह बीज स्थित प्राण—बीज के पार्थिव (अन्न) भाग को कुछ भक्षण करता हुआ (वीरुध) अंकुर छोड़ता हुआ, पृथ्वी के रसों में घुस जाता है; वहाँ निज बल से अथवा अन्य कीटाणुओं की सहायता से—निज इष्ट अन्न को खाने के हेतु—जड़ों के सहारे—उस सोम (अन्न) रस को (इषु) पाता है, जिसे जलीय अन्तर्हित तेज ने रसों में पकाकर रख छोड़ा था।

इस प्रकार वनस्पति, औषधि, तथा अन्न आदि उत्पन्न होते हैं। वह (कल्माषग्रीव) अन्तर्हित अग्नि—जो कि प्रारम्भ में सूर्य किरणों से बादलों में प्राप्त हुई थी—अब समय पाकर—पुनः सूर्य संयोग सहित (कल्माषग्रीव–असित) रङ्गविरङ्गे—पुष्प, औषधि, वनस्पति, फल, वा अन्न आदि की प्राप्ति कराती है, और इस प्रकार विश्व के भोजन की सृष्टि होती है। पृथ्वी में व्याप्त (विष्णुरूप) अन्न, जल, अग्नि की यदि बहुतायत न हो तो भी उत्पत्ति संभव नहीं। यह ज्ञान हमें प्राकृतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति में सहायक हो और हम रोग रहित बलवान हों।

अध्यात्म पक्ष में:—

(उदीची) उत्तर दिशा में हृदयस्थ जीव की प्रधानता में, जीवन शक्ति युत रक्त कणों द्वारा, नव रक्त की उत्पत्ति तथा वीर्य

द्वारा संतति होना (स्वजः रक्षिता) हम देख चुके। अब ध्रुवा‡—अधरा-नीचे को अथवा (ध्रुवा) आत्मा पक्ष में मन्त्रार्थ विचारणीय है। मनुष्य के नाभि प्रदेश तथा धड़ के निम्न भाग 'उदर' का वर्णन करते हैं कि वहाँ—उदरस्थ पित्ता·जिगर आदि से पाचन अग्नि के प्रकट रूप [कल्माष (असित) ग्रीव] रङ्ग विरंगे रस—अन्न के पचाने वाले, रसायनिक पदार्थ निकल पड़ते हैं जो शरीर में पाचन शक्ति का कार्य सुरक्षित रखते हैं। फलतः रस की उत्पत्ति होती है, जो अशुद्ध रक्त के रूप में फेफड़े में प्राण वायु को लेकर, हृदयस्थ (अधरा दिक् स्थित) ❀ शक्ति द्वारा प्रभावित, रक्तस्थित जीवाणु द्वारा—नये नये रक्तकणों वा रक्त-स्थित जीवाणुओं की (वीरुध इषवः) शरीर में प्राप्ति कराता है। रक्त ही पुष्ट होकर वीर्य को बनाता है, यह वीर्य ही (वीरुध) अंकुर शक्ति रूप शरीर में (इषु) प्राप्त होने वाला पदार्थ है।

आधिभौतिक पक्ष में:

(ध्रुवादिक्) पृथ्वी * तल में (कल्माष) ‡ अनेक रङ्ग वाली मिट्टी में, (कल्माषग्रीवो रक्षिता) अग्नि, चुम्बक तथा

---

‡ ध्रुवा—अधरा (निम्न) प्रदेश...इति सायण। ध्रुवा आत्मा, तै० ३-३-१-५।

❀ ध्रुवा—(अधरादिक्) आधार रहित हृदय, रक्त समुद्र में गति करता प्रतीत होता है। अधरा इति सायण।

* पृथिवी ध्रुवा। तै० ३-३-१-२।

‡ कल्माष=असित; सित शुक्ल वर्ण अर्थात् सप्त रङ्ग का समुदाय; असित्-समुदाय रहित अर्थात् भिन्न २ रङ्ग।

आकर्षण शक्ति से व्याप्त (विष्णु) विस्तृत क्षेत्र में, भूगर्भ स्थित–रत्न, धातु, अन्न आदि विविध ऐश्वर्य तथा वल उत्पादक पदार्थ होते हैं, जिन्हें (वीरुध इषवः) पृथ्वी से ऊपर–पृथ्वी तल को फोड़ कर प्राप्त किया जाता है। भूगर्भ में उपरोक्त व्यापक शक्तियां ही विष्णु की व्याप्ति की सूचक हैं। लोह जैसे (कल्माष) असित = कृष्ण पदार्थ में चुम्बक शक्ति (विष्णु) सुरक्षित रहती है। तदेवं आकर्षण शक्ति, प्रत्येक पार्थिव कण में व्याप्त गुरुत्व वा आकर्षण का संयोग मात्र है। इन्हीं 'असित' वा 'कल्माष' = कृष्ण पदार्थों द्वारा वह शक्ति संचित और रक्षित होती है। जो सित = श्वेत पदार्थ हैं वे ऊपर को 'वीरुध' निकाले जाकर प्राप्त होते हैं। अथवा रङ्ग विरंगे पृथ्वी के धातुक्षार (कल्माष) पदार्थों से भी धातु आदि को (कल्माषग्रीवो रक्षिता) श्वेत अग्नि ताप, द्वारा पिघला कर अलग किया जाता है। श्वेत रङ्ग जल का रूप कहा गया है तथा च धातुओं को आयुर्वेद शास्त्र में रस कहा भी जाता है। इनके गुणों को जानकर हम सुखपूर्वक दीर्घ आयु सहित जीवन को सुगम बनावें।

ईश्वर तथा विज्ञान पक्ष में—

प्रकृति में, तथा शरीर में निज अन्तःकरणों में—ओज वा सोम की वृद्धि कर योगी, व्यापक (विष्णु) ब्रह्म शक्ति का सर्वत्र अनुभव करते हैं। इसका विशेष ज्ञान 'ध्रुवादिशा' अर्थात् मूलाधार प्रदेश में संयम और तप से प्राप्त होता है। मूलाधार में अथवा आत्मतल पर योगी ध्रुव (निश्चित) धारणा करते

हैं कि ओहो—प्रकृति में व्यापक परमात्मा की विष्णु रूप शक्तियाँ, समस्त जगत तथा इस शरीर को (कल्माष ग्रीव) नाना भेद से, धारण और पोषण करती हैं। यह श्वेत, हिरण्यमय, वाह्य पदार्थों के अन्तरालय में (कल्माष) नाना भांति के रङ्ग बिरंगे अथवा (काले) रहस्य मय पदार्थों में छिपा हुआ, अग्नि स्वरूप ब्रह्म ही व्याप्त है। इस विश्व में व्याप्त ब्रह्म शक्ति—विष्णु का बोध होने पर, आत्म ज्ञान रूप (वीरुध इषवः) अंकुर, मानों 'ध्रुव' ❀ अविनश्वर आत्म तल पर, उदय होता है॥ इति॥

मन्त्र १२

मनसा परिक्रमा मन्त्र ६

ओ३म् ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्योनमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।

ओ३म्। ऊर्ध्वा। दिक्। बृहस्पतिः। अधिपतिः। श्वित्रः। रक्षिता। वर्षम्। इषवः। तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः॥

शब्दार्थः—'ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर की दिशा में 'बृहस्पति' महा-

❀ ध्रुवा वै आत्मा। तै० ३-३-१-५।

प्राण ❁ का राज्य है। (श्वेत वायव्य, पार्थिव, मेघरूप, आकाश गङ्गा अथवा शुभ्र वर्ण एलुमिनियम चांदी वा रसौषधियां वा सूक्ष्म वीर्य रस अथवा निर्मल आत्मज्ञान) प्रभृति (श्वित्र) * श्वेत पदार्थ ही इस महाप्राण के राज्य रक्षक हैं। सृष्टि रचना, ऋतुऐं बल, ऐश्वर्य तथा ईश्वरीय स्नेह जल रूप (वर्षम् † इषवः) वर्षा ही प्राप्त होने वाले पदार्थ हैं।

आधिदैविक पक्ष में:—

ऊर्ध्व दिशा ‡ महान् आकाश है। उसमें 'बृहस्पति' महा-प्राण ❁ शक्ति का राज्य है। प्रकृति ही उस राजा की सम्पत्ति है। यह प्रकृति महती—फैली हुई, सतगुण द्वारा महत् तत्व के रूप में, शुभ्र वर्ण रूप ज्योतिः मात्र—तथा रजोगुण के रूप में क्रिया शक्ति, तथा भोग्य वस्तुओं के रूप में तमो गुण वाली है। यह

❁ एष प्राणः उ एव बृहस्पतिः। श० १४-४-१ २२।

* श्वेतते—वर्ण विशिष्टः भवति इति श्वित्रम् (उ० को० २-१३)। जो पदार्थ श्वेत रंग वाला हो वही श्वित्र है।

† वर्षा एव यशः। (गो० पू० ५। १५। यदावै वर्षा पिन्वते अथ एनाः सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि उपजीवन्ति। वर्षा के द्वारा ही मानो पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश—इन्द्रियें—मन तथा प्राणीवर्ग रूप समस्त सृष्टि में जीवन संचार होता है। श० १४-३-२-२२।

‡ अथ एतद् अन्तरिक्षं ऊर्ध्वादिक् एषाहि दिग् बृहस्पतेः।
श० २-३-४-३६।

प्रकृति सृष्टि रचना निमित्त आकाश से आदि लेकर समस्त पदार्थों के रचनार्थ सामने खड़ी है। इसी में महा प्राणशक्ति वृहस्पति का आधान होकर सृष्टि रचना प्रारम्भ होती है। प्रकृति को प्राण सहित सृष्टि विस्तार करना है। यह आकाश में दीखने वाली 'शिवत्र' आकाश गङ्गा रूप, श्वेत धारा प्रकृति की प्रथम भौतिक रचना है। इस श्वेत धारा के गर्भ में सृष्टि के सूर्य, नक्षत्र, पृथ्वी आदि पदार्थ बन रहे हैं। जब प्रकृति में महाप्राण का आधान होता है तो प्रकृति से "वर्ष-मिषव:" रस धारा के प्रवाह रूप में अपतत्वों (गैस + जलीय) पदार्थों की रचना होती है। यही वर्षा है जो अग्नि मय, जल-मय, फिर पिण्ड रूप ठण्डी होकर, ग्रह उपग्रहों के प्राकृत अंशों (Nebula) का प्रारम्भिक निर्माण करती है।

अध्यात्म पक्ष में:—

मनुष्य शरीर में, वीर्य ऊर्ध्व गति करता हुआ, ललाट प्रदेश में (ऊर्ध्व दिशा में) स्थित होता है। (शिवत्र) श्वेत, निर्मल, यह वीर्य ही (ओज रूप) प्राण की शरीर में रक्षा करता है; और

+ प्राणाः वै मारुताः। श० ९-३-७।

अथ एनं-ऊर्ध्वायाँ दिशि मरुतः आङ्गिरसः च देवाः अभि-अषिंचन्—पारमेष्ठ्याय, महाराज्याय, आधिपत्याय, स्वावश्याय, अतिष्ठाय। ऐ० ८-१४, इस ऊर्ध्व दिशा में मरुत वायु, और आङ्गिरस (जल-प्राण) सींचते हुए, इस जीव को महान् प्रतिष्ठा, राज्य, आधिपत्य, संयम-स्वत्व आदि की प्राप्ति के हेतु—(सृष्टि की उपलब्धि कराते हैं)।

(बृहती = वाणी) इन्द्रियों के स्वामी–बृहस्पति–प्राण का समस्त शरीर में मस्तिष्क नाड़ियों (Motor nerves and Sensory nerves) के द्वारा साम्राज्य स्थापित करता है। वीर्य का मुख्य भाग मस्तिष्क के (श्वित्र) पीले तथा श्वेत अंगों में स्थित हो, बृहस्पति प्राण के शासन को शरीर में यथावत् सुरक्षित रखता है। वीर्य के सूक्ष्मतर अंश की तरल पदार्थ रूप में—मस्तिष्क भाग में वर्षा होती रहती है। यह वर्षा ही मस्तिष्क तथा मस्तिष्क शिराओं (nerves) की जान है। यह उन्हें गीला † रखती है; और ज्ञान शक्ति और प्राण शक्ति को इषु रूप से सब ओर से संचित तथा सब तरफ संचरित करती रहती है।

आधिभौतिक पक्ष में:—

तेजोमय—पारद, स्वर्ण, चांदी, आदि पदार्थों को 'सोम' औषधि से संयुक्त कर (घोट कर) अग्नि प्रदीप्त करते हैं तो औषधियों के गुण-जीवनदाता प्राणरूप बन कर इन रसायन पदार्थों में खिच आते हैं और ताप के प्रभाव से काँच की बोतल में ऊर्ध्व गति करते हुए शुभ्र (चमकीले) रङ्ग वाले (Crystal) रसायन में सुरक्षित रहते हैं और शरीर में जीवन वर्षा करके सुख देते हैं।

ऊर्ध्व दिशा * आकाश में गति करने वाले वायुयानों में उड़ने

---

†आ त्वा विशन्तु इन्दवः आगल्दा धमनीनाम्। नि० नै० ६-५-२५-१०६ ज्ञान तन्तु (मस्तिष्क की नाड़ियों) को रस प्राप्त होता रहे।

*अथ एतद् अन्तरिक्षं ऊर्ध्वा दिक्……। श० २-३-४-३६।

वाले योद्धा, ‡ विश्वविजयी बृहस्पति (चक्रवर्ती) राजा के शासन को स्थापित करते हैं। वे वायुयान (श्वित्र) श्वेत रङ्ग वाले (एलुमिनियम) धातु तथा पैट्रोल के प्रयोग द्वारा बनाये वा चलाये जावें। और आकाश से आग्नेय बम वर्षा वा वारुणी गैस (बम) के द्वारा शत्रुओं को नाश किया जाय।

ऊर्ध्व आसन पर खड़े हो बृहस्पति विद्वान् (श्वित्रो रक्षिता) निर्मल ज्ञानमय उपदेशामृत से प्रेम की वर्षा करें, और (बृहस्पति) वेद वाणी को मनुष्यों तक पहुंचावें।

ईश्वर तथा विज्ञान पक्ष में:—

ऊर्ध्व दिशा*—अर्यमा नामक ईश्वर के जानने वालों का मार्ग है, ध्रुवादिशा अर्थात् आत्मा में स्थित योगी जिसने निर्मल (श्वित्र) आत्म ज्ञान द्वारा 'काम क्रोध' आदि से अपनी रक्षा की हुई है—वह योगी विष्णु रूप व्याप्त ईश्वरीय शक्ति का दिग्-दर्शन अपने जीवन काल में इस (ध्रुवा) पृथ्वी पर कर लेता है तब वह ईश्वर के जानने वालों की राह (ऊर्ध्वादिक् में) जाता

---

‡ऊर्ध्वादिक् अर्यम्णः पन्थाः। श० ५-५-१-१२।

अर्त्तं पन्थाः पुरुरथः अर्यमा—अरीन् नियच्छति। नि० दै० ११-२-२०-१६। नियमित गति करने वाला—वेग से बड़े यान में जाने वाला रक्षक योद्धा शत्रु का नाश करता है।

*ऊर्ध्वादिक अर्यम्णः पन्थाः। श० ५-५-१-१२।

अर्यं जानाति इति अर्यमा। उ० १-१५६।

अर्यः ईश्वर नाम। निघण्टु २-२२।

है। जब निर्मल सहस्रार क्षेत्र (श्वित्र) में वह प्राणायाम वा योग द्वारा (बृहस्पति–प्राण) को एकाग्र करता है तो उस महा प्राण के चिन्तन में परमात्म तत्व की विभूतियों का साक्षात् करता है, तब निर्मल आत्म तेज का आधिपत्य प्रारम्भ होता है—अर्थात् आत्म बल उभरने लगता है, यहां तक कि सर्व रक्षक (श्वित्र) भक्तवत्सल दयामय प्रभु, इस तपोमुख जीव की प्रेमानन्द वर्षा से पिपासा शान्त करते हैं। इस आत्मवित् का यह (ब्रह्ममधु) स्नेह जल पान, उस जीव को ईश्वरोन्मुख करता हुआ मुक्ति का द्वार खोल देता है। मुक्ति के हेतु ऊर्ध्वगति तथा अन्त में प्रेम जल स्नान किस प्रकार होता है यह अगले सन्ध्या मन्त्रों में देखिये। ॥ इति ॥

इस प्रकार, मन द्वारा विश्वचिन्तन करते हुए, सत्य–स्थिर सुख के स्रोत विश्वात्मा, तथा सुख प्राप्ति के अभिलाषी जीव, और इन दोनों पुरुषों की आज्ञा वर्तिनी प्रकृति–इन तीनों के रहस्यों को देखता हुआ उपासक न केवल शारीरिक एवं च मानसिक दुःखों के भी दूर करने की लौकिक और पारलौकिक सामग्री को प्राप्त करने की विधि जान लेता है, वरंच वह उपासक, ईश्वर को सब शक्तियों तथा ऐश्वर्य का आदि मूल देखता है, और उसी का प्रकाश सर्वत्र उसे दीखता है। तब वह अपने कर्तव्य क्षेत्र को विस्तृत करता हुआ–पर मनको एकाग्र रखता हुआ—सब से मित्र भाव को प्राप्त होता है। इस संसार क्षेत्र में सब से बड़ी उन्नति प्राप्त करने तक के साधनों का विचार इन मन्त्रों द्वारा

सम्भव होता है और तभी ईश्वर के मार्ग में पहली सीढ़ी पर उसका पांव जम जाता है। वहां से ऊर्ध्व गति करते हुए वह अन्धकार लोक से ऊपर जाकर सुख लोक–तदनन्तर उत्तरोत्तर गति करते (ब्रह्म निर्वाण) मुक्ति तथा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करता है।

इति मनसा परिक्रमा मन्त्राः ॥
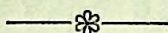
मनसा परिक्रमा मन्त्रों से सम्बन्धित देवता परिज्ञान विषयक विस्तृत परिचय, वैदिक साहित्य से संकलित, आगे नक़्शे में दिया गया है, जो विचार योग्य है तथा अनेक रूप में विश्व विज्ञान का परिचायक है।

———:०:———

मन्त्र १४

उपस्थान मन्त्र १

ओ३म् उद्वयं तमसस्परिस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।

ओ३म् । उत् । वयं । तमसः । परि । स्वः । पश्यन्त । उत्तरं देवं । देवत्रा । सूर्यम् । अगन्म । ज्योतिः । उत्तमम् ।

शब्दार्थ तथा भावार्थः—

मनसा परिक्रमा मन्त्रों द्वारा इस आध्यात्मिक तथा प्राकृतिक जगत का विवेचन करते हुए, और ऊर्ध्व गति करते हुए, (तमसः-परि) अज्ञान अन्धकार से परे, (उत्) उन्नति के पथ में-दुःखों से दूर (स्वः) वासनामय संसार में सुख की प्राप्ति के हेतु— हमारी इन्द्रियें, मन बुद्धि अन्तःकरण, तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, विद्युत् , सूर्य, चन्द्र आदि (देव) दिव्य गुण वाले पदार्थ हमें इस सृष्टि में प्राप्त हैं। इन मन बुद्धि आदि तथा पृथ्वी सूर्य आदि दिव्य गुण युक्त भौतिक पदार्थों से (उत्तरं देवं) अधिक तर दिव्य ज्योति वाला देव हमारा आत्मा तथा प्राण है। उस (उत्तरं देवं) आत्मशक्ति वा प्राण शक्ति को (पश्यन्त) देखते हुए, (वयं) हम (उत्तरं) प्रकृति तल से अधिकतर उन्नति की ओर (अगन्म) अग्रसर होते हैं। यह प्राण शक्ति और आत्म शक्ति ही, (देवत्रा) मन बुद्धि इन्द्रिय और भौतिक दिव्य पदार्थ सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि देवों में, उनके देवत्व गुणों को सुरक्षित

रखती हैं। इस आत्म तथा प्राण शक्ति को जानकर (उत्तमम्) और भी अधिक से अधिक उन्नति करते हुए हम परमात्मा तक गति करते हैं। उपरोक्त सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि देवों में जिस प्रकार सूर्य (ज्योतिः उत्तमम्) सब से उत्तम ज्योति भासमान है; तदेवं इन सब सूर्य आदि देवों और उनसे अधिक दिव्य गुण युक्त जीव और प्राण शक्ति की भी अपेक्षा, यह ब्रह्म सबसे उत्तम ज्योति है, जो सृष्टि मात्र में, तथा जीव के भी अन्तःतल में, प्रतिभासित है। इस सर्वोत्तम ज्योति तक, हम प्रथम प्रकृति तल से, तदुपरान्त आत्मतल से, (अगन्म) ऊर्ध्वतम गति करते हैं।

मन्त्र १५

उपस्थान मन्त्र २

ओ३म् उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम्।

ओ३म्। उत्। उत्। यं। जातवेदसं। देवं। वहन्ति। केतवः। दृशे। विश्वाय। सूर्यम्।

शब्दार्थ तथा भावार्थः—

अज्ञान अन्धकार से (उत्) ऊपर उठकर, ज्ञान पूर्वक हमने (स्वः) सुख सामग्री का उपार्जन किया, और सुख अनुभव किया। पुनः इन्द्रिय जन्य ज्ञान तथा तदर्चित सुख अनुभव के उपरान्त, इन्द्रियों (देवत्रा) की त्राता (रक्षक) प्राण शक्ति और निज

आत्म-शक्ति का अनुभव किया। इस प्रकार (उत् उत्) ऊपर उठ उठकर-उन्नति करते करते, जो सूर्य की न्याईं सर्वोच्च परम आत्मा है, जो प्राकृतिक पदार्थों में तथा जीव के अन्त: तल में छिपा हुआ है और सर्वत्र व्याप्त होने पर भी आँख से ओझल रहता है, तथा (यं जात वेदसं देवं सूर्यम्) जो इस सृष्टि के उत्पन्न होने पर ही अपनी शक्तियों को—प्रकट रूप में-अर्थात् वेद ज्ञान, तथा ज्ञातव्य विषय (विद्युत्, ताप, प्रकाश, चुम्बक, आकर्षण, अणु शक्ति) के रूपों में—हमारे प्रति उद्भासित करता है-ऐसे उस सूर्य समान, इस विश्व के नियन्ता प्रकाशक, उत्पादक, परमात्मा का-(दृशे) साक्षात् कराने के हेतु, केवल उपरोक्त प्राकृत शक्तियाँ ही तो हमें प्राप्त होती हैं। वह उसकी विभूति का इस प्राकृत जगत में हमें ज्ञान कराती हैं। (दृशे विश्वाय) विश्व को निज सत्ता का दर्शन कराने के हेतु (केतवः वहन्ति) सूर्य से उसकी किरणें ही तो विश्व में आती हैं। उसी प्रकार परमात्मा की विभूतियाँ अर्थात् वेदज्ञान, विद्युत, आकर्षण, ताप प्रकाश आदि इस संसार में उस ब्रह्म शक्ति का निर्देश करते हैं। परन्तु किरण मात्र द्वारा, जैसे सूर्य लोक में मनुष्य पहुँच नहीं पाता, वैसे ही उस परमात्म देव की सत्ता को प्राप्त करने के हेतु "उत उत्" निरन्तर परमात्म शक्ति के अनुभव करते रहने पर भी, हम उसके बराबर समीप पहुँचते रहने पर भी, पूर्णतः ब्रह्म में समाकर एक रूप "अहं ब्रह्मास्मि" होकर "मैं ब्रह्म हूँ" यह कहने में समर्थ नहीं हो पाते। हां, उस परमात्मा के ज्ञान रूप—प्रकाश

किरणों के दिव्यतम आलोक का, उच्चतम गगन (आकाश) मण्डल में अर्थात् योगस्थ निर्वीज समाधि में—विमलतम अनुभव सम्भव होता है। उपासक उन ही प्रखर परमात्म किरणों का अन्ततम अनुभव समाधि में करके, मानो कह रहा हो 'अहो, यह सूर्य रूप परम आत्मा का ही आलोक तो परमाणु परमाणु में दृश्यमान-भासित हो रहा है। उसका यह आलोक ही तो उसकी सत्ता की सूचना, इस प्रकट तथा अप्रकट विश्व के कोने २ से जीवों के उद्बोधन हेतु, डंके की चोट दे रहा है, कि जीवो, किंचित् इधर देखो—तुम्हारी सुख खोज की यही परा-काष्ठा है। इति ॥

मन्त्र १६

उपस्थान मन्त्र ३

ओ३म् चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष ँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा।

ओ३म्। चित्रं। देवानाम्। उत्। अगात्। अनीकं। चक्षुः। मित्रस्य। वरुणस्य। अग्नेः। आ। प्रा। द्यावा। पृथिवी। अन्त-रिक्षं। सूर्य। आत्मा। जगतः। तस्थुषः। च। स्वाहा।

शब्दार्थ तथा भावार्थः—

(ओ३म्) सब दुखों के नाश और काम क्रोध आदि शत्रुओं के दमन हेतु—उस ईश्वर के अद्भुत स्वरूप और बल का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—(देवानाम्) मन, बुद्धि, चित्त,

इन्द्रिय तथा पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारा, जल, अग्नि, वायु, विजली, आदि, दिव्य (प्रकाशमान्) पदार्थों की (चित्रं अनीकं) यह विचित्र सृष्टि (सेना) (उत् अगात्) उदय होकर हमारे प्रति समुपस्थित है। सृष्टि विज्ञान के प्रकरण में तथा अघमर्षण और मनसा परिक्रमा मन्त्रों में हमने (चक्षुः) सब देवों की प्रकाशक अन्तर्हित ब्रह्मशक्ति को "मित्र-वरुण और अग्नि के" आख्यान में अनुभवात्मक दृष्टि से देखा है। वही परमात्मा इन वरुण अग्नि आदि के रूप में द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष को (आप्रा) प्रकृष्ट रूप से निज शक्ति द्वारा सर्वथा व्याप्त किये हुए है और समस्त सृष्टि को रचता और धारण करता है। (सूर्य आत्मा जगतः तस्थुषः च) जैसा सूर्य के दृष्टान्त से पूर्व उपस्थान मन्त्रों में हमने देखा, वह ब्रह्मशक्ति ही, इस चर जगत और अचर वृक्ष पर्वत आदि की आत्मा वनी हुई है; अथवा जैसे जीव–आत्मा (शरीर में व्याप्त आत्म शक्ति द्वारा) इस शरीर को अपने तेज के अधिष्ठान में चलाता है, वैसे ही परमात्मा इस चराचर सृष्टि में व्यापक अधिष्ठाता और मूल प्रकाशक एवं तेज का स्रोत और आधार है। यह चराचर जगत उसी परम आत्मा का शरीर है। (स्वाहा) ‡ यह महिमा (उस सूर्य के समान) इस विश्व में परम आत्मा की है। एवं इस समस्त ब्रह्माँड का वही सूर्य है। इति ॥

---

‡ एष वै स्वाहाकारः य एष सूर्यः तपति। श० १४-१-३-२६।
स प्रजापतिः विदांचकार स्वः मा महिमा ह इति स स्वाहा। श० २-२-४-६।

मन्त्र १७

उपस्थान मन्त्र ४

ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत ँ् शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।

ओ३म् । तत् । चक्षुः । देव हितं । पुरस्तात् । शुक्रम् । उत् । चरत् । पश्येम । शरदः । शतम् । जीवेम । शरदः । शतं । शृणु-याम । शरदः । शतं । प्रब्रवाम । शरदः । शतम् । अदीनाः । स्याम । शरदः । शतम् । भूयः । च । शरदः । शतात् ।

ओ३म् के "अ" रूप का अर्थात् सृष्टि के आरम्भक, तथा व्याप्ति द्वारा धारक रूप का हमने साक्षात्, अघमर्षण और मनसा परिक्रमा मन्त्रों में किया । 'तथा 'उ' रूप का मध्यवर्ती अन्तर्हित दिव्य शक्तियों के रूप में साक्षात्, हमने ३ उपस्थान मन्त्रों में किया । अब नेत्रादि इन्द्रिय-जन्य सुख प्राप्ति के हेतु, 'म्' रूप—इन इन्द्रियों के देवत्व गुण, तथा भोग्य पदार्थों में अन्न रूपत्व की, एक मात्र (अपीति) अनन्त में व्याप्त-(मिति) आधार शक्ति का वर्णन करते हैं कि—'देवहितं तत् चक्षुः'—इन्द्रिय आदि द्वारा, जो जाग्रत स्वप्न आदि अवस्थाओं में भासमान विश्व का अनुभव हमें हो रहा है-उन इन्द्रियों की (चक्षु) प्रकाशक = प्राणमय ब्रह्मशक्ति है । (देव) विद्वानों ने

बुद्धि द्वारा प्रकृति में जो प्रत्यक्ष और विचार पूर्वक विवेचन किया है—तज्जनित ज्ञान का—आधार और विषय वह ब्रह्मशक्ति है। उस परम आत्म तत्व को ही विद्वान् अपना मार्ग दर्शक मानते हैं; तथा उसको ही तत्वरूप से स्वीकार कर, वे सृष्टि समस्या को तथा सृष्टि के लक्ष्य और उपादेयता को समझ पाते हैं। उस आत्मज्ञान बिना, यह प्रकृति शक्तियाँ मनुष्य मात्र का, मनुष्य द्वारा ही संहार करादें। उसे मार्ग दर्शक न मान कर, उसी नियामक के आधीन प्राकृत नियमों में बँधकर-विद्वानों के बनाये शस्त्रास्त्रों द्वारा नाशकारी महा युद्ध भी होते हैं। अतः वह ही विद्वानों का (चक्षु) मार्ग दर्शक तथा (देवहितं) हितकारी है।

'पुरस्तात् शुक्रम उत् चरत्'

उपस्थान मन्त्रों में हमने "उत्वयं-उत् उत् यं—उत् अगात् अनीकं" इन शब्दों द्वारा क्रमशः, प्रथम सृष्टि तल के पदार्थों का विवेचन कर (तमसः परस्तात्) अज्ञान को दूर कर, प्राण और निज जीवन शक्ति को जाना। तदुपरान्त उच्च २ गति करते करते महा प्राण स्वरूप, सूर्य के दृष्टान्त सहित-परमात्मा की दिव्य विभूतियों का—इन्द्रिय, मन, बुद्धि, तथा बिजली, अग्नि—प्रभृति दिव्य शक्तियों में, उसका प्रकाश देखा, और यह अनुभव किया कि उसी महा प्राणशक्ति का—सूक्ष्म रूप से इन दिव्य पदार्थों में—अनेक अनेक रूप में—तेज (उत् अगात् अनीकं) उदय होने से ही यह सब देव दिव्यता को प्राप्त होते हैं। उसी महा तेज शुक्र के (उत् चरत्) उदय होने से, बिजली आदि शक्तियें

उत्पन्न होती हैं। (पुरस्तात्) पहिले ही से वह (शुक्र) प्राणशक्ति वा तेज, इन इन्द्रियों वा पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि देवों में, (उत् चरत्) मानों ऊपर उठता हुआ सा, इनको प्रकट ज्योति (चक्षुः) प्रदान किये हुये है। (तत्) वह प्राणशक्ति ही, इन इन्द्रियों (देवों) को दिव्यता प्रदान करने हेतु, वीर्य में अवतरित हुई है, जिसे ऊर्ध्व रेता ब्रह्मचारी वश में करते हैं।

'पश्येम शरदः शतं······भूयश्च शरदः शतात् ।

इसी कल्याण तम बल ऐश्वर्य के आधार, (शुक्रम् उत् चरत्), प्राण शक्ति वा वीर्य बल को उदय कर–ब्रह्मचर्य वा ब्रह्मविवेचन द्वारा–इन्द्रियों के सुख को, हम सौ वर्ष अथवा पूरी आयु तक, अनुभव करें। इसी वीर्य बल वा सार रूप ब्रह्म शक्ति वा प्राण बल की सहायता से, अथवा (वशीकृत प्राण) प्राणायाम आदि क्रियात्मक और मानसिक योग क्षेम के प्रभाव से, हम, सुख पूर्वक सौ वर्ष पर्यन्त वा इस पूर्ण आयु भर, देखें, जीवें, सुनें, बोलें, सामर्थ्यवान् हों, और किसी के समक्ष दीन वा कातर भाव से हमें न जाना पड़े। तथाच, यह सब सुख प्राप्ति में साधक-बल वीर्य, तथा दिव्य दृष्टि, दिव्य जीवन, दिव्य श्रवण शक्ति, दिव्य वाणी, तथा मूलाधार प्राणशक्ति–हमको (भूयः च शरदः शतात्) इस जीवन काल में १०० वर्ष के उपरान्त भी अथवा इस पूर्ण आयु के उपरान्त अगले जीवन में भी, पुनः पुनः प्राप्त हों।

॥ इति उपस्थान मन्त्र ४। इति उपस्थान मन्त्राः ॥

———०———
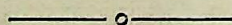
मन्त्र १८

अथ गायत्री मन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम् । भर्गोदेवस्य धीमहि । धियो योनः प्रचोदयात् ।

ओ३म् । भूः । भुवः । स्वः । तत् । सवितुः । वरेण्यम् । भर्गः । देवस्य । धीमहि । धियः । यः । नः । प्रचोदयात् ॥

ओ३म् के अ, उ, म् के अर्थ जो हमने प्रारम्भ में लिखे हैं उनका "भू, भुवः, स्वः", इन तीन व्याहृतियों के अर्थों सहित, सार रूप में हम यहाँ निर्वचन करते हैं। अ—जाग्रत (प्रत्यक्ष) अवस्था में, जगत की उत्पत्ति (आदिमत्व) तथा धारण परिपोषण (आप्ति) ही मानों प्राण स्वरूप परमात्मा (भूः) के कार्य हैं यह हमने अघमर्षण और मनसा परिक्रमा मन्त्रों में देखा। (भूः=प्राण)। भूः शब्द ही पृथ्वी सूर्य चन्द्र आदि रूप स्थूल जगत् का द्योतक, 'अ' के अर्थ को प्रकट करता है। यह सारा जगत् जिसमें विलीन होता है, जिससे उदय होता है वही 'उ' (उदय अस्त का स्थान) अन्तरिक्ष स्वरूप मध्यवर्त्ती अन्तः तल है। यही 'भुवः' अपान वायु रूप से चराचर जगत् की 'मृत्यु'—नश्वरता में ईश्वर का प्रजा पति होना सिद्ध करता है—वह यों कि अपान वायु जैसे नष्ट भ्रष्ट अन्न को पकाकर मल को बाहर फेंक कर, रक्त को शुद्ध कर पुनर्जीवन देता है, तदेवं मृत्यु ही जीव को वृद्ध रोग ग्रस्त शरीर से छुड़ा, नव प्राण (जीवन) देता है। अन्तरिक्ष 'भुवः' शुद्धि का स्थान है। जीव 'भुवः' अपान वायु द्वारा—मृत्यु के

बाद 'उ' (स्वप्न) विचार करता है कि अहो ! मैंने यह कर्म सुख के हेतु किये वे दुःखदायी बने, इन्हें त्यागूँ, आनन्द (स्वः) लोक की प्राप्ति के लिये यह यह कार्य कर्त्तव्य हैं। इस प्रकार वर्त्तमान कर्म 'भूः' तथा भविष्य जन्म (सुख की अभिलाषा से पूर्ण) 'स्वः'–इन दोनों का मध्यवर्ती 'उ' विचार लोक वा अन्तरिक्ष लोक है। यही पूर्व जन्म के अनुभव तथा भविष्य-निर्माण के बीच की 'उ' मध्यवर्ती अवस्था है। ब्रह्म की सूक्ष्म विभूति में से जगत् की उत्पत्ति और स्थित होना 'अ' वैश्वानर अवस्था है। उसमें उस जगत का नष्ट (प्रलय) होना यह मध्यवर्ती 'उ' तैजस अवस्था है। विलीन जगत के बचे जीवों के शेष कर्मों तथा वासनाओं के अनुकूल, जीवों के कल्याण (मुक्ति) हेतु, नव सृष्टि का निर्माण आवश्यक है। अतः नई सृष्टि के हेतु, सुषुप्ति अवस्था गत प्रकृति और जीव का ईश्वरोन्मुख होना ही 'म्' (स्वः—आनन्दलोक) है। पूर्व सृष्टि गत ज्ञान और कर्म का उदय नई सृष्टि में इसी कारण रूप ब्रह्म—परमात्मा के 'म्' स्वरूप से सम्भव होता है। तथा च इसी कारण ब्रह्म में यह जगत, समुद्र में जल बिन्दु के समान, समाया हुआ (म् = मिति) है।

इस प्रकार ओ३म् के 'अ, उ, म्,' तीन अक्षर हैं इधर भूः भूवः और स्वः तीन व्याहृतियाँ हैं। भूः भुवः स्वः का अर्थ प्राण अपान व्यान के भाव में भी लिया जाता है। 'भूः' पृथ्वी आदि कर्म लोक हैं; 'भुवः' अन्तरिक्ष है जो स्थूल संसार के विलीन होने का स्थान, अथवा सूक्ष्म शक्तियों और अनुभवों का

संघर्ष लोक है, जहां मृत्यु के बाद जीव रहता है; और 'स्वः' सूर्य लोक, विचार लाक, प्रकाश व गति का कारण है—अथवा अनुभव जन्य, नव जीवन सम्बन्धी, सुख हेतु जीव की आयोजना है। इस प्रकार परमात्मा की 'अ' सृष्टिकर्त्ता, धारक, परिपोषक, वैश्वानर अवस्था से—'भूः' पृथ्वी व कर्मलोक का सम्बन्ध है। उ-उसकी तैजस अवस्था तथा सूक्ष्मशक्ति से—'भुवः' मलों का क्षय, तथा नव जीवन का उदय सम्बन्धी क्रियात्मक रूप–स्थूल प्रकृति को और शरीर धारी जीव को मिलता है। म् उसकी आनन्द मय अवस्था है। नव जीवन सम्बन्धी, पूर्व, ब्रह्म विषयक अनुभूत आनन्द के हेतु, सृष्टि में, सुख की जीव की अभिलाषा 'स्वः' है, जिसे यह प्रकृति में खोजता है। अथवा सृष्टि में (स्वः) सूर्य के समान, कारण प्रकृति में क्रिया का आधान करने वाला वह ब्रह्म, निज वीर्य (प्राण) से सेचन कर इस प्रकृति को जीव की मुक्ति हेतु प्रयुक्त करता है।

यह परमात्मा की तीन अवस्थाओं की हमने उपासना की। अहो वह यह तीनों अवस्थायें तो, उसकी शक्ति के रूप में ही हमें दृष्टिगोचर हुई हैं–जो शक्ति कि जीव और प्रकृति में भासमान व प्रति-बिम्बित हैं। वह स्वयं तो इन से भी परे, इन तीनों निज स्वरूपों से भी महत्तम है। वह स्वयं अपनी दैवी विभूतियों से ही जगत की सृष्टि, स्थिति, प्रलय, करता हुआ इनसे परे—महानतम है। उसका हम बुद्धि से कैसे वर्णन करें; क्योंकि परमाणुओं से बनी बुद्धि है, वह परम देव प्रकृति से भी सूक्ष्म है। जीव का

अन्तःकरण, जिसके प्रकाश प्रवाह से, प्रकृति को देखता है वह जीव अल्पज्ञ है तो वह परमात्मा ज्ञान से भी परे है। सृष्टि से पृथक् परमात्म तत्व 'म्' का 'हल् अन्त' 'नेति' रूप है वह नेति ब्रह्म, प्रकृति-जीव को सामर्थ्य देता हुआ भी अघमर्षण मन्त्रों से गायत्री मन्त्रों तक, हमें, न जीव से लिप्त न प्रकृति से लिप्त दिखाई दिया। जैसे 'विद्युत् कण' अपने जैसे तथा अपने से विरुद्ध रूपा दोनों विद्युत् परिणामों को, समीपवर्त्ती पदार्थों के निकटवर्त्ती तथा दूरतम प्रदेशों में, अभिव्यक्त करता हुआ, स्वयं न तो विद्युत् भार में कम होता न बढ़ता है—जिस प्रकार चुम्बक का 'उत्तरी वा दक्षिणी' कोई भी ध्रुवांश, समीपवर्ती लोह के निकटवर्ती तथा दूरतम प्रदेशों में, उभय रूपा अर्थात् विरुद्ध रूपा-दो प्रकार के परस्पर आकर्षक-नवीन ध्रुवांशों को प्रकट करता हुआ भी, निज चुम्बकत्व को न कम होने देता न अधिक होने देता है, इसी प्रकार वह '्'—म् का 'हल् अन्त'—अनिर्वचनीय, अव्यवहार्य परमात्मा-प्रकृति के त्रसरेणुओं में विरुद्ध रूपा-संयोग विभाग गुण, तथा च जीवों में ज्ञान (निज सम्बन्धी) तथा अज्ञान-प्रकृति उन्मुख अवस्था में, तथा च सुख की आकांक्षा भी उदय करता हुआ, जीव और प्रकृति से वह महान् अतीत् है। स्वयं अव्यवहार्य, वह प्रकृति के व्यवहारों का उत्पादक-स्वयं अनिर्वचनीय वह स्थूल जगत का निर्माता, और कर्त्ता होते हुए भी वह अकर्त्ता है—यह उस परमात्मा का चौथा ('म्' का '्' हलन्त) पाद है-अव्यवहार्य होने से उसे हम गायत्री मन्त्र में

पठित 'तन्' नपुंसक लिङ्ग शब्द से ही केवल कह सकते हैं।

अहो इधर यह जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति में अनुभूत, परमात्म विभूति मात्र ही तो हमने देखी। यह चमकदार जगत् में—सूक्ष्म जगत् और कारण जगत् में, ब्रह्म की अनुभूति 'हिरण्यमय' है यही चमकीला शक्तिरूप ही तो हमने देखा। पर यह तो उस परमात्मा करके जनित—उसकी विभूतियाँ हैं। यह विभूतियाँ अनन्त सही, परन्तु यह विभूतियाँ वह परमात्मा स्वयं तो नहीं। हमने गुह्य तल में टटोला। हम सुषुप्ति के अन्तःतल में तुर्यावस्था के द्वार पर खड़े—इधर 'अउम्' रूप तुझ अपरिमेय के अनन्त ऐश्वर्य को देख, दिव्य आनन्दों में हिलोरें लेते रहे। पर यह दिव्य आनन्द कौन दे रहा है? किससे यह आनन्द की किरणें प्रखर रही हैं? कौन वह सूर्य है जिस पर हमारी बुद्धि की तो कौन कहे हमारी दिव्य आत्मचक्षु भी नहीं टिकती? तू जो कोई भी हो—तेरा अतुल वैभव, हमने 'अ उ म्' में (उप) समीप (आसना) बैठकर, देखा है। इस तेरे वैभव ने ही जब हमें चौंधिया दिया तो तुझे हम कहां पावें। (सवितुः) सूर्य की किरण—सूर्य नहीं बन सकती। तेरी विभूति तो, केवल मुझ जीव और इस प्रकृति में, अनन्त सौन्दर्य, यौवन, और ऐश्वर्य का निर्माण कर गई। प्रत्येक मन्त्र (तेरे दिये वेद ज्ञान का) मुझे प्रत्यक्ष, तेरी हिरण्य-रूप गुण-मालाओं में मुग्ध कर चुका है। मैं तेरे द्वार (म्) पर तुझे नहीं पाता। इधर (म्) तुझे ही रोमांचकारी, हर्ष-आल्हाद-दाता मैंने जाना था पर इधर तू नहीं—इधर तो तेरी

इंगित विभूतियां भर हैं। वे अनन्त हैं तो क्या—मैं तो तुझे ही प्राप्त करूँ। इधर मुझे कोई भी (वरेण्यम्) वरणीय, लेने योग्य देव नहीं दीखता। क्योंकि यह सब तो हिरण्यमय पात्र हैं—इनकी अन्तः तल में तू मुझ से आँख मिचौनी खेलता है। मुझे पात्र की चमक से चौंधिया कर, विरह ज्वाला में बार बार भ्रमित कर, थका रहा है। नहीं दीखता नहीं सही। मैं तो, इस तेरे हिरण्यमय रूप की खोज में तपता रहूँ। ओहो जाना था कि तेरी अग्नि मुझे तपा देगी। कहाँ हिरण्यमय ज्वाला (तपरूप), कहाँ यह अपार आनन्द ! इधर थाह नहीं। उधर पार नहीं। शुभे ब्रह्मणस्पते ! तेरा यह तत्-नपुंसक रूप एक ओर-तेरा तेज मुझ विरहिणी के लिये पुरूषरूप इस जीवन में दूसरी ओर। अहा यह आनन्द का स्रोत। (सवितुः❀-वरेण्यम) सचमुच ही मेरे वरणीय, हे अत्यन्त तेजस्वी मेरे प्रियतम आओ—इधर निज संसार को त्यागकर, उधर तेरे तेज को मैं कैसे सहन करूँ। पर तेरा कल्याण रूप है, यह जीवन की माला है। मैं स्वयं माला बन कर तुम्हें प्राप्त होऊँ। तत्-वह तू-(सवितुः) मेरा ज्ञान प्रद, ऐश्वर्य का प्रदाता (वरेण्यम्) मेरा वरणीय-मेरा स्वामी है। मैं तेरे पास आया-गया-तुझ में विलीन हुआ। मुझे लेना-मैं आत्मविस्मृत हो केवल तुझको ही देखता हूँ।

❀ सविता-सृष्टि उदय काल से पूर्व; आदित्य रूप ब्रह्म।

(नि० दै० १२-१-१२-७)

अहो ! मैं वहां से–पतिलोक से–आया हूँ। (सवितुः×) मेरे चिर पति–चिर मित्र–गुरु–त्राता–भर्त्ता–सृष्टि के उत्पादक, नियामक देव (देवस्य) का ही तो यह सारा ऐश्वर्य है। आओ सखे ! हमारे प्रियतम का ही तो यह आलोक है। उसी का संदेश तो यह हिरण्यमय जगत् लाया है। हम पतिलोक से आये हैं–पति के राज्य में, उसकी सत्ता मात्र–अधिष्ठातृत्व से ही उसके 'भर्गः' विशाल विभूतियों के साम्राज्य में ही तो हम आये हैं। उसी का, आओ सखे दिग्दर्शन करें (धीमहि)। पतिगुण गान ही हमें भावें। जहाँ जहाँ हम देखें–(नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को, वह प्रियतम,‡ निज कल्याण तम–सन्देश तथा प्रिय आह्वान की गूंज से, अपनी ओर ही (प्रचोदयात्) प्रेरित करता रहे।

अहो ! मैं भ्रमित हुआ। किंकर्तव्य विमूढ़ हुआ हूँ। क्यों ? क्या मेरी (बुद्धि) दृष्टि थक तो नहीं गई। प्रकृति ने मुझे क्या २ खेल खिलाये–प्रियदर्शन के धोके मुझे निज जड़ता की टक्करें दीं। नहीं २ मैं इस प्रकृति से नहीं विवाहित होना चाहता। मेरा वरणीय (वरेण्यम्) तो वह (कौन ? इधर सृष्टि में नहीं) जिस ओर मेरी दृष्टि है उस ओर अन्तः पुर में–अन्तः पुर के इस द्वार नहीं–उस द्वार पर, मेरा सविता, पिता, माता, धाता, देव, वह जो 'तत्' नाम से अनिर्वचनीय अव्यवहार्य–अव्य-

× नि० दै० १०-३-३२-१०।

‡ सविता–बुद्धि (वेदज्ञान) तथा कल्याण प्रदाता
(नि० दै० १२-२-१३-७)

पदेश्य है—आओ वह देव हमारा इष्ट है। हम उसके भक्त, यह जीवन माला उसकी है। हमें सुख हेतु उसी ने दी। उसकी माला उसी को दें। इसी (देवस्य) इष्ट के (भर्गः) ऐश्वर्य को हम 'धीमहि' ध्यान करें। वह (यः) जो (नः धियः) हमारी नाना विषय वती बुद्धि को (हिरण्यमय पात्रों से हटाकर) (प्रचोदयात्) प्रेरित करे—कहाँ? हिरण्यमय पात्र में छिपे (सत्य) † निज शान्त शिव—अद्वैत (तत्) स्वरूप की ओर! इति ॥

इति गायत्री उपासना ॥

मन्त्र १९

अथ नमस्कार मन्त्र

ओ३म् नमः शम्भवायच मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।

अहा! आज की सन्ध्या अति मनोरम है—देखो न वह (शम्भू) हमारा मन केवल 'शम्' सुख, शांति की खोज में था—'शम्' सुख की आकाँक्षा हममें सन्ध्या के प्रारम्भ में 'भूः' उदय हुई थी। प्रकृति की दिव्य शक्तियें स्वयं मानों हमें सुख मय (मयोभव) दीखती थीं। जब हमने प्रकृति में अघमर्षण आदि मन्त्रों में खोजा तो हमारे मानसिक दुःखों का नाश हुआ। उसी आत्मसार—सृष्टि कर्त्ता परमात्मा को खोजते २, उसी 'शं कर' ने हमारे हेतु, इस

---

† हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहितं (आवृतं) मुखम्। तत् त्वम् पूषन् (सविता) अपावृणु, सत्य धर्माय दृष्टये। यजु० अ० ४०।

(देवी) दिव्य प्रकृति रूपिणी अपनी महत्ता को हमारी अभीष्ट कामनाओं का पूरक (शं) सुख शांति का (कर) दाता बनाया। वही तो 'मयस्कर'—इस सृष्टि को अपनी विभूति से व्याप्त करके 'मयः' सुख मय—'कर, बनाने वाला है जैसा हमने मनसा परिक्रमा मन्त्र में देखा। प्रकृति तल से अन्तरोन्मुख—उपस्थान मन्त्रों में (उत्तर) ऊर्ध्व गति करते हुए हमने निज आत्म—तत्व 'शिव' का दर्शन पाया। अहो! यह हम (आत्मरूप—शिव) तो स्वयं कल्याण के भूरि २ कोष! भला—सुख की खोज में कहां २ भटकते फिरे। अब आत्मतत्व 'शिव' का ही केवल नहीं—हमने तो निज जीव में व्याप्त सूक्ष्मतर 'शिवतर' परम आत्म तत्व की विभूतियों का भी चलो पर्यटन किया है। अहो हमने (शम्भूः) मन की महत्ता को आज माना—मन तुझे नमस्कार हो। अहो अग्नि—विद्युत् आदि दिव्य शक्तियो, तुम (मयोभव) सुखमय प्रतीत हुई—तुम भी अति आकर्षक हो, तुम्हें नमस्कार। अहो 'अ' रूप ब्रह्म, तुमने तो इस विश्व को—व्यापक, धारक, और परिपोषक बन, (शं) सुखमय (कर) बना दिया—'अ' रूप हे वैश्वानर—विश्व के नयन्ता, तुम्हें नमस्कार। अहो यह विनश्वर जगत—इसे बारम्बार आप नव जीवन देकर (मयस्कर) सुखमय बनाते हो। अतः आप उ रूप अन्तर्यामी परमात्मा को नमस्कार। म् रूप कल्याण स्वरूप हे 'शिव' जीव तेरी महत्ता को हमने जाना क्यों कि तू भी 'म्' प्रकृति से पृथक्—केवल कल्याण स्वरूप—तेरा आत्म गुण (अनुनासिक है) बुद्धि वाणी से परे है। परन्तु 'म्' में जो

हल् अन्त तम 'शिवतर' अधिक तर कल्याण का स्रोत, अन्ततम, अनिर्वचनीय, हल्कार '्' चिह्न स्वरूप है, वहाँ उस 'तत्' द्वार तक भी तो हम हो आये। ओहो वह तो मुझ शिव के अन्तः तल (शिव-तर) ही था—कल्याण को मैंने जगत् में खोजा–पाया अपनी बग़ल में। उस अद्वैत 'शिवतर' ब्रह्म को नमस्कार।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ओ३म् (अहो) यह तेरा नाम 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' मेरे अधिभूत, अधिदैव, अधिआत्म सारे ही क्लेशों को तो शान्त करने वाला सिद्ध हुआ। इसी की खोज में, सुख की कामना हेतु—सुख वर्षा हेतु (अभिस्रवन्तु नः), मैंने (शम् नः देवीः अभिष्टय आपः भवन्तु पीतये) कह कर सन्ध्या प्रारम्भ की थी। स्थूल पदार्थों में सुख को खोजते २, सन्ध्या के पूर्व ही, यह तो हम निश्चय कर ही चुके थे कि वे पदार्थ सुख दायक नहीं वे तो नश्वर हैं। अतः वायु आदि के दृष्टान्त से अमरत्व—अमर सुख की धारणा पूर्वक 'आपः' बहने वाली दिव्यशक्तियों को जो शरीर में थीं, उन्हें हमने आह्वान किया था। आचमन, मार्जन, प्राणायाम द्वारा चित्त एकाग्र कर, तथा 'अघ' दुखदायी विकारों को अघमर्षण मन्त्रों से दूर कर, किंचित् इस सृष्टि में चारों ओर मनसा परिक्रमा द्वारा विवेचन कर–संचित प्राण द्वारा ऊर्ध्व रेता बने हुए–ऊर्ध्व गति करते २ (उपस्थान मन्त्रों में) परमात्म तथा आत्म विभूतियों का दर्शन किया। आनन्द सागर में ग़ोते लगाते प्रेम का आस्वादन किया। सभी तत्वों की महत्ता को

देख, अन्ततः 'ओ३म्' द्वारा-शान्ति का, इस सन्ध्या (परमात्म-संयोग) काल में, दिव्य आस्वादन किया।

अस्तु-चलो सन्ध्या समाप्त हुई। अब—कुछ (यज्ञ) दिन-चर्य्या में, परोपकार-वृत्ति में, इस शरीर को निज स्वामी की राह में लगने दें। उसकी राह में कुछ मनोहर आत्म विस्मृति तथा निष्काम भाव से, कर्त्तव्य कर्म का पालन करें कि सत्य सुख का विस्तार हो। इति॥

इति सन्ध्या रहस्य॥

———:०·———

अन्य पुस्तकें जो शीघ्र प्रकाशित होनी हैं:—

१. वेदों में विज्ञान (ऋ० के ५ वें सूक्त का अनुवाद)
२. "मित्रावरुणौ, अश्विनौ, और इन्द्रस्य हरी" से सम्बन्धित लगभग १०० मन्त्रों का वैज्ञानिक विश्लेषण ।
३. साँख्य दर्शन—वैज्ञानिक समन्वयात्मक भाष्य ।
४. वैशेषिक दर्शन ,, ,,
५. न्याय दर्शन ,, ,,